

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU 180081

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 84/R 14P Accession No. J. H. 1702

Author शंभुलाल सांकृत्यायन ।

Title पुरातत्त्व - निबंधावली । १।

This book should be returned on or before the date
last marked below.

पुरातत्त्व-निबन्धावली

लेखक

राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशक

इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग

निवेदन

पुरातत्त्व-निबन्धावली पाठकोंके सम्मुख उपस्थित की जा रही है। ये निबन्ध भिन्न भिन्न समयपर भिन्न भिन्न पत्रोंमें निकले थे। कई जगहों-पर फिरसे लिखनेकी आवश्यकता थी, लेकिन वैसा करनेके लिए पुस्तकके प्रकाशनको एक अनिश्चित कालके लिये रोक रखना पळता जो कि मेरे कई दोस्तोंको पसन्द नहीं होता। जल्दी जल्दी में जितना हो सका है, प्रूफ़को मैंने एक बार देख लिया है। पुरातत्त्वके अध्ययनके लिये मानवविकास का ज्ञान आवश्यक है। मैंने इस सम्बन्धमें “साम्यवाद ही क्यों” की भूमिकामें लिख दिया है, इसलिये उसे यहाँ नहीं दुहराया गया। परिशिष्ट (१)के लिये मैं रायबहादुर बा० दुर्गाप्रसाद B. A. (बनारस)का विशेष आभारी हूँ। त्रुटियोंके लिये क्षमाप्रार्थी—

पटना
३०-३-३७ }

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—पुरातत्त्व	१
२—काल-निर्णयमें इँटे ^० और गहराई	७
३—बसाढकी खुदाई	१२
४—श्रावस्ती	२१
५—जेतवन	५०
६—ज्ञातृ=जथरिया	१०७
७—थारू	११५
८—महायान बौद्ध-धर्मकी उत्पत्ति	१२१
९—वज्रयान और चौरासी सिद्ध	१३५
१०—हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ	१६०
११—बौद्ध नैयायिक	२०५
१२—मागधी हिन्दीका विकास	२१९
१३—हिन्दी-स्थानीय भाषाओंके बृहत् संग्रहकी आवश्यकता	२३३
१४—तिब्बतमें भारतीय साहित्य और कला	२४६
१५—सारन (बिहार)	२५३
१६—सहोर और विक्रमशिला	२६९
१७—भारतीय जीवनमें बुद्धिवाद	२७५
१८—तिब्बतमें चित्रकला	२८३
परिशिष्ट १ (पुरालिपि)	३०३
" २ नामानुक्रमणी	३०७

चित्र-सूची

	पृष्ठ
१—भारत (मध्यमंडल) [मानचित्र]	२०
२—श्रावस्ती (")	२२
३—जेतवन (")	५०
४-८४—चौरासी सिद्ध	१४४ क-५
८५-८८—चित्रांकन	२९०
८९—पुरालिपि	२०५

पुरातत्त्व-निबन्धावली

भूमिका

(१)

पुरातत्त्व

१—पुरातत्त्वका महत्त्व

हिन्दीमें पुरातत्त्व-साहित्यकी बड़ी आवश्यकता है। भारतके सच्चे इतिहासके निर्माणमें “पुरातत्त्व” की सामग्री अत्यन्त उपयोगी है, और, खुदाई आदिके द्वारा अभीतक जो कुछ किया गया है, वह दालमें नमकके बराबर है। और जब हम यूरोपके सभ्य देशोंके कार्यसे तुलना करते हैं, तब उसे बहुत अल्प पाते हैं। काशीकी नागरी-प्रचारिणी-सभाने हिन्दीकी खोजकी रिपोर्टें तथा ‘प्राचीन मुद्रा’ छापकर; और, उसकी पत्रिकाके योग्य सम्पादक श्रद्धेय ओझाजीने भी हिन्दीमें इस ओर बहुत कार्य किया है। ओझाजी हिन्दीमें इस विषयके युगप्रवर्तक होनेसे चिरस्मरणीय रहेंगे।

इतिहासकी सबसे ठोस सामग्री ही पुरातत्त्व-सामग्री है; और, उस सामग्रीसे भारतकी कोई जगह शून्य नहीं है। गाँवोंके पुराने डीहोंपर फेंके मिट्टीके बर्तनोंके चित्र-विचित्र टुकड़े भी हमें इतिहासकी कभी-कभी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातें बतलाते हैं; लेकिन उन्हें समझने के लिये हमारे पास वैसे श्रोत्र और नेत्र होने चाहियें।

२—सर्वसाधारणके जानने योग्य कुछ बातें

वैसे तो बहुतसी बातें हैं, जिन्हें एक पुरातत्त्व-प्रेमी और पुरातत्त्व-गवेषकको जानना चाहिये; किन्तु यहाँ कुछ ऐसी बातें गिना दी जाती हैं, जिनको साधारण पाठक भी यदि ध्यानमें रखें, और अपने आसपासकी सामग्रियोंके रक्षण और परीक्षणका ख्याल करें, तो बहुत फायदा हो सकता है—

(१) शिला, ताम्रखण्ड और भग्न मूर्तियों तथा दूसरी चीजोंपरके लेखोंको जहाँ कहीं भी देखें, उन्हें प्राचीन लिपियोसे यदि मिलावें, तो उससे कालका ज्ञान हो सकता है। यह ख्याल रखें कि, पुरातत्त्वविद् न सर्वज्ञ है और न वह भारतमें सब जगह पहुँच ही सके हैं, इसलिये आपके गाँवके डीह या महादेव-स्थानपर ढेर की हुई खण्डित मूर्तियोंके टुकड़ोंमें भी कभी कोई हीरा निकल आ सकता है।

(२) अपने आसपासकी पहाड़ियोंके पत्थरोंसे भिन्न यदि किसी दूसरे रंगके पत्थरकी मूर्ति मिले, तो वह कभी-कभी और भी महत्वपूर्ण सूचना देनेवाली हो सकती है। मूर्तियोंमें अक्सर आसन (पीठिका)के नीचे या प्रभामण्डल (सिरके चारों ओरके घेरे) या पीठपर लेख खुदे होते हैं।

(३) ईंटोंकी लम्बाईपर अलग लेख है। जितनी ही असाधारण लम्बाईकी ईंटें मिलें, उतनी ही उन्हें उस स्थानकी प्राचीनताको बतलानेवाली समझना चाहिये। भर सक अखण्ड ईंट खोज निकालने और उसका नाप लेनेकी कोशिश करनी चाहिये। बहुत छोटी ईंटें (लाहोरी या लाखोरी) मुसलमानी कालकी होती हैं। विचित्र आकार-प्रकारके खपड़े, कुएँ बाँधनेकी चन्द्राकार पट्टियाँ आदि भी कभी-कभी बहुत उपयोगिनी होती हैं।

(४) मकानकी नींव, कुआँ या तालाब खोदनेमें यदि कोई चीज मिले, तो उसकी गहराईको नापकर चीजके साथ नोट कर लीजिये। यह गहराई काल प्रमाणकी एक बहुत ही उपयोगिनी कड़ी है। इसी तरह जो चीज जिस गाँवके जिस स्थानपर मिले, उसे भी नोट कर लेना चाहिये। स्मरण रहे,

“स्थानहीना न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः” की उक्ति इसपर भी घटती है।

(५) कहीं-कहीं गाँवोंमें पीपलके नीचे या किसी टूटे-फूटे देवस्थानमें पत्थरके लम्बे चिकने टुकड़े मिलते हैं। उनमें कभी-कभी दस-चारह हजार वर्ष पूर्वके, हमारे पूर्वजोंके, हथियार भी सम्मिलित रहते हैं। यदि वह संगखारे या चकमक जैसे कड़े पत्थरके तथा नोकीले और तेज धार वाले हों, तो निश्चय ही समझिये कि, वे वही अस्त्र हैं, जिनसे हमारे पूर्वज शिकार आदि किया करते थे।

(६) कुएँ आदि खोदनेमें धरतीके बहुत नीचे कभी-कभी मनुष्यकी खोपड़ियाँ या हड्डियाँ मिल जाती हैं। हो सकता है कि वह कई हजार वर्षोंकी पुरानी, किसी लुप्त जातिके मनुष्यकी, हों। इसलिये उसकी छान-बीन करनी चाहिये और यदि आकृति असाधारण तथा हड्डियाँ बहुत पुरानी या पथराई जैसी मालूम होती हों, तो उनकी रक्षा करनी चाहिये या किसी विशेषज्ञसे दिखाना चाहिये। बहुत नीचे मिले मिट्टीके बर्तनोंके बारेमें भी यही समझना चाहिये। ताँबे या पीतलकी तलवार या छुरा, यदि कहीं मिल जाय, तो उसे धातुके भाव बेच न डालना चाहिये। हो सकता है, वह ५-६ हजार वर्षोंकी पुरानी चीज हो; और, कोई संग्रहालय उसे धातुके कई गुने दामपर खरीद ले।

(७) पुराणस्थान—(क) मिट्टीसे भठे तथा दब गये भीटोंवाले जहाँ तालाब हों, (ख) जहाँ आसपास पुराने देवस्थानों या पीपलके वृक्षोंके नीचे टूटी-फूटी मूर्तियाँ अधिक मिलती हों, (ग) जहाँ खेत जोतते या मिट्टी खोदते वक्त पुराने कुएँ या ईंटोंकी दीवारें आदि निकल आती हों, (घ) जहाँ बरसातमें मिट्टीके घुल जाने पर ताँबे आदिके पैसे तथा दूसरी चीजें मिलती हों (चौकोर और मूर्तिवाले सिक्के अधिक पुराने होते हैं; और, पानेवालेको, उनका, कई गुना अधिक दाम मिल सकता है); ऐसे स्थान पुरातत्वके लिये अधिक उपयोगी होते हैं। गढ़ या ऊँची जगहसे भी प्राचीनता मालूम होती है; किन्तु हजार वर्ष पूर्वसे जहाँ

बस्ती फिर नहीं बसी, वहाँकी ज़मीन बहुत ऊँची नहीं हो पाती।

(८) गाँवमें, साधारण लोगोंमें, यह भ्रम फैला हुआ है कि, सरकार जहाँ-कहीं खुदाई करती है, वह किसी खजानेके लिये। उन्हें समझना चाहिये कि, पुरातत्त्वकी खुदाईमें सरकारने जितना खर्च किया है, यदि खुदाईमें निकले हुए सोने-चाँदीके दामसे मुकाबिला किया जाय, तो उसका शतांश भी न होगा। फिर भी सोने-चाँदी या कीमती पत्थरकी जो कोई चीज़ मिलती है, उसे न गलाया जाता है, न बँचा जाता है। वह तो भिन्न भिन्न संग्रहालयोंमें, इतिहासके विद्वानों और प्रेमियोंके देखने और जानने के लिये, रख दी जाती है। यदि गाँवमें इस तरहके सिक्के आदि किसीको मिलें, तो उसे वह गला कर या तोड़-फोड़ करके खराब न कर दे। सम्भव है कि, उससे उसकी अपनी जातिका कोई सुन्दर इतिहास मालूम किया जा सके। बहुतसे भूले वंशोंके परिचय और गौरव स्थापन करनेमें इन चीज़ों ने बहुत सहायता की है। सम्भव है, ऐसी चीज़को गलाने या तोड़नेवाला अपने पूर्व पुरुषोंकी कीर्ति और इतिहासको अपनी इस क्रिया द्वारा गला और तोड़ रहा हो !

३—पुरातत्त्व और पाश्चात्य विद्वान्

पुरातत्त्वके विषयमें पाश्चात्य विद्वान् कितने उत्सुक हैं, इसका एक उदाहरण लीजिये। कोई बीस महीने हुए, काश्मीर-राज्यके गिलगित स्थानमें, १२-१३ सौ वर्ष पुराने अक्षरोंमें, भोजपत्रपर लिखे, बहुतसे संस्कृत-ग्रन्थोंका एक ढेर मिल गया। भारतके कितने ही विद्वान् तो उसके महत्त्वको उतना नहीं समझे; किन्तु उसके बारेमें सचित्र सुन्दर विवरण फ्रांसके आचार्य सिल्वेन् लेवीने प्रकाशित कराया है। उनके पास कुछ पत्रे पहुँच गये थे, जिनके पाठको, उन्होंने, उसमें, छापा भी है। वह और उनके सहकारी डा० फुशे आदि उन हस्तलिखित ग्रन्थोंके बारेमें इतने उत्सुक हुए कि, उन्होंने कई बार काश्मीर-राज्यके अधिकारियोंके पास पत्र

भी भेजे। वे व्यग्र रहे कि, कहीं असावधानीसे वह सामग्री नष्ट या लुप्त न हो जाय ! जब मैं १९३२ ई० के नवम्बरमें पेरिसमें था, तब उन्हें काश्मीरसे पत्र मिला था, जिसमें लिखा था कि, हस्तलेखोंका निरूपण (*decipher*) किया जा रहा है ! कहाँ वह आशा रखते थे कि, इन अठारह महीनोंमें उन पुस्तकोंके नाम आदिके विषयमें कोई विस्तृत विवरण मिलेगा और कहाँ पत्र जा रहा है कि, गुप्त-लिपिमें लिखे ग्रन्थोंका निरूपण किया जा रहा है ! यदि ग्रन्थोंका प्रकाशन या विवरण तैयार न करके अठारह महीने सिर्फ निरूपणमें ही लग जाते हैं, तो कब उन्हें विद्वानों के सामने आने का मौका मिलेगा ! आचार्य लेवीने कहा था कि, पूरे अठारह महीने हो गये, ऐसा अद्भुत ग्रन्थ-समुदाय भारतमें मिला है, जिसे लोग केवल चीनी और तिब्बती अनुवादोंसे ही जान सकते थे; परन्तु उसके बारेमें भारतमें इस तरहका आलस्य है, यह भारतके लिये लज्जाकी बात है !

भारतीय पुरातत्त्वके साहित्यके बारेमें यदि आप पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसे आप हालैंड-निवासी डा० फोगल और उनके सहयोगियोंके परिश्रमसे निकलनेवाली वार्षिक पुस्तक "*The Annual Bibliography of Indian Archaeology*" से जान सकते हैं।

• ४—पुरातत्त्वोत्खननके लिये एक सेवक-दलकी आवश्यकता

पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज और खननका सारा भार हम सरकारपर ही नहीं छोड़ सकते। सभी सभ्य देशोंमें ग़ैर सरकारी लोगोंने इस विषयमें बहुत काम किया है। अर्थ-कृच्छ्रताके कारण गवर्नमेंटने पुरातत्त्वविभागके खर्चको बहुतही कम कर दिया है। भारत सरकारके शिक्षा-सदस्यके भाषणसे यह भी मालूम हुआ है कि, सरकार विदेशी विश्वविद्यालयों तथा दूसरी विश्वसनीय संस्थाओंको भारतमें पुरातत्त्वसम्बन्धी उत्खननके लिये अनुमति दे देगी। ऐसा करनेसे निश्चय ही भारतके इतिहासकी बहुतसी बहुमूल्य सामग्री को—जो आगे खुदाईमें निकलेगी—वह संस्थाएँ

भारतसे बाहर ले जायेंगी। यद्यपि संस्थाओंके प्रामाणिक होनेपर, सामग्रियोंका भारतसे बाहर जाना—जहाँतक विज्ञानका सम्बन्ध है—हानिकर नहीं है; किन्तु यह भारतीयोंके लिये शोभा नहीं देता। साथ ही यह भी तो उचित नहीं कि हम चीजोंके बाहर चले जानेके डरसे न दूसरोंको खोदने दें और न आपही इस विषयमें कुछ करें। अस्तु। धनियोंको चाहिये कि, पर्याप्त धन देकर किसी विश्वविद्यालय संग्रहालय द्वारा खुदाई करावें। हिन्दी-भाषा-भाषी राजाओं, जमीदारों और धनाढ्योंके विषयमें यह आम तौरसे शिकायत है कि, वह विज्ञान, कला तथा दूसरे संस्कृति-सम्बन्धी कामोंसे उपेक्षा करते हैं। सचमुच यदि वह यह भी नहीं कर सकते, तो उनका अस्तित्व बिल्कुल निरर्थक है। वस्तुतः इस श्रेणीका भविष्य बहुत कुछ इस प्रकारके कामों द्वारा जनताकी सहानुभूति प्राप्त करने ही पर निर्भर है।

हमारा देश गरीब है। बहुतसे आदमी होंगे, जो पुरातत्त्वके सम्बन्धमें कुछ कार्य करना चाहते हैं; किन्तु उनके पास धन नहीं, जिससे वह सहायता करें। ऐसे समझदार पुरातत्त्व-प्रेमी भी एक प्रकारसे उत्खननमें सहायता कर सकते हैं। आवश्यकता है, प्रत्येक प्रान्तमें ऐसे उत्साही लोगोंका एक पुरातत्त्व-सेवा-दल कायम करनेकी। दलमें कालेजोंके छात्र और प्रोफेसर तथा इस विषयमें उत्साह रखनेवाले दूसरे शिक्षित सज्जन सम्मिलित हों। सेवादलके सदस्य सालमें कुछ सप्ताह या मास जानकार नेताओंके नेतृत्वमें अपने हाथों खननका काम करें। निकली चीजोंको प्रान्तके संग्रहालय या अन्य किसी सार्वजनिक सुरक्षित स्थानमें रखा जाय। कैम्पका जीवन बिताते हुए अपने पाससे खर्च कर काम करनेवाले लोग आसानीसे मिल सकेंगे। वस्तुओंकी सुरक्षा और नेताके अभिज्ञ होनेका विश्वास हो जाय, तो सरकार भी इस काममें बाधक नहीं होगी और जहाँतक होगा, उसमें वह सहूलियत पैदा करेगी।

(२)

काल-निर्णयमें ईटें और गहराई

इतिहासका विषय भूत-काल है; इसलिये उसे हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। किन्तु जिस प्रकार वर्तमान वस्तुओंके लिये प्रत्यक्ष बहुत ही जबर्दस्त प्रमाण है, उसी प्रकार भूत वस्तुओंके लिये जबर्दस्त प्रमाण उस समयकी वस्तुएँ हैं। वस्तुएँ प्रत्यक्षदर्शी और सत्यवादी साक्षी हैं, यदि उनका उस कालसे सच्चा सम्बन्ध मालूम हो जाय। पोथी-पत्रोंमें तो मनुष्य भूल कर सकता या स्वार्थवश हर नई लिखाईमें घटा-बढ़ा सकता है; किन्तु रमपुरवा (चम्पारन)के स्तम्भ-लेखमें एक भी अक्षरका, अशोकके बाद, मिलाया जाना क्या आसान है? सारनाथमें ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें, जिस बौद्ध-सम्प्रदायकी प्रधानता थी, वहाँ उस समयकी लिपिमें उसके नामके साथ एक लेख खुदा हुआ था। उसके चार-पाँच सौवर्ष बाद (ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दी में) दूसरा सम्प्रदाय अधिकारारूढ़ हुआ। इसने उसी लेखमें, नामवाला भाग छिलवाकर, अपना नाम जुड़वा दिया। ऐसे भी भिन्न-भिन्न हाथोंके अक्षर एक दूसरे से पृथक् होते हैं; और, यहाँ तो पाँच शताब्दियों बाद अक्षरोंमें भारी परिवर्तन हो गया था। इसलिये यह जाल साफ मालूम हो जाता है; और, वह “आचार्याणां सर्वास्तिवादिनं परिग्रहे” वाला छोटा लेख बतला देता है कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार ई० पू० प्रथम शताब्दीसे पूर्व, किसी दूसरे सम्प्रदाय के हाथमें था; और, ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दीमें सर्वास्तिवाइके हाथमें चला गया। इस तरह इस प्रमाणकी मज़बूतीको आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। सातवीं शताब्दीके चीनी

भिक्षु युन्-च्वेङ्ग अपने समयमें वहाँ साम्मतीय निकायकी प्रधानता पाते हैं। युन्-च्वेङ्गका ग्रन्थ १२ शताब्दियोंतक भारतसे दूर पड़ा रहा; इस-लिये जान-बूझकर, मिलावट कम होनेसे, अपने समयके लिये उसकी प्रामाणिकता बहुत ही बढ़ जाती है। किन्तु मान लीजिये युन्-च्वेङ्ग अपने ग्रन्थ में लिख दें कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार अशोकके समयसे आजतक साम्मतीयोंके हाथमें है, तो उक्त लेखके सामने इस बातकी प्रामाणिकता कुछ भी नहीं रह सकती। इस तरह समसामयिक सामग्री पीछे रचित और लिखित ग्रन्थोंसे बहुत ही अधिक प्रामाणिक है। हाँ, जैसा कि, मैंने ऊपर कहा है, वहाँ हमें उनकी समसामयिकताको सिद्ध करना होगा। समसामयिकता सिद्ध करनेके लिये निम्न बातें सबसे अधिक प्रामाणिक हैं— (१) स्वयं लेखमें दिया संवत् और नाम, (२) लिपिका आकार, (३) गहराई, (४) प्राप्त वस्तुके आसपास भिली ईंटें और अन्य वस्तुएँ।

पहली बात तो सर्वमान्य है ही; लेकिन ऐसा संवत्-काल लिखनेका रवाज गुप्तोंके ही समयसे मिलता है। आन्ध्रों, कुषाणों, मौर्योंके लेखोंमें तो राजाके अभिषेकका संवत् दिया रहता है; उनका काल-निर्णय कठिन है। बहुतसे लेखोंमें तो काल भी नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें, अक्षरोंको देखकर, उनसे काल-निश्चय किया जाता है। यद्यपि इसमें दो-एक शताब्दियोंके अन्तर होनेकी सम्भावना है; किन्तु जो सामग्री सबसे प्रचुर परिमाणमें मिलती है और मनुष्य-जीवनके सभी अङ्गोंपर प्रकाश डालती है, वह अक्षराङ्कित भी नहीं होती। इसी सामग्रीकी समसामयिकताको सिद्ध करनेके लिये तीसरे और चौथे प्रमाणोंकी आवश्यकता होती है।

ऐतिहासिक सामग्रियोंमें प्रत्यक्षदर्शी लेख का, अपनी ज़बान खोलकर सन्-संवत्के साथ घटनाओंका वर्णन करना, ऐतिहासिक प्रत्यक्ष है। किन्तु जब वह अङ्क या आकारसे अपने काल मात्रको बतलाता है, तब भी वह अपने साथके बर्तन, दीवार, जेवर, मूर्ति आदिके बारेमें इतनी गवाही दे ही जाता है कि, इतने समयतक हम सब साथ रहे हैं। उस समयकी सभ्यता आदि

सम्बन्धी बातें तो अब आपको उनकी मूक भाषासे मालूम करनी होंगी। हाँ, यहाँ यह भी हो सकता है कि, भिन्न कालमें बनी वस्तुएँ और लेख पीछे वहाँ इकट्ठे कर दिये गये हों; किन्तु वह तो तभी हो सकता है, जब कि संग्रहालय (म्यूजियम) की तरह यहाँ भी इकट्ठा करने का कोई मतलब हो। लेखोंके साथ कुछ और चीजें भी सभी जगह मिला करती हैं; और, यह भी देखा गया है कि, कालके अनुसार इनके आकार-प्रकारमें भेद होता रहता है। इसीलिये इन्हें भी काल-निर्णयमें प्रमाण माना जाता है।

दीहातमें भी लोग कहा करते हैं कि, “धरती माता प्रतिवर्ष जौ-भर मोटी होती जाती है!” यह बात सत्य है; लेकिन इतने संशोधनके साथ— ‘सभी जगह नहीं, और मोटाईका ऐसा नियत मान भी नहीं।’ भारत में मोहनजो दड़ो वह स्थान है, जहाँ आजसे चार-पाँच हजार वर्षकी पुरानी वस्तुएँ मिली हैं। लेकिन वहाँ आप, इन सब चीजों को, वर्तमान तलसे भी ऊपर, टीलोंपर पाते हैं। हड़प्पामें भी करीब-करीब वही बात है। हाँ, इस तरहके अपवादोंके साथ पृथिवीके मोटे होने का नियम उत्तर भारतमें लागू है। पृथिवी कितनी मोटी होती जाती है, इसका कोई पक्का नाप-नियम नहीं है। इसके लिये कुछ जगहोंकी खोदाईमें मिले भिन्न-भिन्न तलोंकी सूची दी जाती है—

काल	गहराई (फ़ीट)	स्थान
ई० पू० ८वीं शताब्दी	२१, २०	१भीटा (इलाहाबाद)
,, चौथी-पाँचवीं ,,	१७	,,

१ भीटाका पुराना नाम सहजाती था। वहाँकी खुदाईमें एक मुहर भी मिली है, जिसमें “शहजतिये निगमश” (सहजातीके वणिक्-संघका) लिखा है—दे० “बुद्धचर्या” पृष्ठ ५५९, ५६१।

काल	गहराई (फ़ीट)	स्थान
मौर्य-काल		
(ई० पू० तृतीय शतक)	१६	„
„	१५	पटना
„	१३	रमपुरवा (चम्पारन)
„	गुप्त+६, ९ ^१	सारनाथ (बनारस)
कुषाण-काल		
(ई० पू० प्र० श०)	१३	भीटा (इलाहाबाद)
„ (ई० चतुर्थ-षष्ठ श०)	१०-६	कसया (गोरखपुर)
„	१०	„
कुषाण-काल	१०	बसाढ़ (मुजफ्फरपुर)
„	९	भीटा (इलाहाबाद)
„	८	„
„	७	पटना

गहराईकी भाँति ईंटें भी काल-निर्णयमें बहुत सहायक होती हैं; क्योंकि देखा जाता है कि, जितनी ही ईंटें बड़ी होती हैं, उतनी ही अधिक पुरानी होती हैं। यद्यपि यह नियम सामान्यतः सर्वत्र लागू है, तोभी कहीं कहीं इसके अपवाद मिलते हैं। गुप्त-कालकी भी ईंटें कभी-कभी मौर्य-कालकी सी मिली हैं; किन्तु उनमें वह ठोसपन नहीं हैं। (जैसे-जैसे जंगल कटते गये, वैसे ही वैसे लोग लकड़ीकी किफायत करने लगे; और, इसीलिये, ईंधनकी कमीके लिये ईंटोंकी मोटाई आदिको कम करने लगे।) मोहनजो दड़ो और हड़प्पा सर्वथा ही इसके अपवाद हैं। वहाँकी ईंटें तो आज कलकी अँग्रेजी ईंटों जैसी लम्बी-किन्तु, कम मोटी हैं। नीचेकी सूचीसे भिन्न-भिन्न कालकी ईंटोंका कुछ अनुमान हो सकेगा—

काल	आकार (इंच)	स्थान
ई० पू० चतुर्थ श०	१६ × १० ^१ / _३ × ३	पिपरहवा (बस्ती)
"	१५ × १० × ३	"
मौर्य-काल		
(ई० पू० तृतीय श०)	२० × १४ ^१ / _४ × ३ ^१ / _४	भीटी (वहराइच)
"	१९ ^१ / _३ × १२ ^१ / _३ × ३ ^१ / _३	सारनाथ (वनारस)
"	१९ × १० × ३	कसया (गोरखपुर)
"	१८ × १० × २ ^३ / _४	"
कुषाणोंसे पूर्व	१७ ^१ / _३ × १० ^३ / _४ × २ ^१ / _४	भीटा (इलाहाबाद)
कुषाणोंके पूर्व	१४ × १० ^१ / _४ × २ ^१ / _४	सहेटमहेट (गोंडा)
"	१४ × १० × २	"
"	१४ × ९ × २	"
कुषाण	१५ × १० ^१ / _३ × २ ^३ / _४	सारनाथ (वनारस)
गुप्त	१४ × ८ × २ ^१ / _३	सहेटमहेट (गोंडा)
"	१२ × ९ × २	"
ईस्वी छठी-सातवीं सदी	१२ ^१ / _३ × ८ ^१ / _३ × २	"
ई० सातवीं-आठवीं सदी	१२ × ९ × २	"
ई० दसवीं-ग्यारहवीं सदी	१२ × ९ × २	"
"	९ ^१ / _३ × ९ ^१ / _३ × २	"
"	७ × ५ × २	"

^१ ई० पू० प्रथम और ईस्वी सन् प्रथम शताब्दियां ।

(३)

बसाढ़की खुदाई

हाजीपुरसे १८ मील उत्तर, मुजफ्फरपुर जिलेमें, बसाढ़ (बनिया बसाढ़) गाँव है; जिसके पासके गाँव बखरामें अशोक-स्तम्भ है। बसाढ़की खुदाईमें ईस्वी सन्से पूर्वकी चीजें मिली हैं। खुदाईके सम्बन्धमें कुछ लिखनेके पूर्व स्थानके बारेमें कुछ लिख देना उचित होगा।

वैशाली प्राचीन वज्जी-गण-तंत्रकी^१ राजधानी थी। वज्जीदेशकी शासक क्षत्रियजातिका नाम लिच्छवि था। जैन-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, इसकी ९ उपजातियाँ थी। इन्हींका एक भेद^२ ज्ञातृ जाति था, जिसमें पैदा होनेके कारण जैनधर्म-प्रवर्तक वर्धमान (महावीर)को नातपुत्र या ज्ञातृपुत्र भी कहते हैं। पाणिनिने भी "मद्रवृज्योः कन्" (अष्टाध्यायी ४।२।३१) सूत्रमें इसी, वज्जीको वृज्जी कहकर स्मरण किया है। बुद्धके समय यह वज्जी-गण-राज्य उत्तरी भारतकी पाँच प्रधान राजशक्तियों—अवन्ती, वत्स, कोसल, मगध, और वज्जी—मेंसे एक था। इस गणराज्यका शासन कब स्थापित हुआ, यह निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता। इनके

^१ वज्जीदेशमें आजकलके चम्पारन और मुजफ्फरपुरके जिले, दरभंगेका अधिकांश तथा छपरा जिलेके मिर्जापुर, परसा, सोनपुरके थाने एवम् कुछ और भाग सम्मिलित थे।

^२ रत्ती परगनेमें (जिसमें कि बसाढ़ गाँव है) जिन जथरियोंकी सबसे अधिक बस्ती है, वह यही पुराने ज्ञातृ हैं, जो भूत कालमें इस बलशाली गणतंत्रके सञ्चालक, और जैन-तीर्थङ्कर महावीरके जन्मदाता थे। देखो ज्ञातृ=जथरिया (६) भी

न्याय, प्रबन्ध आदिके सम्बन्धमें पाली-ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ वर्णन है। बुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष बाद, प्रायः ई० पू० ४८० में, वज्जी-गणतंत्रको मगध-राज अजातशत्रुने, बिना लड़े-भिड़े, जीता था। पीछे तो मगध-साम्राज्यके विस्तारमें लिच्छविजातिने बड़ा ही काम किया। लिच्छवियोंके प्रभाव और प्रभुत्वको हम गुप्त-काल तक पाते हैं। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त लिच्छवि-दौहित्र होनेका अभिमान करता है। कितने ही विद्वानोंका मत है कि, गुप्तनाम गुप्तवंशको साम्राज्य-शक्ति प्रदान करनेमें चन्द्रगुप्त-का लिच्छवि-राजकन्या कुमारदेवीके साथ विवाह होना भी एक प्रधान कारण था। इस विवाह-सम्बन्धके कारण चन्द्रगुप्तको वीर^१ लिच्छवि जातिका सैनिक बल हाथ लगा था। गुप्तवंशका सबसे प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्त उसी लिच्छविकुमारी कुमारदेवीका पुत्र था। कौन कह सकता है, उसको अपनी दिग्विजयोंमें अपने मामाके वंशसे कितनी सहायता मिली होगी। गुप्तवंशके बाद हम लिच्छवियोंका नाम नहीं पाते। युन्-च्वेङ्के समय वैशाली उजाड़सी थी। बेतियाका राजवंश उक्त लिच्छविजातिके जथरिया-वंशके अन्तर्गत है ; इसलिये सम्भव है, बेतिया-राजवंशके इतिहाससे पीछेकी कुछ बातोंपर प्रकाश पड़े।^२

^१ आज भी जथरिया जाति लड़ने-भिड़नेमें मशहूर है।

^२ जिस प्रकार नन्द और मौर्य भारतके प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य-स्थापक थे, वैसे ही वज्जी ऐतिहासिक कालका एक महान् शक्तिशाली गणतन्त्र था। क्या यह अच्छा न होगा कि, मुजफ्फरपुरवाले उसकी स्मृतिमें प्रतिवर्ष एक लिच्छविगणतन्त्र-सप्ताह मनावें, जिसमें और बातोंके साथ योग्य विद्वानोंके गणतन्त्र-सम्बन्धी व्याख्यान कराये जायें? लिच्छवि-गणतन्त्र भारतीयोंके जनसत्तात्मक मनोभावका एक ज्वलन्त उदाहरण है, जो पाश्चात्त्योंके इस कथनका खण्डन करता है कि, भारतीय हमेशा एकाधिपत्यके नीचे रहनेवाले रहे हैं। लिच्छवि-गणतन्त्रपर सारे भारतका अभिमान होना स्वाभाविक है। एक लिच्छवि-जथरियाके नाते, आशा है, मौलाना शफी बाऊदी भी इसमें सहयोग देंगे।

वैशाली नामके बारेमें पाली-ग्रन्थोंमें लिखा है कि, दीवारोंको तीन बार हटाकर उसे विशाल करना पड़ा; इसीलिये नगरका वैशाली नाम पड़ा। फलतः वैशालीके ध्वंसावशेषका दूरतक होना स्वाभाविक है। वैशाली नगर कहाँतक था और कहाँ नगरके बाहरवाले गाँव थे, इसका अभीतक निश्चय नहीं किया गया। अभीतक जो भी खुदाईका काम हुआ है, वह सिर्फ बसाढ़के गढ़में ही हुआ है। बसाढ़के आसपास कोसोंतक पुरानी बस्तियोंके निशान मिलते हैं। बसाढ़ और बनिया गाँव न सिर्फ स्वयं पुरानी बस्तियोंपर बसे हैं, बल्कि उनके आसपास भी ऐसी बहुत भूमि है, जिसके नीचे भूत कालके सन्देशवाहक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

वैसे तो बसाढ़के लोगोंको मालूम ही था कि, उनका गाँव राजा विशालकी राजधानी है; किन्तु सेंट माटिन और जनरल कनिंघम प्रथम सज्जन थे, जिन्होंने बसाढ़के ध्वंसावशेषोंके लिये पुरानी वैशाली होनेका संकेत किया। तोभी बसाढ़में सनियम खुदाईका काम सन् १९०३ ई० तक नहीं हुआ था। १९०३-४ ई० के जाड़ोंमें डा० ब्लाश्के अधिनायकत्वमें वहाँकी खुदाई हुई। उसके बाद, १९१३-१४ ई० में, फिर डाक्टर स्पूनरने खुदाईका काम किया। यह दोनों ही खुदाइयाँ राजा विशालके ही गढ़पर हुईं। डाक्टर ब्लाश् (*Bloch*) अपनी खुदाईमें गुप्त-कालके आरम्भ (चौथी शताब्दीके आरम्भ) तक पहुँचे थे और डाक्टर स्पूनरका दावा मौर्य (ई० पू० तीसरी शताब्दी) तक पहुँचनेका था। यद्यपि जिस मुहरके बलपर उन्होंने ई० पू० तीसरी शताब्दी निश्चय किया, उसे स्व० राखालदास बन्द्योपाध्याय जैसे पुरालिपिके विद्वान्ने ई० पू० प्रथम शताब्दीका बतलाया, और यह अक्षरोंको देखनेसे ठीक जँचता है।

राजा विशालका गढ़ दक्षिणको छोड़कर तीन तरफ जलाशयोंसे घिरा है; और, वर्षा तथा शीतकालमें दक्षिणकी ओरसे—जिधर बसाढ़ गाँव है—ही गढ़पर जाया जा सकता है। डाक्टर ब्लाश्की नापसे गढ़ उत्तर ओर ७५७ फीट, दक्षिण ओर ७८० फीट, पूर्व ओर १६५५ एवं पश्चिम ओर

१६५० फीट विस्तृत है। सारी खुदाईमें सिर्फ एक छोटीसी गणेशकी मूर्ति डा० ब्लाश्को मिली थी, जिससे सिद्ध होता है कि, गढ़ धार्मिक स्थानोंसे सम्बन्ध न रखता था। गुप्त, कुषाण तथा प्राक्-कुषाण मुहरोंको देखनेसे तो साफ मालूम होता है कि, यह राज्याधिकारियोंका ही केन्द्र रहा है। वैसे गढ़को छोड़कर बसाढ़में दूसरी जगह भी अकसर पुरानी मूर्तियाँ मिलती हैं। गढ़से पश्चिम तरफ, बावन-पोखरके उत्तरी भीटेपर, एक छोटासा आधुनिक मन्दिर है, वहाँ आप मध्यकालीन खण्डित कितनी ही—बुद्ध, बोधि-सत्त्व, विष्णु, हर-गौरी, गणेश, सप्तमातृका एवं जैनतीर्थंङ्करोंकी—मूर्तियाँ पावेंगे।

गढ़की खुदाईमें जो सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण चीजें मिली, वह हैं महाराजाओं, महारानियों तथा दूसरे अधिकारियोंकी स्वनामाङ्कित कई सौ मुहरें। डाक्टर ब्लाश् अपनी खुदाईमें ऊपरी तलसे १० या १२ फीटतक नीचे पहुँचे थे। उनका सबसे निचला तल वह था, जहाँसे आरम्भिक गुप्त-कालकी दीवारोंकी नीव शुरू होती है। ऊपरी तलसे १० फीट नीचे “महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१३)-पत्नी, महाराज श्रीगोविन्द-गुप्तमाता, महादेवी श्रीध्रुवस्वामिनी”की मुहर मिली थी। जिस घरमें वह मिली थी, वह देखनेमें चहबच्चाघरसा मालूम होता था; इसलिये उस समयका साधारण तल इससे कुछ फीट ऊपर ही रहा होगा। डा० स्पूनर और नीचेतक गये। वहाँ उन्हें ई० पू० प्रथम शताब्दीकी वेसालि-अनुसयानकवाली मुहर मिली। डा० ब्लाश्को सबसे बड़ी ईट १६ $\frac{1}{2}$ × १० × २ इंच नापकी मिली थी। एक तरहके खपड़े भी मिले, जो बिहारमें आजकल पाये जानेवाले खपड़ोंसे भिन्न हैं। इस तरहके खपड़े लखनऊ म्यूजियममें भी रखे हैं, जो युक्तप्रान्तमें कहीं मिले थे। इनकी लम्बाई-चौड़ाई (इंच) निम्न प्रकार है:—

$$८ \times २\frac{1}{2}$$

$$५\frac{1}{2} \times २\frac{1}{2}$$

$$७\frac{1}{2} \times २$$

$$८\frac{1}{2} \times २$$

$$८\frac{1}{2} \times २\frac{3}{4}$$

$$११ \times २$$

उपरिक विषय-पतियों को नियुक्त किया करता था, जिन्हें नियुक्तक या कुमारामात्य कहा जाता था। विषय-पति कुमारामात्यका निवास-नगर अधिष्ठान कहलाता था; और, उस नगरके शासनमें निगम या नागरिक-परिषद्का बहुत हाथ रहता था। यह निगम वही संस्था है, जिसके प्रभावका उल्लेख नेगम (=नैगम)के नामसे बुद्धकालमें भी बहुत पाया जाता है। गुप्तकालमें श्रेष्ठी (=नगर-सेठ), सार्थवाह (=बनजारोंका सरदार) और कुलिक (प्रतिष्ठित नागरिक) मिलकर निगम कहे जाते थे। इन्हें और प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक)को मिलाकर विषय-पतिकी परामर्श-समिति-सी होती थी।

अब बसाढ़की खुदाईमें मिली ऐसी कुछ मुहरोंको देखिये—

उपरिक ^१	{	(१) तीरभुक्त्युपरिकाधिकरणस्य ।
		(२) तीरभुक्तौ विनयस्थितिस्थाप(क)ाधिकरण(स्य) ।
कुमारा ^०	{	(१) तीर-कुमारामा ^३ त्याधिकरणस्य ।
		(२) कुमारामात्याधिकरणस्य ।
		(३) (वै)शाल्यधिष्ठानाधिकरण ।
		(४) (वै)शालविषयः ^४ ... ।
निगम	{	(१) श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम ।
		(२) श्रेष्ठिकुलिकनिगम ।
		(३) श्रेष्ठिनिगमस्य ।

^१ तीरभुक्ति=तिरहुत, जिसमें सम्भवतः गंडक, गंगा, कोसी और हिमालयसे घिरा प्रदेश शामिल था।

^२ उपरिककी मुहरमें, दो हाथियोंके बीचमें, गुप्तोंका लांछन लक्ष्मी हैं, जिनके बायें हाथमें अष्टदल पुष्प है।

^३ मुहरमें दो हाथियोंके बीच लक्ष्मी हैं, जिनके हाथमें सप्तदल पुष्प है।

^४ सम्भवतः विषय।

श्रेष्ठ { (१) गोमिपुत्रस्य श्रेष्ठकुलोत्स्य ।
(२) श्रेष्ठश्रीदासस्य ।

सार्थवाह { सार्थवाह दोड्डु

प्रथम { (१) प्रथमकुलिकहरिः ।
कुलिक^१ { (२) प्रथमकुलिकोग्रसिंहस्य ।

कुलिक { (१) कुलिक भगदत्तस्य ।
(२) कुलिक गोरिदासस्य ।
(३) कुलिक गोण्डस्य ।
(४) कुलिक हरिः ।
(५) कुलिक ओमभट्ट ।

इनके अतिरिक्त कुछ मुहरें राजा, युवराज तथा उनसे विशेष सम्बन्ध रखनेवालोंकी भी हैं। जैसे—

(१) महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराज श्रीगोविन्दगुप्त-माता महादेवी श्रीध्रुवस्वामिनी ।

(२) श्रीपर(मभट्टारक)पादीय कुमारामात्याधिकरण ।

✓ (३) श्रीयुवराज भट्टारकपादीय कुमारामात्याधिकरण ।

(४) युवराजभट्टारकपादीय बलाधिकरणस्य ।

इनके अतिरिक्त रणभाण्डागाराधिकरण, दण्डपाशाधिकरण, दण्ड-नायक (न्याय-मन्त्री) और भटाश्वपति (घोड़सवार, सेनापति आदि) की मुहरें मिली हैं—

१ नगरमें श्रेष्ठी और सार्थवाह एक-एक हुआ करते थे। निगमसभाके बाकी सदस्य सद्कुलिक कहे जाते थे, जिनमें प्रमुखको 'प्रथम कुलिक' कहा जाता था। यही कारण है, जो मुहरोंमें सबसे अधिक कुलिकोंकी मुहरें हैं।

(१) महादण्डनायकाग्निगुप्तस्य ।

(२) भटाश्वपति यक्षवत्सस्य (?)

युवराज भट्टारकपादीय—कुमारामात्याधिकरण देखकर तो मालूम होता है, तीर-भुक्तिके 'उपरिक' स्वयं युवराज ही होते थे। द्वितीय गुप्त-सम्राट् अपनेको लिच्छवि-दौहित्र कहकर जिस प्रकार अभिमान प्रकट करता है, उससे वैशालीको यह सम्मान मिलना असम्भव भी नहीं मालूम होता।^१



^१ जैनधर्मके लिये वैशालीका कितना महत्व है, यह तो उसके प्रवर्तक वर्धमान महावीरके वहाँ जन्म लेनेसे ही स्पष्ट है। बौद्धधर्ममें भी वैशालीके लिये बड़ा गौरव है। वैशालीमें ही बुद्धने, सन् ५२५-५२४ ई० पू० में, स्त्रियोंको भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था। बुद्धने यहीं अपना अन्तिम वर्षावास किया था। बुद्धके निर्वाणके सौ वर्ष बाद सन् ३८३ ई० पू० में, यहीं, बुद्धके उपदेशोंकी छानबीनके लिये, भिक्षुओंने द्वितीय संगीति (सभा) की थी। बुद्धने भिक्षु-संघके सामने लिच्छवि-गण-तन्त्रको आदर्शकी तरह पेश किया था। भिक्षु-संघके 'छन्द' (=वोट) दान तथा दूसरे प्रबन्धके ढंगोंमें लिच्छवि-गण-तन्त्रका अनुकरण किया गया है।

(४)

श्रावस्ती

बुद्धके समयमें उत्तरभारतमें पाँच बड़ी शक्तियाँ थी—कोसल, मगध, वत्स, वृजी, और अवन्ती। इनमें वृजी (वैशाली) में लिच्छवियों का गणतंत्र था। कोसल और कोसलके आधीन गणतंत्रके सम्बन्धमें भी बहुत-सी बातोंका पता लगता है। यहाँ कोसलकी राजधानी श्रावस्तीके सम्बन्धमें लिखना है। श्रावस्तीके सम्बन्धमें त्रिपिटक और उसकी टीकाओं (अट्टकथाओं)में बहुत कुछ मिलता है। इसके अतिरिक्त फाहियान, यून्-च्वेङ्कके यात्राविवरण, ब्राह्मण, और बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों तथा जैन प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थोंमें भी बहुत सामग्री है। किन्तु इन सब वर्णनोंसे पालि-त्रिपिटकमें आया वर्णन ही अधिक प्रामाणिक है। ब्राह्मणोंके रामायण, महाभारतादि ग्रन्थोंका संस्करण बराबर होता रहा है, इसीलिये उनकी सामग्रीका उपयोग बहुत सावधानीसे करना पड़ता है। जैन ग्रन्थ ईसवी पाँचवीं शताब्दीमें लिपिवद्ध हुए, इसीलिये परम्परा बहुत पुरातन होनेपर भी, वह पालि-त्रिपिटकसे दूसरे ही नम्बरपर है। पालि-त्रिपिटक ईसा पूर्व प्रथम शताब्दीमें लिपिवद्ध हो चुके थे। जो बात ब्राह्मणग्रन्थोंके सम्बन्धमें है, वही महायान बौद्ध संस्कृत ग्रन्थोंके सम्बन्धमें भी है।

श्रावस्ती उस समय काशी (आजकलके बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ़, गाजीपुरके अधिकांश भाग), और कोसल (वर्तमान अवध) इन दो बड़े और समृद्धि-शाली देशोंकी राजधानी होनेसे ही ऊँचा स्थान रखती थी। इसके अतिरिक्त बुद्धके धर्मप्रचारका यह प्रधान केन्द्र था। इसीलिये बौद्ध साहित्यमें इसका स्थान और भी ऊँचा है। बुद्धने बुद्धत्व

प्राप्तकर पैंतालीस वर्ष तक धर्म-प्रचार किया। प्रति वर्ष वर्षाके तीन मास वह किसी एक स्थानपर बिताते थे। उन्होंने अपने पैतालीस वर्षावासोंमेंसे पच्चीस यही बिताये। सूत्रों और दिनयके अधिक भागका भी उन्होंने यही उपदेश किया। ईसा पूर्व ४८३ वर्षमें बुद्धका निर्वाण हुआ, यही अधिक विद्वानोंको मान्य है। उन्होंने अपना प्रथम वर्षावास (ई० पू० ५२७) ऋषिपतन-मृगदाव (सारनाथ, बनारस)में बिताया। अट्टकथा^१के अनुसार चौदहवाँ, तथा इक्कीसवेंमें चौतालीसवें (ई० पू० ५०७-४८२= वि० सं० पूर्व ४५०-४२५) वर्षावाम उन्होंने यही बिताये।

श्रावस्तीके नाम-करणके विषयमें मज्झिमनिकायके सब्वासवसुत्त (१।१।२)में इस प्रकार पाया जाता है—“सावत्थी (श्रावस्ती)—सवत्थ ऋषिकी निवासवाली नगरी, जैसे काकन्दी माकन्दी। यह अक्षर-चिन्तकों (=वैयाकरणों)का मत है। अर्यकथाचार्य (भाष्यकार) कहते हैं—जो कुछ भी मनुष्योंके उपभोग परिभोग है, सब यहाँ है (सब्रं अत्थि) इस-

^१ “तथागतो हि पठमबोधियं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा यत्थ यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव गन्त्वा वसि। पथमक अन्तोवस्सं हि... धम्मचक्कं पवत्तेत्वा... वारारणसि उपनिस्साय इसिपतने वसि...॥ चतुद्दसमं जेतवने पंचदसमं कपिलवत्थुस्मि...। एवं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा, यत्थ यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव वसि। ततो पट्टाय पन द्वे सेनासनानि धुवपरिभोगानि अहोसि। कतरानि द्वे?—जेतवनञ्च पुब्बारामञ्च...। उदुवस्सं चारिकं चरित्त्वापि हि अन्तो वस्से द्विसु येव सेनासनेसु वसति। एवं वसन्तो पन जेतवने रत्ति वसित्त्वा पुन दिवसे...दक्खिणद्वारेन निक्खमित्त्वा सावत्थिं पिण्डाय पविसित्त्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्त्वा पुब्बारामे दिवाविहारं करोति। पुब्बारामे रत्ति वसित्त्वा पुनदिवसे पाचीनद्वारेन... जेतवने दिवाविहारं करोति।”

—(अङ्गुत्तर० अट्टकथा, हेवावितारणे ३१४ पृष्ठ)

लिये इसे सावत्थी (श्रावस्ती) कहते हैं; बंजारोंके जुटनेपर 'क्या चीज है' पूछनेपर "सब है, इस बातसे सावत्थी^१ ।"

श्रावस्ती कहाँ थी? "कोसलानं पुरं रम्मं" वचनसे ही मालूम हो जाता है, कि वह कोसल देशमें थी। पाली ग्रन्थोंमें कितनी ही जगहोंपर श्रावस्तीकी दूसरे नगरोंसे दूरी भी उल्लिखित मिलती है—

१—“राजगृह कपिलवस्तुसे साठ योजन दूर, और श्रावस्ती पन्द्रह योजन। शास्ता (=बुद्ध) राजगृहसे पैतालीस योजन आकर श्रावस्तीमें विहरते थे।”^२

२—“पुक्कसाती (=पुष्करसाती) नामक कुलपुत्र (तक्षशिलासे) आठ कम दो सौ योजन जाकर जेतवनके सदरदरवाजेके पाससे जाते हुए।”^३

^१ सावत्थीति सवत्थस्स इसिनो निवासट्टानभूता नगरी, यथा काकन्डी माकन्दी'ति। एवं ताव अक्खरिचित्ता। अट्ठ कथाचरिया पन भणन्ति—यं किञ्च मनुस्सानं उपभोगं परिभोगं सब्बमेत्थ अत्थीति सावत्थी। सत्थ-समायोगे च किं भण्डं अत्थीति पुच्छते सब्बमत्थीति वचनमुपादाय सावत्थी—

सब्बदा सब्बपकरणं सावत्थियं समोहितं।

तस्मा सब्बमुपादाय सावत्थी'ति पवुच्चति ॥

कोसलानं पुरं रम्मं दस्सनेय्यं मनोरमं।

दस हि सद्देहि अविवित्तं अन्नपानसमायुतं ॥

बुडिढ वेपुल्लतं पत्तं इद्धं फीतं मनोरमं।

आलकमन्दाव देवानं सावत्थी पुरमुत्तमं ॥

—(मज्झिमनिकाय अ० क० १।११२)

^२ “राजगृहं कपिलवत्थुतो दूरं सट्ठि योजनानि, सावत्थी पन पञ्चदस। सत्था राजगृहतो पञ्चचत्तालीसयोजनं आगन्त्वा सावत्थियं विहरति।”

—(म० नि० अ० क० १।३।४)

^३ “पुक्कसाति नाम कुलपुत्तो (तक्कसलातो) अट्ठ हि ऊनकानि द्वे योजनसत्तानि गतो जेतवनद्वारकोट्टकस्स पन समीपे गच्छन्तो...”

—(मज्झिम नि० अट्ठ० ३।४।१०)

३—“मञ्छिकासंडमें सुधर्म स्थविर क्रुद्ध हो शास्ताके पास (जेटवन) जाकर...। शास्ताने (कहा) यह बड़ा मानी है; तीस योजन मार्ग जाकर पीछे आवे १।”

४—“दारुचीरिय...सुप्पारक बन्दरके किनारे पहुँचा।...तब उसको देवताने बताया—हे वाहिक, उत्तरके जनपदोंमें श्रावस्ती नामक नगर है, वहाँ वह भगवान् विहरते है।... (वह) एक सौ बीस योजनका रास्ता एक एक रात वास करते हुये ही गया।”^३

५—“शास्ता जेतवनसे निकलकर क्रमशः अगगालव विहार पहुँचे। शास्ताने (सोचा)—जिस कुल-कन्याके हितार्थ तीस योजन मार्ग हम आये।”^३

६—“श्रावस्तीसे संकाश्य नगर तीस योजन।”^४

१ “मच्छिकासंडे सुधम्मत्थेरो...कुञ्जित्वा सत्थुसंतिकं (जेटवने) गत्वा। सत्था...मानत्थद्धो एस तिसयोजनं ताव मगं गत्वा पच्छा-गच्छतु”।

—(धम्मपद-अट्ट ० हेवावितारणे पृ० २।५०)

२ “दारुचीरियो...सुप्पारकपत्तनतीरं ओक्कामि।...अथस्स देवता आचिक्खि—अत्थि वाहिय, उत्तरेसु जनपदेसु सावत्थिनाम नगरं तत्थ सो भगवा विहरति।... (सो) बीसं योजनसतिकं मगं एकरत्तिवासेनेव अगमासि।”

—(धम्मपद-अट्ट ० ८।२ उदान अट्ट ० १।१०)

३ “सत्था जेतवना निक्खमित्त्वा अनुपुब्बेन अगगालवविहारं अगमासि।...। सत्था—यमहं कुलधीतरं निस्साय तिसयोजनमगो आगतो।”

—(धम्मपद-अट्ट ० १३।७, १५।५)।

४ “सावत्थितो संकस्सनगरं तिसयोजनानि”।—(धम्मपद-अट्ट ० १४।२)

७—“उग्र नगर निवासी उग्र नामक श्रेष्ठि-पुत्र अनार्थापिंडकका मित्र था।.....छोटी सुभद्रा यहाँ(श्रावस्ती)मे एक सौ बीस योजन-पर बसती है।”^१

८—“उस क्षण जेतवनसे एक सौ बीस योजनपर कुररघरमें।”^२

९—“तीस योजन..... (जाकर) अंगुलिमालका।”^३

१०—“महाकप्पिन एक सौ बीस योजन आगे जा चंद्रभागा नदीके तीर वरगदकी जड़में बैठे।”^४

११—“साकेत छै योजन।”^५

ऊपरके उद्धरणोंमें राजगृह, कपिलवस्तु, तक्षशिला, मच्छिकासंड, सुप्पारक, अग्गालव विहार, संकाश्य, उग्रनगर, कुररघर, अंगुलिमालसे भेंट होनेका स्थान, चन्द्रभागा नदीका तीर, तथा साकेत—इन तेरह स्थानोंसे श्रावस्तीकी दूरी मालूम होती है। इन स्थानोंमें कपिलवस्तु (तिलौरा कोट, नेपालतराई), राजगृह (राजगिर, जिला पटना, बिहार), साकेत (अयोध्या, जि० फैजावाद, यु० प्रा०), तक्षशिला (शाहजीकी ढेरी, जि० रावर्लपिंडी, पंजाव), सुप्पारक (सुप्पारा, जिला सूरत, बंबई), संकाश्य

१ “अनार्थापिंडिकस्स ... उग्गनगरवासी उग्रो नाम सेट्ठि पुत्तो सहाय-को।.....चूल सुभद्रा दूरे वसति इतो बीसतियोजनसतमत्थके ...”

—(धम्म० अट्ठ० २११८)

२ “तस्मिं खणे जेतवनतो बीसं योजनसतमत्थके कुररघरे ...”

—(धम्म० अट्ठ० २५१७)

३ “तिसयोजनं ... अंगुलिमालस्स”।—(मज्झिम० अट्ठ० १३१४)

४ “महाकप्पिनराजा।...बीसं योजनसतं पच्चुगत्वा चन्द्र-भागाय नवियातीरे निग्रोधमूले निसीदि।”

—(धम्मपद-अट्ठ० ६१४)

५ महावग्ग, पृष्ठ २८७

(संकिसा, जिला फर्रुखाबाद यु० प्रा०) तथा चंद्रभागा नदी (चनाब, पंजाब) यह सात स्थान निश्चित हैं।

पालीके शब्दकोश 'अभिधानपदीपिका'के अनुसार योजनका मान इस प्रकार है।

“अंगुद्विच्छ विदत्थि, ता दुवे सियुं।—

रतनं; तानि सत्तेव, यद्वि, ता वीसतूसभं।

गावूतमुसभासीति, योजनं चनुगावुनं।”

१२ अंगुल = विदत्थि = (४ गिरह)^१

२ विदत्थि (वालित्त) = रतन (हाथ)

७ रतन = १ यद्वि (लट्टा) = (३ $\frac{१}{३}$ गज)

२० यद्वि = १ उमभ (ऋसभ) = (७० गज)

८० उमभ = १ गावूत (गव्यूति) = (५६०० गज =
(३.१८ मील)

४ गावूत = १ योजन = (१२ $\frac{५}{६}$ मील)

अभिधर्मकोशमें^१ २४ अंगुल = १ हस्त, ४ हस्त = १ धनु (= २ गज), ५०० धनु = १ कोश (= १००० गज), ८ कोश = १ योजन (= ४.४५ मील) है।

श्रावस्तीके इस फासिलेको आधुनिक नकशेसे मिलानेपर—

	पुरातन		आधुनिक-मील
	योजन	मील	
कपिलवस्तु	१५	१९०.९	६२.४
साकेत	६	७६.३६	५१.२

^१ चतुर्विंशतिरंगुल्यो हस्तो, हस्तचतुष्टयम्।

धनुः, पञ्चशतान्येषां क्रोशो, तेऽष्टौ योजनमित्याहुः,

—(अभिधर्मकोश ३।८८-८)

राजगृह	४५	५७२.७२	२७६.८
तक्षशिला	१९२	२४४३.६२	७२४.८
सुप्पारक	१२०	१७२७.२६	७९६.८
संकाश्य	३०	३८१.८१	१६९.६
चन्द्रभागा नदी	१२०	१७२७.२६	५९०.४

श्रावस्ती और साकेतका मार्ग चालू और फामिला थोड़ा था; इसलिये इसकी दूरीमें सन्देहकी कम गुजाइश है। ऊपरके हिमावसे योजन आठ मीलके करीब होगा।

श्रावस्ती कहाँ ?—

कोसल देशकी राजधानी श्रावस्तीको विद्वानोंने युक्तप्रांतके गोंडा जिलेका सहेट-महेट निश्चित किया है। उस समय कोसल नामका दूसरा कोई देश न था, इसीलिये उत्तर दक्षिण लगानेकी आवश्यकता न थी। छठी शताब्दीके (=विक्रम सं० ५५८-६५७) बाद जब मध्यप्रदेशके छत्तीस-गढ़का नाम भी कोसल पड़ा, तो दोनोंको अलग करनेके लिये, इसे उत्तर कोसल और मध्यप्रदेशवालेको दक्षिण कोसल या महाकोसल कहा जाने लगा। श्रावस्ती अचिरवती (=रापती) नदीके तीर थी^१। अचिरवती नगरके समीप ही बहती थी, क्योंकि हम देखते हैं कि नगरकी वेश्याएँ और भिक्षुणियाँ यहाँ साधारणतः स्नान करने जाया करती थीं। मज्झिम-निकाय अट्ठकथामें^२ कहा गया है, कि यह नदी बहुत पुरातन (काश्यप बुद्ध) कालमें

^१ “इध भन्ते भिक्खुनियो अचिरवतिया नदिया वेसियाहि सद्धि नग्गा एकतित्थे नहायन्ति। . . . अनुजानामि ते विसाखे अट्ठवरानीति। . . .”

—(महावग्ग चीवरक्खन्धे, ३२७)

^२ कस्सपदसबलस्स काले अचिरवती नगरं परिक्खिपित्वा सन्दमाना पुब्बकोट्टकं पत्त्वा उदकेन भिन्वित्त्वा महन्तं उदकवहं मापेसि, समतित्थं अनुपुब्बगम्भीरं।”

—(म० नि० १।३।६; अ० क० ३७१)

नगरको घेरकर बहती थी। उसने पुञ्जकोट्टकके पास बड़ा दह खोद दिया था। यह दह नहानेका बड़ा ही अच्छा स्थान था। यह स्थान सम्भवतः महेटके पूर्वोत्तर कोनेपर था। इस दहके समीप तथा अचिरवतीके^१ किनारे ही राजमहल था। लेकिन साथ ही मुत्तनिपातकी अट्टयाथासे^२ पता लगता है कि अचिरवतीके किनारेवाले जौके खेत जेतवन और श्रावस्तीके बीचमें पड़ते थे। इसका मतलब यह है कि अचिरवती उस समय या तो जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिम ओर होती हुई बहती थी, अथवा पूर्वकी ओर। लेकिन पूर्व माननेपर, उसका राजमहलके (जो कि नौशहरा दर्वाजाके पूर्व तरफ था)के पाससे जाना संभव नहीं हो सकता। इसलिये उसका श्रावस्ती और जेतवनके पश्चिम होकर, राजगढ़ दर्वाजेसे होते हुए, वर्तमान नौखानमें होकर बहना अधिक सम्भव मालूम होता है। यह बात यद्यपि पाली उद्धरणके अनुसार ठीक जँचेगी; किन्तु भूमिको देखनेसे इसमें सन्देह मालूम होता है। क्योंकि जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिमी भागमें कोई ऐसा चिह्न नहीं है, जिससे कहा जाय कि यहाँ कभी नदी बहती थी। साथ ही पुरैना और अमहा तालोंके अति पुरातन स्तूपावशेष भी इसके लिये बाधक हैं। रामगढ़ दर्वाजेके पासकी भूमिमें भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो

१ “.... राजा पसेनदी कोसलो मल्लिकाय देविया सिद्धि उपरि पासादवरगतो होति। अद्दसा खो राजा पसेनदि....तेरसवगिये भिक्खू अचिरवतिया नदिया उदके कीलन्ते।....”

—(पाचित्ति; अचेलकवग्ग पृ० १२७)

२ “भगवति किर सावत्थियं विहरन्ते अञ्जातरो ब्राह्मणो सावत्थिया जेतवनस्स च अन्तरे अचिरवतीनदीतीरे यवं वपिस्सामीति खेतं कसति। तस्स अज्ज वा स्वे वा लायिस्सामीति उस्सुक्कं कुरुमानस्सेव महामेघो उट्टुहित्वा सब्बरत्ति वस्सि। अचिरवती नदी पूरा आगन्त्वा सब्बं यवं वहि।”

—(मुत्त० नि० ४११, अ० क० ४१९)

अचिरवती ऐसी पहाड़ी नदीकी तेज धारके ऐसे जल्दीके घुमावको सह सके। मालूम होता है, मूल परम्परामें ब्राह्मणके जौके खेतका अचिरवतीकी बाढ़से नष्ट होना वर्णित था। जिसके लिये खेतोंका अचिरवतीके किनारे होना कोई आवश्यक नहीं। हो सकता है, सिगिया नालाकी तरहका कोई नाला जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिम भागमें रहा होगा, या उसके बिना भी जौके खेतका अचिरवतीकी बाढ़से नष्ट होना बिल्कुल संभव है। अचिरवतीकी बाढ़से नष्ट होनेसे ही, खेतोंको पीछे अचिरवतीके किनारे, समझ लिया गया। यह परिवर्तन मूल सिहाली अट्टकथाहीमें सम्भवतः हुआ, जिसके आधारपर बुद्धघोषने, अपनी अट्टकथाएँ लिखी। अचिरवतीका श्रावस्तीके उत्तर और पूर्व-पश्चिम बहनेका एक और भी प्रमाण हमें मञ्जिमनिकायसे^१ मिलता है। आनन्द श्रावस्तीमें भिक्षा करके पूर्वारामको जा रहे थे; उसी समय राजा प्रसेनजित् भी अपने हाथीपर सवार हो नगरसे बाहर निकला। राजाने पूर्वद्वार(काँदभारी दरवाजा)से बाहर पूर्वद्वार और पूर्वाराम-

^१ आयस्मा आनन्दो पूब्वण्हसमयं...सावत्थियं पिण्डाय चरित्वा
येन पुब्बारामो तेन उपसंकमि...। तेन खो पन समयेन राजा
 पसेनदि कोसलो एकपुण्डरीकं नागं अभिरुहित्त्वा सावत्थिया निय्यासि दिवा-
 दिवस्स। अहसा खो राजा...दूरतो'व आगच्छन्तं।...येनायस्मा
 आनन्दो तेनु'पसंकमि।...एतदवोच—स चे भन्ते, ...न किञ्चि अच्चा-
 यिकं करणीयं; साधु, ...येन अचिरवतिया नदिया तीरं तेनुपसंकमतु
 अनुकम्पं उपादाया'ति।...अथ खो...आनन्दो येन अचिरवतिया नदिया
 तीरं तेनु'पसंकमि, उपसङ्कमित्त्वा अञ्जातरास्मि हक्खमूले पञ्जात्ते आसने
 निसीवि।...अयं भन्ते, अचिरवती नदी दिट्ठा आयस्मता चेव...अन्हेहि
 च, यदा उपरि पब्बते महामेघो अभिप्पवाहेति, अथायं अचिरवती नदी उभतो
 कलानि संविस्सन्वन्ती गच्छति।”

के बीचमें कहींपर आनन्दको देखा । राजाने उस जगहसे अचिरवतीके किनारे-पर आनन्दको चलनेकी प्रार्थना की । सम्भवतः उस समय अचिरवती सहेट-के उत्तरी किनारेसे लगी हुई बहती थी । कच्ची कुटीके पासका स्तूप सम्भवतः अनाथपिण्डकके घरको बतलाता है । अनाथपिण्डकका घर अचिरवतीके पास था; शायद इसीलिये हम जातकट्टकथामें^१ देखते हैं, कि अनाथपिण्डकका बहुतसा भूमिमें गड़ा हुआ धन, अचिरवतीके किनारेके टूट जानेसे बह गया ।

श्रावस्ती (१) अचिरवतीके किनारे थी, (२) कोसल देशमें साकेत (अयोध्या)से ६ योजन पर थी; तथा खुट्टकनिकायके पेतवत्थुके^२ अनुसार (३) हिमालय वहाँसे दिखलाई पड़ता था । यहाँ 'हिमवान्को देखते हुए' शब्द आया है; जिससे साफ है, कि श्रावस्ती हिमालयको जड़में न होकर वहाँसे कुछ फासिलेपर थी, जहाँसे कि हिमालयकी चोटियाँ दिखलायी पड़ती थी । महेटसे हिमालय चौबीसही मोल दूर है, और खूब दिखलाई पड़ता है ।

श्रावस्ती नगर

श्रावस्तीकी जनसंख्या^३ अट्टकथाओंमें सात कोटि लिखी है, जिसका अर्थ हम यही लगा सकते हैं, कि वह एक बड़ा नगर था । यह बात

१ "अचिरवतीनदीतीरे निहितधनं नदीकूले भिन्ने समुहं पविट्टं अत्थि ।"

—(जातक १।४।१०)

२ "सावत्थि नाम नगरं हिमवन्तस्स पस्सतो ।" (पेतवत्थु० ४।६) ।

३ "तदा सावत्थियं सत्तमनुस्सकोटियो वसन्ति । तेसु सत्थुधम्मकथं सुत्वा पञ्चकोटिमत्ता मनुस्सा अरियसावका जाता, द्वे कोटिमत्ता पुयुज्जना"

—(घ० प० १।१, अ० क० ३) ।

तो कोसल जैसे बड़े शक्तिशाली राज्यकी पुरानी राजधानी होनेसे भी मालूम हो सकती है। महापरिनिर्वाण सूत्रमें^१, जहाँ पर आनन्दने बुद्धसे कुशीनगर छोड़कर किसी बड़े नगरमें शरीर छोड़नेकी प्रार्थना की है वहाँ बड़े नगरोंकी एक सूची दी है। इस सूचीमें श्रावस्तीका उल्लेख है। इसमें भी यह स्पष्ट है। निवासियोंमें पाँच करोड़ लोग बौद्ध थे, इसका मतलब भी यही है कि श्रावस्तीके आधिवासियोंकी अधिक संख्या बौद्ध थी। और यह इससे भी मालूम हो सकता है कि बुद्धके उपदेशका यह एक केन्द्र रहा।

उस समय मकानोंके बनानेमें लकड़ीका ही अधिकतर उपयोग होता था। इमारतें प्रायः सभी लकड़ीकी थी। यद्यपि श्रावस्तीके बारेमें खास तौर से नहीं आया है, तो भी राजगृहके वर्णनसे हम समझ सकते हैं कि शहरोंके चारों तरफके प्राकार भी लकड़ीकेही बनते थे। पाराजिक^२ (विनय-पिटक)में यह बात स्पष्ट है। मगस्थनीज़ने भी पाटलिपुत्रके चारों ओर लकड़ीका ही प्राकार देखा था। (उस समय जब चारों ओर जंगल ही जंगल था, लकड़ीकी इफ़्रात थी) लकड़ीका प्राकार उस धनुष बाणके ज़मानेके लिये उपयुक्त था, इसीलिये हम पुराने पाटलिपुत्रको भी लकड़ीके प्राकारसे ही घिरा पाते हैं। बुलन्दी बागकी खुदाईमें इसके कुछ भाग भी मिले हैं।

^१ “मा भन्ते भगवा इमस्मि कुडुनगरके उज्जंगलनगरके साखनगरके परिनिब्बायतु। सन्ति भन्ते अञ्जानि महानगरानि, सेय्यथीदं चम्पा, राजगहं, सावत्थी, साकेतं, कोसम्बी, वाराणसी...”

—(दी० नि० २।३।१३)

^२ “अत्थि भन्ते, देवगह्वारूनि नगरपटिसंखारिकानि आपदत्थाय निक्खित्तानि। स चे तानि राजा दापेति, हरापेथ।”

—(द्वितीय पराजिका)

श्रावस्तीमें मुख्यतः चार^१ दर्वाजे थे, जिनमें तीन तो उत्तर^२, पूर्व और दक्षिण दर्वाजोंके नामसे प्रसिद्ध थे। इनमेंसे जेतवनसे नगरमें आनेका दर्वाजा दक्षिण द्वार था। पूर्वाराम पूरब दर्वाजेके^३ सामने था। इन्हीं तीन द्वारोंका वर्णन अधिकतर मिलता है। पश्चिम द्वारका होना भी यद्यपि स्वाभाविक है तथापि इसका वर्णन त्रिपिटक या अट्टकथामें नहीं देखनेमें आता। अट्टकथासे पता लगता है कि उत्तर द्वारके बाहर एक गाँव बसता था, जिसका नाम 'उत्तरद्वारगाम' था। यह 'उत्तर^४ द्वार-गाम' नगरके प्राकार तथा नदीके मध्यकी भूमिमें झोपड़ियोंका एक छोटा गाँव होगा।

१ "जेतवने रात्त वसित्त्वा पुनदिवसे...दक्खिणद्वारेन सावत्थिय पिण्डाय पविसित्त्वा पाचीन-द्वारेन निक्खमित्त्वा पुब्बारामे दिवाविहारं करोति।"

—(मनि० ९।३।६, अ० क० ३६९)

२ "पाचीनद्वारे सङ्घस्स वसनट्टानं कातुं ते युत्तं विसाखे'ति।"

—(धम्मपद प० ४।८ अ० क० १९९)

३ "पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्खं गण्हित्वा दक्खिणद्वारेन निक्खमित्त्वा जेतवने वसति। अनाथपिण्डकस्स गेहे भिक्खं गहेत्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्त्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वारं सन्धाय गच्छन्तञ्जोव भगवन्तं दिस्वा चारिकं पक्कमिस्सती'ति जानन्ति।"

—(ध० प० ४।८, अ० क० २००)

४ "एकदिवसं हि भिक्खू सावत्थियं उत्तरद्वारगामे पिण्डाय चरित्त्वा.. नगरमज्झेन विहारं आगच्छन्ति। तस्मिन् खणे मेघो उट्ठाय पावस्सि। ते सम्मुखागतं विनिच्छयसालं पविसित्त्वा, विनिच्छयमहामत्ते लञ्छं गहेत्वा सामिके असातिके करोन्ते दिस्वा, अहो इमे अधम्मिका..."

—(ध० प० १९।१, अ० क० ५२९)

विमानवत्यु^१ तथा उदान^२-अट्टकथामें 'केवटद्वार' नामक एक और द्वारका वर्णन किया गया है, जिसके बाहर केवटों (मल्लाहों)का गाँव बसा था। उस समय व्यापारके लिये नदियोंका महत्त्व अधिक था। अतः केवट गाँवका एक बड़ा गाँव होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार हमको पिटक और उसकी अट्टकथाओंसे उत्तर, पूर्व, दक्षिण द्वार, तथा केवटद्वार इन चार दर्वाजोंका पता लगता है। 'सहेट'के ध्वंसावशेष, तथा उसके दर्वाजोंका विस्तृत वर्णन डाक्टर फोगलने १९०७-८ के पुरातत्त्व-विभागके विवरणमें विस्तार-पूर्वक किया है। वहाँ, उन्होंने महेट (श्रावस्ती)का घेरा १७,२५० फीट या ३ $\frac{१}{४}$ मीलसे कुछ अधिक लिखा है। यद्यपि श्रावस्ती नगर ईसाकी बारहवीं शताब्दीमें मुसलमानों द्वारा वीरान किया गया और इसलिये ईसा पूर्व छठी शताब्दीसे बारहवीं शताब्दीके बीचकी अठारह शताब्दियोंमें हेर फेर होना बहुत स्वाभाविक है; तथापि इतना हम कह सकते हैं कि कोसल-राज्यके पतन (प्रायः ईसा पूर्व ४ या ५ शताब्दी)के बाद फिर उसे किसी बड़े राज्यकी राजाधानी बनाने का मौका न मिला। पाँचवीं शताब्दीके आरम्भमें फाहियानने भी इसे दो सौ घरोंका गाँव देखा था। युन्-च्वेङ्गने भी इसे उजाड़ देखा। इसलिये इतना कहा जा सकता है कि श्रावस्तीकी सीमा-वृद्धिका कभी मौका नहीं आया; और वर्तमान 'महेट'का १७,२५० फीटका घेरा श्रावस्तीकी पुरानी सीमाको बढ़ाकर नहीं सूचित करता है।

श्रावस्ती भारतके बहुत ही पुराने नगरोंमेंसे है; इसलिये उसके

^१ "केवटद्वारा निक्खम्म अहु मय्हं निवेसनं।"

—(वि० व० २:२)

^२ "सावत्थिनगरद्वारे केवट्टगामे...पञ्चकुलसतजेट्टकस्स केवट्टस्स पुत्तो...यसोजो...।"

—(उदान० ३।३, अ० क० ११९)

भीतर नियमपूर्वक खुदाई होनेसे अवश्य हमें बहुतसी ऐतिहासिक सामग्री हाथ लगेगी। हम पटनामें मौर्योंका तल, वर्तमान धरातलसे १७ फुट नीचे पाते हैं। श्रावस्तीमें भी बुद्धकालीन सामग्रीके लिये हमें उतना नीचे जाना पड़ेगा। डाक्टर फोगलने प्राकारोंके अनेक स्थानोंपर ईटें पाई हैं, जो तल और लम्बाई-चौड़ाईके विचारसे ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे ईस्वी दशवीं शताब्दी तककी मालूम होती हैं। महेटके प्राकारमें जहाँ कहीं भी जमीन कुछ नीची जान पड़ती है, लोग उसे दर्वाजा कहते हैं, और ये आसपासके किसी वृक्ष या गाँवके नामसे मशहूर हैं। ऐसे दर्वाजे अट्टाइसके करीब हैं। डाक्टर फोगलने इनकी परीक्षा करके इनमेंसे ग्यारहको ही दर्वाजा माना है, जिनमें उत्तर तरफ एक, पूर्व तरफ एक, दक्षिण तरफ चार, और पश्चिम तरफ पाँच हैं। इनमेंसे कौन त्रिपिटक और अट्टकथामें वर्णित चारों दर्वाजे हो सकते हैं, इस पर ज़रा विचार करना है।

उत्तर द्वार

ऊपरके उद्धरणसे मालूम होता है कि जब बुद्ध उत्तर दर्वाजेकी तरफ जाते थे तो लोग समझ लेते थे कि अब वे विचरणके लिये जा रहे हैं। इतना ही नहीं, वहाँ^१ ही हम भद्रियके लिये प्रस्थान करते हुए उन्हें उत्तर द्वारकी ओर जाते हुए देखते हैं। पर 'भद्रिया' अंगदेशमें (गंगाके तटपर मुंगेरके आसपास) एक प्रसिद्ध व्यापारी नगर था। श्रावस्तीसे पूर्व की ओर जानेवाला मार्ग उत्तर द्वारसे था। इसके बाहर अचिरवतीमें^२

^१ "अथेकदिवसं सत्था... भद्रियनगरे... भद्रियस्स नाम सेट्ठिपुत्तस्स उपनिस्सयसम्पत्तिं दिस्वा... उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसि।"

—(ध० प० ४।८, अ० क० २८०)

^२ "तेन खो पन समयेन मनुस्सा उलुम्पं बन्धित्त्वा अचिरवतिया नदिया ओसादेन्ति। बन्धने छिन्ने कट्टानि विप्पकिण्णानि अगमंसु।"

—(पाराजिक २। पृ० ६८)

काठकी डोंगियोंका पुल रहता था। इससे पार होकर पूर्वका रास्ता था। उत्तर तरफके दर्वाजोंमें सिर्फ नौसहरा^१ ही एक दर्वाजा है, जिसे डाक्टर फोगलके अन्वेषणने पुराना दर्वाजा सिद्ध किया है। बाजार-दर्वाजेसे, जिसे हम दक्षिण दर्वाजा सिद्ध करेंगे, कच्ची कुटीतक चौड़ी सड़कका निशान अब भी स्पष्ट मालूम होता है। यही नगरकी सर्वप्रधान सड़क थी। दक्षिण दर्वाजेका बाजार-दर्वाजा नाम भी सम्भवतः कुछ अर्थ रखता है। कच्ची कुटीके पाससे एक रास्ता नौसहरा-दर्वाजेको भी जाता है। नौसहरा-दर्वाजा ही श्रावस्तीका उत्तर द्वार है, जिसके बाहर एक गाँव बसा हुआ था। सड़कके किनारे वाले भागपर कही राजकचहरी थी, जिसमें वर्षासे बचनेके लिये भिक्षु चले गये थे, और वहाँ उन्होंने जजोंको घूस लेकर मालिकोंको बेमालिक बनाते देखा।

पूर्वदर्वाजा

यह बहुतही महत्त्वपूर्ण दर्वाजा था। इसके ही बाहर पूर्वाराम था। पूर्वाराम बहुत ही प्रसिद्ध स्थान था, इसलिये उस जगह स्तूप आदिके ध्वंस अवश्य मिलने चाहियें। गंगापुर-दर्वाजेको ही डाक्टर फोगलने पूर्व तरफमें वास्तविक दर्वाजा माना है। इसके अतिरिक्त काँदभारी-दर्वाजा भी पूर्व-दक्षिण कोनेपर है, जिसे भी पूर्व ओर लिया जा सकता है; लेकिन (१) हमने ऊपर देख लिया है कि आनन्दको राजा प्रसेनजित्ने पूर्व दर्वाजेके बाहर देखा था, जहाँसे अचिरवती बिलकुल पास थी। काँदभारीके स्वीकार करनेसे वह दूर पड़ जायगी। (२) भगवान् बुद्ध सदाही दक्षिण दर्वाजेसे नगरमें प्रवेश कर, फिर पूर्व दर्वाजेसे निकलकर पूर्वाराम जाते देखे जाते हैं। यदि

^१ "Along the river face,.....only one.....Nausahra Darwaza...has proved to be one of the original City-gates."

काँदभारी-दर्वाजा पूर्व दर्वाजा होता, तो जेतवनसे बाहरही बाहर पूर्वाराम जाया जा सकता था, जिसका कहीं जिक्र नहीं है। (३) पुब्वकोट्टक^१ जो कि अचिरवतीके पास था, वह पूर्वारामके भी पास था, क्योंकि भगवान् सायंकालको स्नानके लिये वहाँ जाते हैं। पासमें रम्यक ब्राह्मणके आश्रममें व्याख्यान भी देते हैं, और फिर पूर्वाराम लौट भी आते हैं।

लेकिन इसके विरुद्ध सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि गंगापुर-दर्वाजेके बाहर आसपास कोई ऐसा ध्वंसावशेष डाक्टर फोगलके नकशेमें नहीं दिखाई पड़ता। साथ ही काँदभारी-दर्वाजेके बाहर ही हम हनुमनवाँके ध्वंसावशेषको देखते हैं। स्थानको देखनेपर काँदभारी-दर्वाजा ही पूर्व दर्वाजा, तथा हनुमनवाँ पूर्वाराम मालूम होता है।

दक्षिणद्वार

दक्षिणद्वार नगरका एक प्रधान द्वार था। जेतवन जानेका यही रास्ता था। दर्वाजे और जेतवनके बीचमें अक्सर राजकीय सेनाएँ^२ पड़ाव डालती थीं। कारवाँ^३ भी इसी बीचकी भूमिमें ठहरते थे। यही

१ पिंडपातपटिककन्तो येन पुब्बारामो तेनुपसङ्कमि । . . . सायन्ह-समयं पटिसल्लाणा बुद्धितो येन पुब्वकोट्टको गत्तानिपरिसिञ्चितुं अथ आनन्वो अयं भन्ते, रम्मकस्स ब्राह्मणस्स अस्समो अबि-बूरे, साधु भन्ते उपसंकमनु अनुकम्पं उपादायाति । . . . भगवा अस्समं पविसित्त्वा भिक्खु आमन्तेसि ।”

—(म० नि० १।३।६)

२ “एकास्मि समये वस्सकाले कोसलरञ्जो पचचन्तो कुप्पि । . . . । राजा अकाले वस्सन्ते येव निक्खमित्त्वा जेतवनसमीपे खन्धावारं बन्धित्त्वा चिन्तेसि” ।

—(जा० १७६, पृ० ४२९)

३ “सेतव्यवासिनो हि . . . भातरो कुटुम्बिका . . . अथेकास्मि समये ते

दरवाजा साकेत (अयोध्या) जानेका भी था। दक्षिण द्वार और जेतवन^१ के मध्यमें एक जलाशयका वर्णन मिलता है। तमाशे^२के लिये भी यही जगह निश्चित थी। श्वेताम्बी कपिलवस्तुके रास्तेमें थी, इसलिये वहाँसे श्रावस्ती आनेमें उत्तरद्वारके सामने नदी उतरना पड़ता था; फिर गाड़ियोंका नगरके दक्षिणमें ठहरना बतलाता है कि श्रावस्ती और जेतवनके बीचकी भूमिमें खुली जगह थी, जो पड़ावके लिये सुरक्षित थी। वैतारा ताल तथा और भी कुछ नीची भूमि, सम्भवतः पुराने जलाशयोंको सूचित करती है। सवाल यह है कि कौनसा प्रसिद्ध दक्षिणद्वार है, जिससे जेतवनमें आना-जाना होता था। डाक्टर फोगलके अनुसार गेलहो-दरवाजा ही वह हो सकता है, क्योंकि यह दरवाजा सबसे नजदीक है। किन्तु उसके दरवाजा न होनेमें एक बड़ी भारी रुकावट यह है कि जेतवनका दरवाजा पूर्वमुख था। यदि गेलहो-दरवाजा उस समय दरवाजा होता, तो उसके लिये जेतवनका दरवाजा उत्तर मुँहका बनाना पड़ता। यद्यपि चीनी यात्रीके अनुसार एक दरवाजा उत्तरको था, किन्तु पालीग्रन्थोंमें उसका कुछ भी पता नहीं है। इस प्रकार दक्षिणद्वार

उभोपि भातरो पञ्चहि सकटसतेहि नाना भण्डं गहेत्वा सावत्थि गन्त्वा सावत्थिया च जेतवनस्य च अन्तरे सकटानि मोचयिषु।”

—(ध. प. १.६ अ. क. ३३)

१ “तेन खो पन समयेन सम्बहुला कुमारका अन्तरा च सावत्थि अन्तरा च जेतवनं मच्छके बाधेन्ति । . . . भगवा पुब्बण्हसमयं . . . सावत्थियं पिडाय पाविसि । . . . उपसंकमित्वा—भायथ तुम्हं कुमारका बुक्खस्स” (मग्गसमीपे तलाके निदाघकाले उदके परिकखीणे . . . ।)

—(उदान० ५।४, पृ० १९६)

२ (चन्दाभत्थेरो, सहायको च) . . . एवं अनुविचरन्ता सावत्थियं अनुप्पत्ता नगरस्स च विहारस्स च अन्तरा वासं गण्हसु।”

—(ध० प० २६।३०, अ० क० ६७०)

वैतारा और बाजार-दर्वाजा दोनोंहीमेंसे कोई हो सकता है। पालीग्रन्थोंमें जेतवन श्रावस्ती (दक्षिणद्वार) से न बहुत दूर था न बहुत समीप, यही मिलता है। गेलही-दर्वाजेसे जेतवन १३८६ फीट या चौथाई मीलसे कुछ अधिक है। अट्टकथासे मालूम होता है कि लोग जेतवन जाते वक्त नगरकी बड़ी सड़कसे^१ जाते थे। दूसरी जगह हम देखते हैं कि श्रावस्ती जानेवाली सड़क जेतवनसे पूर्व होकर जाती थी। इन सारी बातोंपर विचार करनेसे गेलही-दर्वाजा दक्षिणद्वार नहीं, बाजार-दर्वाजाही हो सकता है क्योंकि इससे जेतवनके पूर्वमुख होनेकी भी वजह मालूम हो सकती है। बाजार-दर्वाजा दक्षिण द्वार होनेके लायक है, इसके बारेमें डाक्टर फोगल लिखते हैं^२—“यह १२ फुट चौड़ा मार्ग एक ऐसे बड़े मार्गपर जाकर समाप्त होता है जो सीधे उत्तरकी ओर जाकर ‘कच्ची कुटी’के भग्नावशेषके दक्षिणपूर्वमें स्थित एक मैदानमें मिल जाता है। बाजार-दर्वाजा वस्तुतः किसी पुराने नगर-द्वारके ही स्थान पर है ऐसा माननेके लिये सबल कारण है क्योंकि यही से एक बड़ी सड़क या बाजारका आरम्भ होता है।”

इस प्रकार बाजार-दर्वाजा एक पुराना दर्वाजा सिद्ध होता है, तथा उसकी सड़क उपरोक्त महावीथी होने लायक है। इसके विरुद्ध वैतारा-दर्वाजेके बारेमें डा० फोगलका कहना है कि इमारतोंके ध्वंसावशेषकी अनुपस्थितिमें इस स्थानपर किसी फाटकके अस्तित्वका सिद्ध करना असम्भव है। इस तरह वैतारा-दर्वाजेके दर्वाजा होनेमें भी सन्देह है। तिन्दुका-चीर मल्लिकाराम^३ दक्षिणद्वारके पास था। बाजार-दर्वाजेसे प्रायः

^१ “सो एक दिवसम्हि पासादवरगतो सिंहपञ्जरं उग्घाटेत्त्वा महावीथिय ओलोकेन्तो गन्धमालादिहृत्थं महाजनं धम्मसवनत्थाय जेतवनं गच्छन्तं दिस्वा.....” —(सुवण्णसामजातक ५३९)

^२ Archæological Report, 1907-8.

^३ “भगवा. जेतवने.। पोट्टपादो परिब्बाजको समयप्पवादके,

दो सौ गज पूर्व तरफ अब भी एक ध्वंसावशेष है; इसपर एक छोटा सा मन्दिर चीरेनाथके नामसे विख्यात है। क्या इस चीरेनाथका 'तिन्दुका-चीरे' के चीरेसे तो कोई सम्बन्ध नहीं है? इस प्रकार बाजार-दर्वाजा ही दक्षिणद्वार मालूम होता है, जहाँसे जेतवनद्वार ३७०० फीट पड़ेगा, जो कि गेलहो-दर्वाजे (१३८६')की अपेक्षा अधिक तथा युन्-च्चेङ्के ५,६ (फाहियान-६,७)ली के समीप है।

केवट्टद्वार

केवट्टद्वारके बारेमें हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि उसके बाहर पाँच सौ घर मल्लाहोंका एक गाँव (केवट्ट गाम) बसता था। मल्लाहोंका गाँव नदीके समीप होना आवश्यक है। अचिरवतीकी तरफ नगरका प्रधान द्वार उत्तर-द्वार था। उत्तर-द्वारका ही दूसरा नाम केवट्टद्वार था, इसके माननेके लिये हमें कोई कारण नहीं मिलता। तब यह दर्वाजा सम्भवतः राजगढ़दर्वाजा था, जो कि महेटके पूर्व-उत्तर कोनेपर नदीके समीप पड़ता है।

श्रावस्ती नगरके भीतरकी वस्तुओंमें राजकाराम, राजप्रासाद, अनाथ-पिंडक और विशाखाके घर, राजकचहरी, बाजार यह मुख्य स्थान हैं; जिनका थोड़ा बहुत वर्णन हमें अट्टकथाओं और त्रिपिटकसे मिलता है।

तिन्दुकाचीरे एकसालके मल्लिकाय आरामे पटिवसति...सिद्धि तिसमत्तेहि परिब्बाजकसतेहि। भगवा...सावत्थिं पिण्डाय पाविसि।...अति-प्यगो खो ताव,....पिण्डाय चरित्तुं, यन्नुनाहं...येन पोट्टपादो परि-ब्बाजको तेनुपसंकमेय्यन्ति।”

—(दी० नि० १।९)

“नगरद्वारसमीपं गन्त्वा अत्तनो रुच्चिवसेन सुरियं ओलेकेस्सा....”

—(अ० क० २३९)

राजकाराम

यह भिक्षुणियोंका आराम था। इसके बनानेके बारेमें धम्मपदअट्टकथामें^१ इस प्रकार कहा गया है—“बौद्ध भिक्षुणियोंमें सर्वश्रेष्ठ उत्पलवर्णा एक समय चारिकाके बाद अन्धवनमें वास कर रही थी। उस समय तक भिक्षुणियोंके लिये अरण्यवास निषिद्ध नहीं ठहराया गया था।..... उत्पलवर्णापर आसक्त उसके मामाके लड़के नन्दने उसपर बलात्कार किया। भगवान्ने इसपर राजा प्रसेनजित्से नगरके भीतर भिक्षुणीसंघके लिये निवास-स्थान बनानेको कहा। राजाने नगरमें एक तरफ आराम बनवा दिया। इसके बाद भिक्षुणियाँ नगरके भीतर ही वास करती थीं।” मज्झिमनिकायमें—“महाप्रजापति गौतमीने पाँच सौ भिक्षुणियोंकी जमातके साथ जेतवनमें^२ जाकर भगवान्से भिक्षुणियोंको उपदेश देनेके लिये प्रार्थना की।

१ “उप्पलवण्णा.....जनपदचारिकं चरित्त्वा पच्चागता अन्धवनं पाविसि। तदा भिक्खुणीनं अरञ्जावासो अपटिक्खित्तो होति। अथ'स्सा तत्थ कुटिकं कत्त्वा मञ्चकं पञ्जापेत्त्वा साणिया परिक्खिपिसु।.....मातुलपुत्तो पनस्सा नन्दमाणवो....अभिभवित्त्वा अत्तना पत्थितकम्मं कत्त्वा पायासि।....सो पठविं पविट्ठो।.....सत्था पन राजानं पसेनदिकोसलं पक्कोसापेत्त्वा....भिक्खुणीसङ्घस्स अन्तो नगरे वसनट्टानं कातुं वट्टतीति। राजा....नगरस्स एकपस्से भिक्खुणीसंघस्स वसनट्टानं कारापेसि। ततो पट्टाय भिक्खुनियो अन्तो गामे एव वसन्ति।” —(ध० प० ५।१०, अ० क० २३७-२३९)

२ “जेतवने.....महापजापती गोतमी पञ्चमत्तेहि भिक्खुनीसतेहि सर्द्धि.....उपसङ्कमित्त्वा.....अवोच—ओवदतु भन्ते भगवा, भिक्खुनियो.....। भगवा आयस्मन्तं नन्दकं आमन्तेसि—ओवद नन्दक, भिक्खुनियो।.....। अथ.....नन्दको....येन राजकारामो तेनु'पसंकमि। —(म० नि० ३।५।४)

भगवान्ने इसपर आयुष्मान् नन्दकको उपदेश देनेके लिये राजकाराम भेजा । अट्टकथामें^१ राजकारामके बारेमें इस प्रकार लिखा है—‘राजा प्रसेनजित्का बनवाया, नगरके दक्षिणकोणमें (अनुराधपुरके) थूपारामके समान स्थानपर विहार।’ इस आरामका नगरके दक्षिणी किनारेपर होना स्पष्ट है । साथ ही यह दक्षिणद्वारसे बहुत दूर नहीं था, क्योंकि हम आनन्दको भिक्षुणियोंके आश्रममें जाकर उन्हें उपदेश देकर, पीछे पिण्डपातके लिये जाते देखते हैं^२ ।

अब हमें यह देखना है कि राजकाराम बाजार-दर्वाजेसे किधर हो सकता है । नक्शेके देखनेसे मालूम होगा कि वैतारा-दर्वाजेसे इमली-दर्वाजेतक प्राकारकी जड़में, नगरके भीतरकी तरफ मन्दिरोंकी जगह है । इसमें पश्चिमका भाग जैन मन्दिरों द्वारा भरा हुआ है और पूर्वीय भाग ब्राह्मण मन्दिरों द्वारा । मालूम होता है ब्राह्मण मन्दिरके पूर्व, प्राकारसे सटा ही, राजकाराम था, जिसमें महाप्रजापती गौतमी अपनी भिक्षुणियोंके साथ रहा करती थीं । यून-च्चेङ्गने राजा प्रसेनजित्का बनवाया हाल, और प्रजापती भिक्षुणीका विहार अलग अलग वर्णन किया है; किन्तु पाली ग्रन्थोंमें नगरके भीतर राजा प्रसेनजित् द्वारा बनवाया भिक्षुणियोंका आराम ही आता है, जिसे राजकाराम कहते थे ।

अनाथपिण्डकका घर

इसमें सन्देह नहीं कि बाजार-दर्वाजेसे उत्तर-दक्षिण जानेवाली सड़क श्रावस्तीकी महावीथी (सबसे बड़ी सड़क) थी । यह विस्तृत सड़क सीधी

^१ “पसेनदिना कारितो नगरस्स दक्खिणानुदिसाभागे थूपारामसदिसो ठाने विहारो....। —(अ० क० १०२१)

^२ आयस्मा आनन्दो पुब्बण्हसमयं.....येन’ञ्जातरो भिक्खु-न’पस्सयो तेनु’पसंकमि ।भिक्खुनियो धम्मिया कयाय सन्दस्सेत्त्वाउट्टायासना पक्कामि.....सावत्थियं पिण्डाय

नगरके उत्तरी भागतक चली गई है । झाड़ियोंसे रहित इस मार्गकी अगल-बगलकी सीमाएँ अबतक स्पष्ट हैं। नगरका बाजार और बड़े बड़े धनिकोंका घर इसीके किनारेपर होना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार अनार्थपिंडकके घरको भी इसीके किनारे ढूँढ़ना पड़ेगा। धम्मपद-अट्टकथासे मालूम होता है कि अनार्थपिंडकका^१ घर ऐसे भागपर था, जहाँसे पूर्व और उत्तर दर्वाजोंको रास्ता अलग होता था। अनार्थपिंडकके घरसे ही उत्तर दर्वाजे^२की तरफ होने को, विशाखा तभी जान सकती थी, जब कि वहाँसे सीधा रास्ता उत्तर दर्वाजेको गया हो। ऐसा स्थान कच्ची कुटी ही है; जो महावीथीके उस स्थानपर अवस्थित है, जहाँसे एक रास्ता नीसहरा-दर्वाजे (उत्तर-द्वार)को मुड़ा है। यून-च्चेङ्ग्ने प्रजापतीके विहारसे इसे पूर्व ओर बतलाया है; लेकिन उसके साथ इसकी संगति बैठानेका कोई उपाय नहीं है, जब कि राजकारामका दक्षिण द्वारके पास प्राकारकी जड़में होना निश्चित है। अनार्थपिंडकका घर सात महल और सात दर्वाजोंका था। जातकमें^३ उसके चौथे दर्वाजेका भी जिक्र आया है, जिसपर एक देवताका वास था।

^१ “घरं सत्तभूमकं सत्तद्वारकोट्टकपत्तिमण्डितं, तस्स चतुत्थे द्वारकोट्टके एका देवता. . . .।—(जातक० १, पृ० १९७)

^२ “अनार्थपिंडकस्स गेहे भत्तकिच्चं कत्वा उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसिं। पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्खं गण्हित्वा बक्खिणद्वारेण निक्खमित्वा जेतवने वसति। अनार्थपिंडकस्स गेहे भिक्खं गहेत्वा पाचीनद्वारेण निक्खमित्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वारं सन्धाय गच्छन्तं. . . . विसाखापि. . . . सुत्वा. . . . गत्वा. . . .”।

—(ध० प० ४१९, अ० क० २००)

^३ १४२ “अनार्थपिंडकस्स घरे चतुत्थे द्वारकोट्टके वसनक भिच्छा-दिट्ठिदेयता।. . . .

—(जातक २८४, पृ० ६४९)

विशाखाका घर

विशाखाका श्वशुर मिगार सेठ श्रावस्तीके सबसे बड़े धनियोंमें था। इसका भी मकान अनार्थापिण्डकके मकानके पासमें ही था। क्योंकि ऊपरके उद्धरणमें हम पाते हैं कि भगवान्के अनार्थापिण्डकके घरसे उत्तरद्वारकी ओर जानेकी खबर तुरन्त विशाखाको लग गई। सम्भवतः पक्की कुटी या स्तूप “ए” विशाखाके घरको चिन्हित करते हैं।

राजमहल

यह (१) अचिरवती नदीके किनारे था क्योंकि राजा प्रसेनजित् और मल्लिका देवीने अपने कोठेपरसे अचिरवतीमें खेलते-नहाते हुए छवग्गीय भिक्षुओंको देखा। (२) पुब्वकोट्टक^१ इससे बहुत दूर न था क्योंकि राजाके नहानेके लिये यहाँ एक खास घाट था। (३) वह^२ विशाखाके घर और पूर्व-द्वारके बीचमें, पूर्वद्वारके समीप पड़ता था, क्योंकि विशाखा राजाके पास वहाँ अधिक चुञ्जी लेनेके विषयमें फरियाद करने जाती है, फिर वहाँसे दूर न होनेकी वजह पूर्वाराम चली जाती है; तब भगवान्के मध्याह्नमेंहो आनेका

१ “कस्सपइसबलस्सकाले अचिरवती... उदकेन भिन्वित्वा महन्तं उदकदहं मापेसि समतित्थं अनुपुब्वगम्भीरं। तत्थ एको रञ्जो नहान-तित्थं, एकं नागरानं, एकं भिक्खुसंघस्स, एकं बुद्धानन्ति...।”

—(म० नि० १।३।६, अ० क० ३७१)

२ “विसाखाय... कोचिदेव अत्थो रञ्जो पसेनदिम्हि... पटिबद्धो होति। तं राजा पसेनदि... न यथाधिप्पायं तीरेति। अथ खो विसाखा... दिवादिवस्स उपसंकमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा... निसीदि।... हन्त! कुतो नु त्वं विसाखे आगच्छसि दिवादिवस्स ?”

—(उदान० २।९)

कारण पूछनेपर वह राजद्वारके कामको बतलाती है। विशाखाका घर महा-
वीथीपर अनाथपिण्डकके घरके पासही था, यह हम पहले बतला आये हैं।
(४) राजा प्रसेनजित्के हाथीपर सवार होकर नगरसे बाहर जाते वक्त
आनन्दसे पूर्वद्वारके बाहर भेंट होना भी बतलाता है कि राजमहल पूर्व-
द्वारके समीप था। राजाकी यह यात्रा किसी विशेष कामके लिये न थी,
अन्यथा उसे आनन्दसे अचिरवतीके किनारे पेड़के नीचे बैठकर व्याख्यान
सुननेकी फुर्सत कहाँ होती? बिना कामके दिलबहलावके लिये नगरसे बाहर
निकलनेमें उसका महलके नजदीक वाले दर्वाजेसे ही शहरके बाहर
जाना अधिक सम्भव मालूम होता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे
मालूम होता है कि राजकीय प्रासाद उत्तरमें नौसहरा-दर्वाजेसे बाँकीदर्वाजे
तक, और दक्षिणमें महावीथीके मकानसे गङ्गापुर-दर्वाजे तक था। युन्-
च्चेङ्का^२ कहना है—“राजप्रासादसे थोड़ीही दूर पूर्वकी ओर एक स्तूप
है जो पुरानी बुनियादों पर खड़ा है। यह वह स्थान है जहाँ राजा प्रसेनजित्
द्वारा बुद्धके उपयोगके लिये बनवायी हुई शाला थी। इसके बाद एक
बुर्ज है। यहींपर प्रजापतीका विहार था।” इसके अनुसार राजमहल
राजकारामसे पश्चिम था। लेकिन ऐसा स्वीकार करनेपर, वह अचिर-
वतीके किनारे नहीं हो सकता, जिसका प्रमाण अट्टकयासे भी पुराने
विनयग्रन्थोंमें मिलता है।

१ “जातिकुलतो... मणिमुत्तादिरचितं भण्डजातं तस्या पण्णाका-
रत्थाय पेसितं। तं नगरद्वारप्पत्तं सुङ्किा... सुंकं... अतिरेकं गण्हिसु।
दिवादिवस्साति... मज्झन्तिके कालेति अत्थो। राजनिवेसनद्वारं गच्छन्ती
तस्स अत्थस्स अनिट्ठित्ता निरत्थकमेव उपसङ्कमि, भगवति उपसङ्कमनमेव
पन... सत्थकन्ति... इमाय वेलाय इधागता'ति।

—[उ० अ० क० १०५ (११०)]

^२ Beal, pp. 92, 93.

कचहरी

हमें मालूम है, कि उत्तर द्वारसे नगरके भीतर होकर आते हुए भिक्षुओं-को 'विनिच्छयसाला' (कचहरी) मिली थी, जहाँ उन्होंने जजोंको घूस लेकर अन्याय करते देखा था। कचहरीका राजकीय महलके हलकेसे मिला हुआ होना अधिक सम्भव प्रतीत होता है। इस प्रकार यह कचहरी राजमहलके उत्तर-पश्चिमके कोणवाले भागपर नौसहरा-दर्वाजेके पास ही होगी।

महावीथी

(१) यह नगरकी प्रधान सड़क थी, यह इसके नामसे स्पष्ट है।
 (२) सुवर्णसामजातकमें^१ उल्लिखित धनी सेठका मकान, सम्भवतः अन्य सेठोंकी भाँति, इसी महावीथीपर था। यह वीथी जेतवन जानेवाले द्वार—दक्षिणद्वार—को सीधी जाती थी, तभी तो वह सेठ अपने मकानसे लोगोंको गन्धमाला लेकर भगवान्‌के दर्शनार्थ जाते हुए देखकर उनका जेतवन जाना निश्चित कर रहा है। (३) अनार्थपिण्डकके मकानसे निकलते ही मालूम हो जाता था, कि भगवान्‌ पूर्व दर्वाजेको जा रहे हैं, या उत्तरवाले दर्वाजेको। दक्षिणदर्वाजेको जानेवाली वीथी हमें मालूम ही है, जिसकी विशेषता इस समय भी स्पष्ट है। इस प्रकार दक्षिण(बाजार)दर्वाजेसे उत्तर मुँहको जो चौड़ी सड़कसी हमें मालूम पड़ रही है, यही महावीथी है; जिसके बारेमें कि डा० फोगलने सर्वे रिपोर्टमें^२ लिखा है।

१ "सावत्थियं किर अट्टारसकोटिविभवस्स एकस्स सेट्टिकुलस्स एकपुत्तो अहोसि। सो एकविवसम्हि पासादवरगतो सीहपञ्जरं उग्घाटेत्वा महावीथियं ओलोकेन्तो गन्धमालाविहत्थं महाजनं धम्मस्सवनत्थाय जेतवनं गच्छन्तं विस्वा....।

—(सुवर्णसामजातक ५३९)

२ "A Passage 12' wide which gives access to a

दक्षिण दरवाजेका बाजार-दरवाजा नाम भी इस विषयमें खास अर्थ रखता है।

गण्डम्बरकख

यद्यपि भगवान्के समयमें इस आमके^१ वृक्षका होना सम्भव नहीं है, किन्तु, परवर्ती कालमें इसका अधिक महत्त्व पाया जाना बिल्कुल निश्चित है। ५२२ ई० पू०की आषाढी पूर्णिमाके दिन नगरमें प्रवेश करनेपर, कहते हैं, गण्ड उद्यानपालने एक पका आम भगवान्को दिया। भगवान्ने खाकर उसे वहाँ रोपवा दिया, और उनकी अद्भुत शक्तिसे वह उसी समय बड़ा वृक्ष हो गया। कुछ भी हो, परवर्तीकालमें बाजार-दरवाजेके अन्दर बाजारके घरोंसे पहिलेही, अर्थात् दरवाजेसे थोड़ाही आगे एक आमका

broad path leading almost due north and widening out into a glade, which is situated south-east of the ruined temple known as the Kachhikuti, the Bazar Darwaza it seems to be the starting point of a broad street or bazar”

A. S. R., 1907-8, p. 86

^१ “सत्या आसाढ्हिपुण्णमदिवसे अन्तोत्तनगरं पाविसि। रञ्जो उय्यानपालो गण्डो नाम अम्बपक्कं आदाय गच्छन्तो अन्तरामगे सत्थारं दिस्वा चिन्तेसि—राजा इमं अम्बं खादित्त्वा मय्हं अट्ट वा सोलस वा क्हापणे ददेय्य। . . . सो तं अम्बं सत्थु उपनामेसि। . . . सत्या . . . अम्बपानकंपिबित्त्वा गण्डं आह—इमं अम्बाट्ठि इधेव रोपेहीति। . . . हत्थे धोतमत्ते येव . . . पण्णासहत्थो अम्बरुक्खो . . . पुप्फफलसंछन्नो हत्त्वा।”

—(ध० प० १४२, अ० क० ४४८)

वृक्ष था, जो इस प्रकारके चमत्कारका स्मारक था। इस स्थानपर भी कोई स्तूप अवश्य रहा होगा। सम्भवतः यह वृक्ष महावीर्योसे राजकाराम जानेवाले मोड़पर ही था।

पञ्चछिद्दकगेह, ब्राह्मणवाटक

पञ्चछिद्दकगेह भी एक बड़े चमत्कारका स्थान है। चमत्कारिक स्थानोंके लिये जनताका अधिक उत्साह सभी धर्मोंमें देखा जाता है। इसका 'पञ्चछिद्दकगेह' नाम कैसे पड़ा, यह अट्ठकथा^१में दिया गया है। यद्यपि ऐसे किसी स्थानका वर्णन फाहियान और युन्-च्चेङ्गमेंसे किसीने नहीं किया है; तोभी यह स्थविरवादियोंकी पुरानों परम्परापर अवलम्बित है। युन्च्चेङ्गके समयमें भी श्रावस्ती और उसके आसपासके विहार साम्प्रतीय सम्प्रदायके भिक्षुओंके आधीन थे जो कि हीनयानी थे, और महायानकी अपेक्षा विभज्जवाद (स्थविरवाद)से बहुत मिलतेजुलते थे। वस्तुतः युन्-च्चेङ्गका वर्णन श्रावस्तीके विषयमें अत्यन्त संक्षिप्त

^१ "एका किर ब्राह्मणी चतुन्नं भिक्खूनं उद्देसभत्तं सज्जेत्वा ब्राह्मणं आह—धिहारं गत्वा चत्तारो महल्लकब्राह्मणे उद्दिसित्त्वा आनेहीति। . . .। तत्थ संकिच्चो, पण्डितो, सोपाको, रेवतोति सत्तवस्सिका चत्तारो खीणासवसामणेरा पापुणिसु। ब्राह्मणी सामणेरे दिस्वा कुपिता। अथ तेसं गुणतेजेन (सक्को) जराजिण्णमहल्लकब्राह्मणो हुत्वा तस्मिं ब्राह्मण-वाटके ब्राह्मणानं अग्गासने निसीदि। ब्राह्मणो . . . तं आदाय गेहं अगमासि। . . . पञ्च' पि जना आहारं गहेत्वा एको कण्णिकामंडलं विनिविज्झित्वा एको छदनस्स पुरिमभागं एको पच्छिमभागं एको पठविया निमुज्जित्वा सक्कोपि एकेन ठानेन निक्खमित्वाति एवं पञ्चधा अगमंसु। ततो पट्टाय च पन तं गेहं पञ्चछिद्दकगेहं किर नाम जातं।"

—(ध० प० २६।२३, अ० क० ६६३, ६६४)

है, इसलिये पञ्चछिद्रगोहका छूट जाना स्वाभाविक है। कथा यों है—
 “एक ब्राह्मणीने बड़े स्यविरोंको निमन्त्रित किया। सात वर्षके लड़कों-
 को आया देखकर ब्राह्मणी असन्तुष्ट हुई। फिर उसने अपने पतिको
 ब्राह्मणवाटसे ब्राह्मण लेनेको भेजा। उन श्रामणेरोंके तपोबलसे शक्र वृद्ध
 ब्राह्मणका रूप धारण कर ब्राह्मणवाटमें ब्राह्मणोंके बीच अग्रासनपर जाकर
 बैठ गया। ब्राह्मण शक्रको लेकर घर लौटा। चार श्रामणेर और शक्र
 भोजन कर पाँच ओरसे निकल गये। श्रामणेरोंमेंसे एक कोनियामें घुसकर
 निकल गया; एक छाजनके पूर्व भागमें, एक पश्चिम भागमें और एक पृथ्वीमें
 शक्र भी किसी स्थानसे बाहर चला गया। उस दिनसे उस घरका नाम
 पञ्चछिद्रकगोह पड़ गया।” यह ब्राह्मणवाट शायद श्रावस्तीमें ब्राह्मणोंका
 कोई विशेष पवित्र स्थान था, जहाँ ब्राह्मण इकट्ठे हुआ करते थे। घुसुंडी
 (पुरातन माध्यमिका)के पास के ई० पू० द्वितीय शताब्दीके शिलालेखमें^१
 ‘नारायणवाट’ शब्द आया है। ‘यज्ञवाट’ भी इसी प्रकारका एक शब्द
 है। ‘वाट’ शब्द विशेषकर पवित्र स्थानोंके लिये प्रयुक्त होता था। यह
 ब्राह्मणवाट कहाँ था, यद्यपि इसके लिये और कोई निश्चित प्रमाण हमारे
 पास नहीं है, तथापि अनुमान किया जा सकता है, कि यह ब्राह्मणोंके लिये
 बहुतही पवित्र स्थान रहा होगा। यद्यपि छठी शताब्दी ई० पू० (वि० पू०
 ४४३-५४२)में यज्ञोंका युग था, अभी मूर्तिपूजा आरम्भ न हुई थी; तोभी
 मूर्तिपूजाके युगमें इस स्थान की पवित्रताका ख्याल कर अवश्य इसे भी उपयुक्त
 बनाया गया होगा। हम देख आये हैं, कि श्रावस्तीके दक्षिण दीवारसे सटे
 हुए वैतारा-दर्वाजेसे शोभनाथ-दर्वाजे तककी भूमि हिन्दू और जैन मन्दिरों-
 के लिये सुरक्षित थी। भिक्षुणियोंके आराम (राजकाराम)को भी हमने
 यहीं निश्चित किया है। ऐसी हालतमें राजकाराम और जैन मन्दिरोंके

^१ श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द १६,
 पृ० २७

बीचकी भूमि, जिसमें कि हिन्दू मन्दिर स्थित हैं, अधिकतर ब्राह्मणवाट होनेके लायक है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपयुक्त स्थान ब्राह्मणवाटके लिये अचिरवतीके किनारेकी तरफ सूर्यकुण्ड या मीरासैयदकी कन्नकी जगहों-पर, ढूँढा जा सकता है।

सड़कें

महावीथीके अतिरिक्त एक ही और सड़क है, जिसका हमें पता है। यह है अनाथपिण्डकके घरसे पूर्वद्वारको जानेवाली।

चुङ्गीकी चौकियाँ

हम देख चुके हैं, कि नगरके दर्वाजोंपर चुङ्गीकी चौकियाँ थीं। चुङ्गी-वालोंने अधिक चुङ्गी ले ली थी, जिसके लिये विशाखाको राजाके पास जाना पड़ा था।

नगरके भीतर सम्बन्ध रखनेवाले स्थानोंमेंसे जिन जिनके विषयमें त्रिपिटक और उसकी अट्टकथाओंमें कुछ आया है, उनका हम वर्णन कर चुके हैं। बाहरवाले स्थानोंमें सबसे प्रधान है जेतवन। उसके बाद पूर्वाराम, समयप्पवादकआराम, अन्धवन, ये तीन स्थान हैं, जिनका वर्णन हमें त्रिपिटक और अट्टकथामें मिलता है।

(५)

जेटवन

जेटवन श्रावस्तीसे दक्षिण तरफ था; चीनी भिक्षुओके अनुसार यह प्रायः एक मील (५, ६, ७ ली)के फासले पर था। पुरातत्त्व-विषयक खोजोंसे निश्चित हो चुका है कि महेटसे दक्षिण सहेट ही जेटवन है। चीनी यात्रियोंके ग्रन्थोंमें हम इसका दर्वाजा पूर्व मुंह देखते हैं। जेटवनकी खुदाई-में जो दो प्रधान इमारतें निकली हैं, जिन्हें गंधकुटी और कोसंबकुटीसे मिलाया गया है, उनका भी द्वार पूर्वको ही है। यह इस बातकी साक्षी देते हैं कि मुख्य द्वार पूर्व तरफ था। नगरसे दक्षिण होनेपर भी प्रधान दर्वाजा उत्तर मुंह न होकर पूर्व मुंह था, इसका कारण यही था कि श्रावस्तीका दक्षिण द्वार वहाँसे पूर्व तरफ पड़ता था। जेटवन बौद्धधर्मके अत्यंत पवित्र स्थानों-मेंसे है। यद्यपि त्रिपिटकके अत्यंत पुरातन भाग दीघनिकाय (महापरि-निब्बानसुत्त^१)में जो चार अत्यंत पवित्र स्थान गिनाए गए हैं, उनमें इसका नाम नहीं है; तो भी दीघनिकायकी अट्ठकथा^२में इसे चार 'अविजहित'

^१चत्तारिमानि आनंद ! सद्धस्सकुलपुत्तस्स दस्सनीयानि....ठानानि... इध तथागतो जातोति,....इध तथागतो अनुत्तरं सम्मासम्बोधि अभिसम्बु-द्धोति,....इध तथागतेन अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तितन्ति,....इध तथागतो अनुपादिसेसाय निब्बाणधातुया परिनिब्बुतोति...।

—महा० परि० सुत्त, १६

^२चत्तारि अविजहितठानानि....बोधिपल्लङ्को....। धम्मचक्कप्पवत्तन-ट्ठानं इसिपत्ते मिगदाये....। देवो रोहणकाले संकस्सनगरद्वारे पठमपद-

स्थानोंमें रखा है। त्रिपिटकमें सुरक्षित बुद्धके उपदेशोंमें सबसे अधिक जेतवनमें हुए हैं। मज्झिमनिकायके डेढ़ सौ सुत्तोंमें ६५ जेतवन हीमें कहे गए; संयुक्त और अगूत्तर निकायमें तो तीन चतुर्थांशसे भी अधिक सुत्त जेतवनमें ही कहे गए हैं। भिक्षुओंके शिक्षापदोंमें भी अधिकतर श्रावस्ती— जेतवनमें ही दिए गए हैं। विनयपिटकके 'परिवार'ने नगरोंके हिसाबसे उनकी सूची इस प्रकार दी है—

कतमेसु सत्तासु नगरेसु पञ्जात्ता ।

.....

दस वेसालियं पञ्जात्ता, एकवीसं राजगहे कता ।

छ-ऊन-तीनि सतानि, सब्बे सावत्थियं कता ॥

छ आलवियं पञ्जात्ता, अट्ट कोसंबियं कता ।

अट्ट सक्केसु वुच्चन्ति, तयो भग्गेसु पञ्जात्ता ॥

—परिवार, गाथासंगणिक ।

अर्थात् साढ़े तीन सौ शिक्षापदोंमें २९४ श्रावस्तीमें ही दिए गए । और परीक्षण करनेपर इनमेंसे थोड़ेसे ही पूर्वाराममें और बाकी सभी जेतवन हीमें दिए गए । इसलिये जेतवनका^१ खास स्थान होना ही चाहिये ।

विनयपिटकके चुल्लवग्गमें जेतवनके बनाए जानेका इतिहास दिया गया है । विनयपिटककी पाँच पुस्तकें हैं—पाराजिक, पाचित्ति, महावग्ग, चुल्लवग्ग

गण्ठि....। जेतवने गन्धकुटिया चत्तारि मञ्जुपादट्टानानि अविजहितानेव होन्ति ।....विहारोपि न विजहति येव....। इदानि नगरं उत्तरतो विहारो दक्खिणतो....।

—दी० नि०, महापदानसुत्त, १४; अ० क० २८२

^१ इदं हि तं जेतवनं इसिसंघनिसेवितं ।

आउट्टं धम्मराजेन पीतिसंजननं मम ॥

—सं० नि०, १:५:८, २:२:१०

और परिवार। इनमेंसे परिवार तो पहले चारोंका सरल संग्रह मात्र है। संग्रह-समाप्ति ईसाकी प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें हुई जान पड़ती है। किंतु बाकी चार उससे पुराने हैं। इनमें भी महावग्ग और चुल्लवग्ग, जिन्हें इकट्ठा 'खंधक' भी कहते हैं, पातिमोक्खको छोड़ विनयपिटकके सबसे पुराने भाग है; और इनका प्रायः सभी अंश अशोक (तृतीय संगीति)के समयका मानना चाहिये। चुल्लवग्ग^१की कथा यों है—

“अनार्थपिंडक गृहपति राजगृहके श्रेष्ठीका बहनोई था। एक बार अनार्थपिंडक राजगृह गया। उस समय राजगृहके श्रेष्ठीने संघ-सहित बुद्धको निमंत्रित किया था। अनार्थपिंडकको बुद्धके दर्शनकी इच्छा हुई। वह अधिक रात रहते ही घरसे निकल पड़ा और सीवद्वारसे होकर सीतवन पहुँचा। उपासक बननेके बाद उसने सावत्थीमें भिक्षु-संघ सहित बुद्धको, वर्षा-वास करनेके लिये, निमंत्रित किया। अनार्थपिंडकने श्रावस्ती जाकर चारों ओर नजर दौड़ाई। उसने विचार किया कि भगवान्का विहार ऐसे स्थानमें होना चाहिये, जो ग्रामसे न बहुत दूर और न बहुत समीप हो। जहाँ आने जानेकी आसानी हो, आदमियोंके पहुँचने योग्य हो। जहाँ दिनमें बहुत जमघट न हो और जो रातमें एकांत और ध्यानके अनुकूल हो। अनार्थपिंडकने राजकुमार जेतके उद्यानको देखा जो इन लक्षणोंसे युक्त था। उसने राजकुमार जेतसे कहा—आर्यपुत्र! मुझे अपना उद्यान आराम बनानेके लिये दो। राजकुमारने कहा—वह (कहापणोंकी) कोटि(=कोर) लगाकर बिछानेसे भी अदेय है। अनार्थपिंडकने कहा—आर्यपुत्र! मैंने आराम ले लिया। बिका या नहीं बिका इसके लिये उन्होंने कानूनके मंत्रियोंसे पूछा। महामात्योंने कहा—आर्यपुत्र! आराम बिक गया, क्योंकि तुमने मोल किया। फिर अनार्थपिंडकने जेतवनमें कोरसे कोर मिलाकर मोहरें बिछा दीं। एक बारका

^१ विनयपिटक सेनासनक्खन्धक, पृ० २५४

लाया हुआ हिरण्य द्वारके कोठेके बराबर थोड़ीसी जगहके लिये काफी न हुआ। गृहपतिने और हिरण्य (—अशर्फी) लानेके लिये मनुष्योंको आज्ञा दी। राजकुमार जेतने कहा—बस गृहपति, इस जगहपर मत विछाओ। यह जगह मुझे दो, यह मेरा दान होगा। गृहपतिने उस जगहको जेत कुमारको दे दिया। जेत कुमारने वहाँ कोठा बनवाया। अनाथपिंडक गृहपतिने जेतवनमें विहार, परिवेण, कोठे, उपस्थानशाला, कण्णिय-कुटी, पाखाना, पेशाबखाना, चंक्रम, चंक्रमणशाला, उदपान, उदपानशाला, जंताघर, जंताघरशाला, पुष्करिणियाँ और मंडप बनवाए। भगवान् धीरे धीरे चारिका करते श्रावस्ती, जेतवनमें पहुँचे। गृहपतिने उन्हें खाद्य भोज्यसे अपने हाथों तर्पितकर, जेतवनको आगत अनागत चातुर्दिश संघके लिये दान किया।”

अनार्थपिंडकने ‘कोटिसंयारेन’ (कार्षापणोंकी कोरसे कोर मिलाकर) इसे खरीदा था। ई० पू० तृतीय शताब्दीके भरहुतके स्तूपमें भी ‘कोटिसंठतेन केता’ उत्कीर्ण है। अतः यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि कार्षापण विछाकर जेतवन खरीद करनेकी कथा ई० पू० तीसरी शताब्दीमें प्रसिद्ध थी।

पाली ग्रन्थों^१में जेतवनकी भूमि आठ करीष लिखी है। ‘करीसं चतुरम्मणं’ पालिकोप अभिधम्मपदीपिका (१९७)में आता है। डाक्टर रीस डेविड्सने ‘अम्मण’ (सिहली अमृण, सं० अर्मण)को प्रायः दो एकड़के बराबर लिखा है। इस प्रकार सारा क्षेत्रफल ६४ एकड़ होगा। श्री दयाराम साहनीने (१९०७-८ की Arch. S. R., p. 117) लिखा है—

“The more conspicuous part of the mound at the present is 1600 feet from the north-east corner to the south-west, and varies in width from 450’ to

^१ देखो उपर्युक्त चुल्लवग्गकी अट्टकथा ।

700', but it formerly extended for several hundred feet further in the eastern direction".

इस हिसाबसे क्षेत्रफल वार्स एकड़ होता है। यद्यपि अठारह करोड़ संख्या संदिग्ध है तो भी इसे कार्पापण मानकर (जिसका ही व्यवहार उस समय अधिक प्रचलित था) देखनेसे भी हमें इस क्षेत्रफलका कुछ अनुमान हो सकता है। पुराने 'पंचमार्क' चौकोर कार्पापणोंकी लंबाई-चौड़ाई यद्यपि एक समान नहीं है, तो भी हम उसे सामान्यतः '७ इंच ले सकते हैं, इस प्रकार एक कार्पापणसे '४९ या $\frac{1}{2}$ वर्ग इंच भूमि ढक सकती है, अर्थात् १८ करोड़ कार्पापणोंसे ९ करोड़ वर्ग इंच, जो प्रायः १४.३५ एकड़के होते हैं^१। आगे चलकर, जैसा कि हम बतलाएँगे, विहार नं० १९ और उसके आस-पासकी भूमि जेतवनकी नहीं है, इस प्रकार क्षेत्रफल १२००'×६००' अर्थात् १४.७ एकड़ रह जाता है, जो १८ करोड़के हिसाबके समीप है। गंधकुटी जेतवनके प्रायः बीचोबीच थी। खेत नं० ४८७ जेतवनकी पुष्करिणी है, क्योंकि नकशा नं० १ का डी० इसीका संकेत करता है। आगे हम बतलाएँगे कि पुष्करिणी जेतवन विहारके दर्वाजेके बाहर थी। पुष्करिणीके बाद पूर्व तरफ जेतवनकी भूमि होनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती। इस प्रकार गंधकुटीके बीचोबीचसे ४०० फीट पर, पुष्करिणीकी पूर्वीय सीमाके कुछ आगे बढ़कर जेतवनकी पूर्वीय सीमा थी। उतना ही पश्चिम तरफ मान लेनेपर पूर्व-पश्चिमकी चौड़ाई ८००' होगी। लंबाई जाननेके लिये जेतवन खास के विहार नं० ५ (कारेरि गंधकुटी)को सीमापर रखना चाहिये। गंधकुटीसे दक्षिण ६८०' उतना ही उत्तर ले लेनेसे लंबाई उत्तर-दक्षिण १३६०' होगी; इस प्रकार सारा क्षेत्रफल

^१बीघनिकाय अट्टकथा, महापदानसुत्त, २८। "अम्हाकं पण भगवतो पकतिमानेन सोळसकरीसे, राजमानेन अट्ट करीसे पदेसे विहारो पत्तिट्ठितोति ।"

प्रायः २५ एकड़के होगा। इस परिणामपर पहुँचनेके लिये हमारे पास तीन कारण हैं—(क) गंधकुटी जेटवनके बीचोबीच थी, जेटवन वर्गाकर था, इसके लिये कोई प्रमाण न तो लेखमें है और न भूमिपर ही। इसलिये जेटवनको एक आयत क्षेत्र मानकर हम उसके बीचोबीच गंधकुटीको मान सकते हैं। (ख) गंधकुटीके पूर्व तरफका डी० ही पुष्करिणीका स्थान मालूम होता है, जिसकी पूर्वीय सीमासे जेटवन बहुत दूर नहीं जा सकता। (ग) विहार नं० १९को राजकाराम मान लेनेपर जेटवनकी सीमा विहार नं० ५ तक जा सकती है।

ऊपरके वर्णनसे हम निम्न परिणामपर पहुँचते हैं—

- (१) १८ करोड़ कार्षापण विछानेसे १८३४८ एकड़
- (२) साहनीके अनुसार वर्तमानमें २२२ एकड़ (१६००' × ६००')
- (३) उसमेंसे राजकाराम निकाल देनेपर १४७ ए० (१२००' × ६००')
- (४) गंधकुटी, पुष्करिणी, कारेरिकुटीसे २४९ ए० (१३६०' × ८००')
- (५) ८ करीस १, २ (अम्मण-२ एकड़) ६४ एकड़

एक और तरहसे भी इस क्षेत्रफलके बारेमें विचार कर सकते हैं। करीस^१ (संस्कृत खारीक) का परिमाण अभिधानप्पदीपिका और लीलावतीमें इस प्रकार दिया है—

४ कुडव या पसत (पसर) = १ पत्थ	४ कुडव = प्रस्थ
४ पत्थ = १ आळ्हक	४ प्रस्थ = आढक
४ आळ्हक = १ दोग	४ आढक = द्रोग

^१परमत्थजोतिका II, p. 476. “तत्थ बीसतिखारिकोति, मागधकेन पत्थेन चत्तारो पत्था कोसलरट्ठेकपत्थो होति, तेन पत्थेन चत्तारो पत्था आढकं, चत्तारि आढकानि दोगं, चतुदोगं मानिका, चतुमानिकं खारि, ताय खारिया बीसति खारिको तिलवाहोति; तिलसकटं।”

४ दोण = १ माणी

४ माणी = १ खारी १६ द्रोण = खारी

विनयमें ४ कहापणका एक कंस लिखा है। कंसको कर्ष मान लेनेपर यह वजन और भी चौगुना हो जायगा, अर्थात् १६ मनसे भी ऊपर। ऊपरके नाममें २० खारीका एक तिलवाह, अर्थात् तिलों भरी गाड़ी माना है, जो इस हिसाबसे अवश्य ही गाड़ीके लिये असंभव हो जायगा।

सुत्त० नि० अट्टकथामें कोसलक परिमाण इस प्रकार है।

४ मागधक पत्थ = कोसलक पत्थ

४ को० पत्थ = को० आढ़क

४ को० आ० = को० दोण

४ को० दो० = को० मानिका

४ को० मा० = खारी

२० खारी = १ तिलवाह (=तिलसकट अर्थात् तिल से लदी गाड़ी)

वाचस्पत्यके उद्धरणसे यह भी मालूम होता है कि ४ पल एक कुडवके बराबर है। लीलावतीने पलका मान इस प्रकार दिया है—

५ गुंजा = माष

१६ माष = कर्ष

४ कर्ष = पल

अभिधानप्पदीपिकासे यहाँ भेद पड़ता है—

४ वीहि (त्रीहि) = गुंजा

२ गुंजा = मापक

माषक कर्ष (=कार्षापण)का सोलहवाँ भाग है। विनय^१ में २० मासेका कहापण (=कार्षापण) लिखा है। समंतपासादिका

^१ विनयपिटक पाराजिका, २

ने इसपर टीका करते हुए इससे कम वजनवाले रुद्रदामा आदिके कार्पापणों का निर्देश किया है तो भी हमें यहाँ उनसे प्रयोजन नहीं। हम इतना जानते हैं कि पुराने पंच-मार्कके कार्पापण सिक्कोंका वजन प्रायः १४६ ग्रैनके बराबर होता है। यही वजन उस समयके कर्पका भी है। आजकल भारतीय सेर ८० तोलेका है, और तोला १८० ग्रैनके बराबर होता है। इस प्रकार एक मागध खारी आजकलके ४१'८ सेरके बराबर, अर्थात् प्रायः १ मन होगी और कोसलक खारी ४ मनके करीब। करीसका संस्कृत पर्याय खारीक अर्थात् खारी भर बीजसे बोया जानेवाला खेत (तस्य वापः, पाणिनि ५: १: ४५) है। पटनामें पक्के ८ मन तेरह सेर धानसे आजकल १६ एकड़ खेत बोया जा सकता है, इससे भी हमें, जेतवनकी भूमिका परिमाण, एक प्रकारसे, मिलता है।

राजकाराम (सललागार)—अब हमें जेतवनकी सीमाके विषयमें एक बार फिर कुछ बातोंको साफ कर देना है। हमने पीछे कहा था कि विहार नं० १९ जेतवन-खासके भीतर नहीं था। **संयुक्त-निकाय**^१में आता है—एक बार भगवान् श्रावस्तीके राजकाराममें विहार करते थे। उस समय एक हजार भिक्षुणियोंका संघ भगवान्के पास गया। इसपर **अट्टकथामें** लिखा है—राजा **प्रसेनजित्** द्वारा बनवाए जानेके कारण इसका नाम राजकाराम पड़ा था। बोधिके पहले भाग (५२७१३ ई० पू०)में भगवान्के महान् लाभ-सत्कारको देखकर तीर्थिक लोगोंने सोचा, यह इतनी पूजा शील-समाधिके कारण नहीं है। यह तो इसी भूमिका माहात्म्य है। यदि हम भी जेतवनके पास अपना आराम बना सकें तो हमें भी लाभ-सत्कार प्राप्त होगा। तीर्थिकोंने अपने सेवकोंसे कहकर एक लाख कार्पापण इकट्ठा किया। फिर राजाको घूस देकर जेतवनके

^१ सोतापत्ति-संयुक्त IV, Chapter II सहस्सक or राजकाराम-वग V, p. 360

पास तीर्थिकाराम बनवानेकी आज्ञा ले ली । उन्होंने जाकर, खंभे खड़े करते हुए, हल्ला करना शुरू किया । बुद्धने गंधकुटीसे निकलकर बाहरके चबूतरेपर खड़े हो आनंदसे पूछा—ये कौन हैं आनंद ! मानो केवट मछली मार रहे हों । आनंदने कहा—तीर्थिक जेतवनके पास—में तीर्थिकाराम बना रहे हैं । आनंद ! ये शासनके विरोधी भिक्षु-संघके विहारमें गड़बड़ डालेंगे । राजासे कह कर हटा दो । आनंद भिक्षु-संघके साथ राजाके पास पहुँचे । घूस खानेके कारण राजा बाहर न निकला । फिर शास्ताने सारिपुत्त और मोग्गलानको भेजा । राजा उनके भी सामने न आया । दूसरे दिन बुद्ध स्वयं भिक्षु-संघ सहित पहुँचे । भोजनके बाद उपदेश दिया और अंतमें कहा—भहाराज ! प्रव्रजितोंको आपसमें लड़ाना अच्छा नहीं है । राजाने आदमियोंको भेजकर वहाँसे तीर्थिकोंको निकाल दिया और यह सोचा कि मेरा बनवाया कोई विहार नहीं है, इसलिये इसी स्थानपर विहार बनवाऊँ । इस प्रकार धन वापिस किए बिना ही वहाँ विहार बनवाया ।

जातकट्टकथा (निदान)में भी यह कथा आई है, जहाँसे हमें कुछ और बातें भी मालूम होती हैं ।

तीर्थिकोंने जंबूद्वीपके सर्वोत्तम स्थानपर बसना ही श्रमण गौतम के लाभ-सत्कारका कारण समझा और जेतवनके पीछेकी ओर तीर्थिकाराम बनवानेका निश्चय किया । घूस देकर राजाको अपनी रायमें करके, बड़इयोंको बुलाकर, उन्होंने आराम बनवाना आरंभ कर दिया ।

इन उद्धरणोंसे हमें पता लगता है—(१) जेतवनके पीछेकी ओर पासहीमें, जहाँसे काम करनेवालोंका शब्द गंधकुटीमें बैठे बुद्धको खूब सुनाई देता था, तीर्थिकोंने अपना आराम बनाना आरंभ किया था । (२) जिसे राजाने पीछे बंद करा दिया । (३) राजाने वहीं आराम बनवाकर भिक्षु-संघको अर्पण किया । (४) यह आराम प्रसेनजित् द्वारा बनवाया पहला आराम था । नकशेमें देखनेसे हमें मालूम होता

है कि विहार नं० १९ जेतवनके पीछे और गंधकुटीसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर है। फासला गंधकुटीसे प्रायः ९० फीट, तथा जेतवनकी दक्षिण-पूर्व सीमामे बिल्कुल लगा हुआ है। इस प्रकारका दूसरा कोई स्थान नहीं है, जिसपर उपर्युक्त बातें लागू हों। इस प्रकार विहार नं० १९ ही राजकाराम है, जो मुख्य जेतवनसे अलग था।

इस विहारका हम एक जगह और (जातकट्टकथामें) उल्लेख पाते हैं। यहाँ उसे जेतवन-पिट्टि विहार अर्थात् जेतवनके पीछे वाला विहार कहा है। मालूम होता है, जेतवन और इस 'पिट्टि विहार'के बीचमें होकर उस समय रास्ता जाना था। दोनों विहारोंके बीचसे एक मार्गके जानेका पता हमें धम्मपदट्टकथासे भी लगता है। राजकाराम जेतवनके समीप था। उसे प्रसेनजित्ने बनवाया था। एक बार उसमें भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाकी परिपद्में बैठे हुए, बुद्ध धर्मोपदेश कर रहे थे। भिक्षुओंने आवेशमें आकर "जीवें भगवान् जीवें सुगत" इस तरह जोरसे नारा लगाया। इस शब्दसे कथामें बाधा पड़ी। यहाँ स्पष्ट मालूम होता है कि यह राजकाराम अच्छा लम्बा-चौड़ा था।

ई० पू० छठी शताब्दीकी वनी इमारतोंके ढाँचेमें न जाने कितनी बार परिवर्तन हुआ होगा। तीर्थकाराम बनानेके वर्णनमें खंभे उठाने और बढ़ईने ही काम आरंभ करनेसे हम जानते हैं कि उस समय सभी मकान लकड़ीके ही अधिक बनते थे। जंगलोंकी अधिकतासे इसमें आसानी भी थी। ऐसी हालतमें लकड़ीके मकानोंका कम टिकाऊ होना उनके चिन्ह पानेके लिये और भी बाधक है। तथापि मौर्य-कालसे नीचे खुदाई करनेमें हमें शायद ऐसे कुछ चिन्होंके पानेमें सफलता हो। अस्तु, इतना हम जानते हैं कि जहाँ कहीं बुद्ध कुछ दिनके लिये निवास करते थे वहाँ उनकी गंधकुटी^१ अवश्य होती थी। यह गंधकुटी बहुत ही पवित्र समझी

^१ बुद्धके निवासकी कोठरीको पहले विहार ही कहते थे। पीछे,

जाती थी, इसलिये सभी गंधकुटियोंकी स्मृतिको बराबर कायम रखना स्वाभाविक है। जेतवनके नकशेमें हम विहार नं० १, २, ३, ५, और १९ एक विशेष तरहके स्थान पाते हैं। विहार नं० १९ के पश्चिमी भागके बीचकी परिक्रमावाली इमारतके स्थान पर ही राजकाराममें बुद्धकी गंधकुटी थी।

आगे हम जेतवनके भीतरकी चार इमारतोंमें 'सललागार'को भी एक बतलाएँगे। **दीघनिकाय**में आता है—“एक बार भगवान् श्रावस्तीके सललागारकमें विहार करते थे।” इसपर अट्टकथामें लिखा है—“सलल (वृक्ष)की बनी गंधकुटीमें।” **संयुत्तनिकाय**में भी—“एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध श्रावस्तीके सललागारमें विहार करते थे।” इसपर **अट्टकथामें**—“सलल-वृक्ष-मयी पर्णशाला, या सललवृक्षके द्वारपर रहनेसे इस नामका घर।” **दीघनिकायकी अट्टकथाके अनुसार** “सललघर राजा प्रसेनजित्का बनवाया हुआ था।”

(१) संयुत्त और दीघ दोनों निकायोंमें सललागारके साथ जेतवनका नाम न आकर, सिर्फ श्रावस्तीका नाम आना बतलाता है कि सललागार जेतवनसे बाहर था। (२) सललागारका अट्टकथामें सललघर हो जाना मामूली बात है। (३) (क) सललघर राजा प्रसेनजित्का बनवाया था; (ख) जो यदि जेतवनमें नहीं था तो कमसे कम जेतवनके बहुत ही समीप था, जिससे अट्टकथाकी परंपराके समय वह जेतवनके अंतर्गत समझा जाने लगा।

हम ऐसे स्थान राजकाराम (विहार नं० १९)को बतला चुके हैं, जो आज भी देखनेमें जेतवनसे बाहर नहीं जान पड़ता। इस प्रकार सललागार राजकारामका ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। श्रावस्तीके भीतर भिक्षुणियोंका आराम भी, राजा प्रसेनजित्का बनवाया होनेके कारण,

मालूम होता है, उसपर फूल तथा दूसरी सुगंधित चीजें चढ़ाई जानेके कारण वह विहार 'गंधकुटी' कहा जाने लगा।

‘राजकाराम’ कहा जाता था; इसी लिये यह सललागार या सललघर-के नामसे प्रसिद्ध हुआ ।

गंधकुटी—जेटवनके भीतरकी अन्य इमारतों पर विचार करनेसेपूर्व, गंधकुटीका जानना आवश्यक है; क्योंकि इसे जान लेनेसे और स्थानों-के जाननेमें आसानी होगी । वैसे तो सारा जेटवन ही ‘अविजहितद्वान’ माना गया है, किंतु जेटवनमें गंधकुटी^१की चारपाईके चारों पैरोंके स्थान ‘अविजहित’ हैं, अर्थात् सभी अतीत और अनागत बुद्ध इसको नहीं छोड़ते । कुटी का द्वार किस दिशाको था, इसके लिये कोई प्रमाण हमें नहीं मिला । तो भी पूर्व दिशाकी विशेषताको देखते हुए पूर्व मुँह होना ही अधिक संभव प्रतीत होता है । जहाँ इस विषय पर पाली स्रोतसे हम कुछ नहीं पाते, वहाँ यह बात संतोष की है कि सहेटके अंदरके विहार नं० १, २, ३, ५, १९ पाँचों ही विशेष मंदिरोंका द्वार पूर्व मुखको है । इसीलिये मुख्य दर्वाजा भी पूर्व मुँहहीको रहा होगा । यहाँ एक छोटीसी घटना से, मालूम होता है कि दो स्त्री-पुरुष पानी पीनेके लिये जब जेटवनके भीतर घुसे, तब उन्होंने बुद्धको गंधकुटीकी छायामें बैठे देखा । विहार नं २ के दक्षिण-पूर्व-का कुआँ यद्यपि सर जान मार्शल^२के कथनानुसार कुषाण-कालका है, तो भी तथागतके परिभुक्त कुएँकी पवित्रता कोई ऐसी-वैसी वस्तु नहीं, जिसे गिर जाने दिया गया हो । यदि इसकी ईटें कुषाण-कालकी हैं, तो उससे यही सिद्ध हो सकता है कि ईसाकी आरंभिक शताब्दियोंमें इसकी अंतिम मरम्मत हुई थी । दोपहरके बाद गंधकुटीकी छायामें बैठे हुए, बुद्धके लिये दर्वाजेकी तरफसे कुएँ पर पानी पीनेके लिये जानेवाला पुरुष सामने पड़ेगा, यह स्पष्ट ही है ।

^१ “जेटवन गंधकुटिया चत्तारि मंत्रपावट्टानानि अविजहितानेव होन्ति ।”—दी० नि०, महापदान सुत्त, १४, अ० क० ।

^२ A.S.I. Report, 1910-11

गंधकुटी अपने समयकी सुंदर इमारत होगी । संयुक्तनिकायकी अट्टकथा^१में इसे देवविमानके समान लिखा है । भरहुत स्तूपके जेतदन-चित्रसे इसकी कुछ कल्पना हो सकती है । गंधकुटीके बाहर एक चबूतरा (पमुख) था, जिससे गंधकुटीका द्वार कुछ और ऊँचा था । इसपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ थीं । पमुखके नीचे खुला आँगन था । चबूतरेको 'गंधकुटी पमुख' कहा है । भोजनोपरांत यहाँ खड़े होकर तथागत भिक्षु-संघको उपदेश देते हुए अनेक बार वर्णित किए गए हैं । मध्याह्नभोजनोपरांत भगवान् पमुखपर खड़े हो जाते थे, फिर सारे भिक्षु वंदना करते थे, इसके बाद उन्हें सुगतोपदेश देकर बुद्ध भी गंधकुटीमें चले जाते थे ।

सोपानफलक—गंधकुटीमें जानेसे पहले, मणिसोपानफलकपर खड़े होकर, भिक्षु-संघको उपदेश देनेका भी वर्णन आता है । अकालमें वर्षा करानेके चमत्कारके समयके वर्णनमें आता है कि बुद्धने वर्षा करा, "पुष्करिणीमें नहाकर लाल दुपट्टा पहन कमरबंद बाँध, सुगतमहाचीवरको एक कंधा (खुला रख) पहन, भिक्षु-संघसे चारों तरफ घिरे हुए जाकर गंधकुटीके आँगनमें रखे हुए श्रेष्ठ बुद्धासनपर बैठकर, भिक्षु-संघके वंदना करनेपर उठकर मणिसोपानफलकपर खड़े हो, भिक्षु-संघको उपदेश दे, उत्साहित कर सुरभि-गंधकुटीमें प्रवेशकर..." यह सोपान संभवतः पमुखसे गंधकुटी-द्वारपर चढ़नेके लिये था; क्योंकि अन्यत्र इस मणिसोपानफलकको गंधकुटीके द्वार पर देखते हैं—“एक दिन रात को गंधकुटीके द्वारपर मणिसोपानफलकपर खड़े हो भिक्षु-संघको सुगतोवाद दे गंधकुटीमें प्रवेश करने पर, धम्मसेनापति (=सारिपुत्र) भी शास्ताको वंदनाकर अपने परिवेणको चले गए । महामोगलान भी अपने परिवेणको.....।”

गंधकुटी-परिवेण—मालूम होता है, पमुख थोड़ा ही चौड़ा था ।

इसके नीचेका सहन गंधकुटी-परिवेण कहा जाता था। इस परिवेणमें एक जगह बुद्धासन रखा रहता था, जहाँपर बैठे बुद्धकी वंदना भिक्षु-संघ करता था। इस परिवेणमें बालू बिछाई हुई थी; क्योंकि मज्झिमनिकाय^१ अ० क०में अनार्थपिंडकके बारेमें लिखा है कि वह खाली हाथ कभी बुद्धके पास न जाता था; कुछ न होनेपर बालू ही ले जाकर गंधकुटीके आँगनमें बिखेरता था। अंगुतरनिकाय-अट्टकथामें, बुद्धके भोजनोपरांत-के कामका वर्णन करते हुए, लिखा है—“इस प्रकार भोजनोपरांतवाले कृत्यके समाप्त होनेपर, यदि गात्र धोना (=नहाना) चाहते थे, तो बुद्धासनसे उठकर स्नानकोष्ठकमें जाकर, रखे जलसे शरीरको ऋतु-ग्रहण कराते थे। उपट्टाक भी बुद्धासन ले आकर गंधकुटी-परिवेणमें रख देता था। भगवान् लाल दुपट्टा पहनकर कायबंधन बाँधकर, उत्तरासंग एक कंधा (खुला रख) पहनकर वहाँ आकर बैठते थे; अकेले कुछ काल ध्यानावस्थित होते थे। तब भिक्षु जहाँ तहाँसे भगवान्के उपस्थानके लिये आते थे। वहाँ कोई प्रश्न पूछते थे, कोई कर्म-स्थानपूछते थे। कोई धर्मोपदेश सुनना चाहते थे। भगवान्, उनके मनोरथको पूरा करते हुए, पहले यामको समाप्त करते थे।”

बुद्धासन-स्तूप—गंधकुटीका परिवेण इस तरह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। जेतवनमें, गंधकुटीमें, रहते हुए भगवान् यही आसीन हो प्रायः नित्य ही एक याम उपदेश देते थे, वंदना ग्रहण करते थे। इस तरह गंधकुटी-परिवेणकी पवित्रता अधिक मानी जानी स्वाभाविक है। उसमें उस स्थानका माहात्म्य, जहाँ तथागतका आसन रखा जाता था, और भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे स्थानपर परवर्ती कालमें कोई स्मृति-चिन्ह अवश्य ही बना होगा। जेतवनकी खुदाईमें स्तूप नं० H ऐसा ही एक स्थान मिला है। इसके बारेमें सर जान मार्शल लिखते हैं^२—

^१ सुत्त १४३ की अट्टकथा।

^२ Archæological Survey of India, 1910-11, p. 9

“Of the stupas H, J and K, the first-mentioned seems to have been invested with particular sanctity; for not only was it rebuilt several times but it is set immediately in front of temple No. 2, which there is good reason to identify with the famous Gandhakuti and right in the midst of the main road which approaches this sanctuary from the east...this plinth is constructed of bricks of same size as those monasteries (of Kushan Period).”

जान पड़ता है, यह स्तूप वह स्थान है जहाँ बैठकर तथागत उपदेश दिया करते थे और इसीलिये उसे बार बार मरम्मत करने का प्रयत्न किया गया है। गंधकुटी-परिवेणमें, भिक्षुओंके ही लिये नहीं, प्रत्युत गृहस्थोंके लिये भी उपदेश होता था—“विशाखा, उपदेश सुननेके लिये, जेतवन गई। उसने अपने बहुमूल्य आभूषण ‘महालतापसाधन’को दासीके हाथमें इसलिये दे दिया था कि उपदेश^१ सुनते समय ऐसे शरीर-श्रृंगारकी आवश्यकता नहीं। दासी उसे चलते वक्त भूल गई। नगरको लौटते समय दासी आभूषणके लिये लौटी। विशाखाने पूछा—तूने कहाँ रखा था ? उसने कहा—गंधकुटी-परिवेणमें। विशाखाने कहा—गंधकुटी-परिवेणमें रखनेके समयसे ही उसका लौटाना हमारे लिये अयुक्त है।”

आभूषणके छूटनेका यह वर्णन विनयमें भी आया है। संभवतः बुद्धासन-स्तूपके पूर्वका स्तूप G इसीके स्मरणमें है। सर जान कहते हैं^२—

This stupa is co-eval with the three buildings of Kushan Period, just described (*ibid*, p. 10).

^१ धम्मपदट्टकथा, ४१४४, विसाखाय वत्थु ।

^२ A. S. I. Report, 1910—1911

यह गंधकुटी-परिवेण बहुत ही खुली जगह थी, जिसमें हजारों आदमी बैठ सकते थे। बुद्धासन-स्तूप (स्तूप H) गंधकुटीसे कुछ अधिक हटकर मालूम होता है। उसका कारण यह है कि उपदेशके समय तथागत पूर्वाभिमुख बैठते थे। उनके पीछे भिक्षु-संघ पूर्व मुँह करके बैठता था और आगे गृहस्थ लोग तथागतकी ओर मुँह करके बैठते थे। गंधकुटी-पमुखसे बुद्धासन तककी भूमि भिक्षुओंके लिये थी। इसका वर्णन हमें उदानमें^१ मिलता है, जहाँ तथागतका पाटलिगामके नए आवासथागारमें बैठनेका सविस्तार वर्णन है। संभवतः यह परिवेण पहले और भी चौड़ा रहा होगा, और कमसे कम बुद्धासनसे उतना ही स्थान उत्तर ओर भी छूटा रहा होगा जितना कि नं० K से बुद्धासन। इस प्रकार कुपाण-कालकी इमारतके स्थानपरकी पुरानी इमारत, यदि कोई रही हो तो, दक्षिण तरफ इतनी बढ़ी हुई न रही होगी, अथवा रही ही न होगी।

गंधकुटी कितनी लंबी-चौड़ी थी, यद्यपि इसके जाननेके लिये कोङ्कु स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि एक आदमीके लिये थी, इसलिये बहुत बड़ी नहीं हो सकती। संभवतः विहार नं० २ के बीचका गर्भ बहुत कुछ पुरातन गंधकुटीके आकारको बतलाता है। गंधकुटीके दर्वाजेमें किवाड़^२ लगा था, जिसमें भीतरसे किल्ली (सूचीघटिक) लगानेका भी प्रबंध था। इसमें तथागतके सोनेका मंच था। इस मंचके चारों पैरोंके स्थानको अट्टकथावालोंने 'अविजहित' कहा है। गंधकुटीके दर्वाजे द्वारा कई बातोंका संकेत भी होता था। म० नि० अट्टकथा^३में बुद्धघोषने लिखा है—'जिस दिन भगवान् जेतवनमें रहकर पूर्वाराममें दिनको विहार करना चाहते थे, उस दिन बिस्तार, परिष्कार भांडोंको ठीक ठीक करनेका संकेत करते थे। स्थविर (आनंद) झाड़ देते, तथा कचड़ेमें

^१ उदान—पाटलिगामियवग्ग (८।६)

^२ धम्मपद-अट्टकथा ४:४४ भी।

^३ सुत्त २६

फेंकनेकी चीजोंको समेट लेते थे । जब अकेले पिंडचारको जाना चाहते थे, तब सबेरे ही नहाकर गंधकुटीमें प्रवेश कर दरवाजा बंदकर समाधिस्थ हो बैठते थे । जब भिक्षु-संघके साथ पिंडचारको जाना चाहते थे, तब गंधकुटीको आधी खुली रखकर... । जब जनपदमें विचरनेके लिये निकलना चाहते थे, तो एक-दो ग्रास अधिक खाते थे और चंक्रमण पर आरूढ़ हो पूर्व-पश्चिम टहलते थे ।” भरहुतके जेतवन-पट्टिकामें गंधकुटीके द्वारका ऊपरी आधा भाग खुला है, जिससे यह भी पता लगता है कि किवाड़ ऊपर-नीचे दो भागोंमें विभक्त होता था । गंधकुटीका नाम यद्यपि सैकड़ों बार आता है, किंतु उसका इससे अधिक विवरण देखनेमें नहीं मिलता ।

द्वारकोट्टक—हम पीछे कह चुके हैं कि अनाथपिंडकके पहली बार लाए हुए कार्षापणोंसे जेतवनका एक थोड़ासा हिस्सा बिना ढँका ही रह गया था । इसे कुमार जेतने अपने लिये माँग लिया और वहाँ पर उसने अपने दामसे कोठा बनवाया जिसका नाम जेतवनबहिद्वारकोष्ठक या केवल द्वारकोट्टक पड़ा । यह गंधकुटीके सामने ही था, क्योंकि **धम्मपद-अट्टकथामें** आता है—

एक समय अन्य तीर्थिक उपासकोंने...अपने लड़कोंको कसम दिलाई कि घर आनेपर तुम शाक्यपुत्रीय श्रमणोंको न तो बंदना करना और न उनके विहारमें जाना । एक दिन जेतवन विहारके बहिद्वारकोष्ठकके पास खेलते हुए उन्हें प्यास लगी । तब एक उपासकके लड़केको कहकर भेजा कि तुम जाकर पानी पिओ और हमारे लिये भी लाओ । उसने विहारमें प्रवेश कर शास्ताको बंदना कर पानी पी इस बातको कहा । शास्ताने कहा कि तुम पानी पीकर... जाकर औरोंको भी, पाना पीनेके लिये यहीं भेजो । उन्होंने आकर पानी पिया । गंधकुटीके पासका कुआँ हमें मालूम है । द्वारकोष्ठकसे कुएँपर आते हुए लड़कोंको गंधकुटीके द्वारपरसे देखना स्वाभाविक है, यदि दरवाजा गंधकुटीके सामने हो ।

जेटवन-पोखरणी—यह द्वारकोट्टकके पास ही थी। **जातकट्टकथा** (निदान) में एक जगह इसका इस प्रकार वर्णन आता है—

एक समय कोसल राष्ट्रमें वर्षा न हुई। सस्य सूख रहे थे। जहाँ-तहाँ तालाब, पोखरी और सरोवर सूख गए। **जेटवन-द्वार-कोष्टकके** समीपकी जेटवन-पुष्करिणीका जल भी सूख गया। घने कीचड़में घुसकर लेटे हुए मच्छ-कच्छपोंको कौए चील आदि अपनी चोंचोंसे मार मार, ले जाकर, फड़फड़ाते हुआंको खाते थे। शास्ताने मत्स्य-कच्छपोंके उस दुःखको देखकर, महती कष्टनासे प्रेरित हो, निश्चय किया—आज मुझे पानी बरसाना है।... भोजनके बाद सावत्थीसे विहारको जाते हुए जेटवन-पुष्करिणीके **सोपान**पर खड़े हो आनंद स्थविरसे कहा—आनंद, नहानेकी धोती ला; जेटवन-पुष्करिणीमें स्नान करेंगे।... शास्ता एक छोरसे नहानेकी धोतीको पहनकर और दूसरे छोरसे सिरको ढाँककर सोपानपर खड़े हुए।... पूर्वदिशा-भागमें एक छोटीसी घटाने उठकर... बरसते हुए सारे कोसल राष्ट्रको बाढ़ जैसा बना दिया। शास्ताने पुष्करिणीमें स्नान कर, लाल दुपट्टा पहिन.....।

यहाँ हमें मालूम होता है कि (१) पुष्करिणी जेटवन-द्वारके पास ही थी, (२) उसमें घाट बँधा हुआ था।

इस पुष्करिणीके पास वह स्थान था, जहाँपर देवदत्तका जीते जी पृथिवीमें समाना कहा गया है। फाहियान और युन्-च्चेङ्ग दोनों ही देवदत्तको जेटवनमें तथागतपर विष-प्रयोग करनेके लिये आया हुआ कहते हैं, किंतु **धम्मपद अट्टकथा**का वर्णन दूसरा ही है—

देवदत्त^१ने, नौ मास बीमार रहकर अंतिम समय शास्ताके दर्शनके लिये उत्सुक हो, अपने शिष्योंसे कहा—मैं शास्ताका दर्शन करना

^१ ध० प० १।१२। अ० क० ७४, ७५ (Commentary, Vol. I, p. 147) देवदत्तवत्थु। देखो बी० नि० सुत्त २ की अट्टकथा भी।

चाहता हूँ; मुझे दर्शन करवाओ। ऐसा कहनेपर—समर्थ होनेपर तुमने शास्ताके साथ वैरीका आचरण किया, हम तुम्हें वहाँ न ले जायेंगे। तब देवदत्तने कहा—मेरा नाश मत करो। मैंने शास्ताके साथ आघात किया, किंतु मेरे ऊपर शास्ताको केशाग्रमात्र भी क्रोध नहीं है। वे शास्ता वधिक देवदत्तपर, डाकू अंगुलिमालपर, धनपाल और राहुलपर—सब पर—समान भाववाले हैं। तब वह चारपाईपर लेकर निकले। उसका आगमन सुनकर भिक्षुओंने शास्तासे कहा...। शास्ताने कहा—भिक्षुओ ! इस शरीर से वह मुझे न देख सकेगा...। अब एक योजनपर आ गया है, आधे योजनपर, गावुत (=गव्यूति) भरपर, जेतवनपुष्करिणीके समीप...। यदि वह जेतवनके भीतर भी आ जाय, तो भी मुझे न देख सकेगा। देवदत्तको ले आनेवाले जेतवनपुष्करिणीके तीरपर चारपाईको उतार पुष्करिणीमें नहाने गए। देवदत्त भी चारपाईसे उठ, दोनों पैरोंको भूमिपर रखकर, बैठा। (और) वह वही पृथिवीमें चला गया। वह क्रमशः घुट्टी तक, फिर ठेढ़ने तक, फिर कमर तक, छाती तक, गर्दन तक घुस गया। ठुड्डीकी हड्डीके भूमिपर प्रतिष्ठित होते समय उसने यह गाथा कही—

इन आठ प्राणोंसे उस अग्रपुद्गल (=महापुरुष) देवातिदेव, नर-दम्यसाखी समंतचक्षु शतपुण्यलक्षण बुद्धके शरणागत हूँ।

वह अबसे सौ हजार कल्पों बाद अट्टिस्सर नामक प्रत्येक्बुद्ध होगा।—वह पृथिवीमें घुसकर अवीचिनरकमें उत्पन्न हुआ।

इस कथामें और ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी न हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि देवदत्तके जमीनमें धँसनेकी किवदंती फाहियानके समय (पाँचवी शताब्दीमें) खूब प्रसिद्ध थी। वह उससे भी पहलेकी सिंहाली अट्टकथाओंमें वैसे ही थी, जिसके आधारपर फाहियानके समकालीन बुद्धघोषने पाली अट्टकथामें इसे लिखा। फाहियानने देवदत्तके धँसनेके इस स्थानको जेतवनके पूर्वद्वार पर राजपथसे ७० पद पश्चिम ओर, जहाँ

चिंचाके धरतीमें धँसनेका उल्लेख किया है, लिखा है ।

युन्-च्चेङ्गने इस स्थानके विषयमें लिखा है—

“To the east of the convent about 100 paces is a great chasm; this is where Devadutta went down alive into Hell after trying to poison Buddha. To the south of this, again is a great ditch; this is the place where the Bhikshu Kokali went down alive into Hell after slandering Buddha. To the south of this, about 800 paces, is the place where the Brahman woman Chancha went down alive into Hell after slandering Buddha. All these chasms are without any visible bottom (or bottomless pits).”
(Beal, *Life of H. T.*, pp. 93 and 94).

इनमें ऐतिहासिक तथ्य संभवतः इतना ही हो सकता है कि मरणासन्न देवदत्तको अंतमें अपने किएका पश्चात्ताप हुआ और वह बुद्धके दर्शनके लिए गया, किंतु जेतवनके दर्वाजेपर ही उसके प्राण छूट गए । यह मृत्यु पहले भूमिमें धँसनेमे परिणत हुई । फाहियानने उसे पृथिवीके फटकर बीचमें जगह देनेके रूपमें सुना । युन्-च्चेङ्गके समय वह स्थान अथाह चँदवकमें परिणत हो गया था । किंतु इतना तो ठीक ही है कि यह स्थान (१) पूर्व-कोट्टकके पास था; (२) पुष्करिणीके ऊपर था; (३) विहार (गंधकुटी) से १०० कदमपर था; और (४) चिंचाके धँसनेका स्थान भी इसके पास ही था ।

चिंचाके धँसनेका स्थान द्वारके बाहर पासहीमें अट्टकथामें भी आता है, किंतु कोकालिकके धँसनेका कहीं जिक्र नहीं आता । बल्कि इसके विरुद्ध उसका वर्णन सुत्तनिपातमें इस प्रकार है—

कोकालिकने जेतवनमें भगवान्के पास जाकर कहा—भंते, सारि-

पुत्र मोग्गलान पापेच्छु हैं, पापेच्छाओंके वशमें हैं। भगवान्‌नों उसे सारिपुत्र मोग्गलानके विषयमें चित्तको प्रसन्न करनेके लिये तीन बार कहा, किंतु उसने तीन बार उसीको दुहराया। वहाँसे प्रदक्षिणा करके गया तो उसके सारे बदनमें सरसोंके बराबर फुंसियाँ निकल आईं, जो क्रमशः बिलसे भी बड़ी हो फूट गईं। फिर खून और पीब बहने लगा और वह इसी बीमारीसे मरा।

इसमें कहीं कोकालिकके धँसने या बुद्धको अपमानित करनेका वर्णन नहीं है। इसमें शक नहीं, इसी सुत्तनिपातकी अट्टकथामें इस कोकालिकको देवदत्तके शिष्य कोकालियसे अलग बतलाया है, किंतु उसका भी जेतवनके पास भूमिमें धँसना कही नहीं मिलता। चिंचाके भूमिमें धँसनेका उल्लेख फाहियान और युन्-च्चेङ्ग दोनोंहीने किया है। लेकिन युन्-वेच्चेङ्गने ८०० कदम दक्षिण लिखा है, यद्यपि फाहियानने चूहोंसे बंधन काटने और धँसनेका स्थान एक ही लिखा है। पालीमें यह कथा^१ इस प्रकार है—

पहली बोधी^१ (५२७-१३ ई० पू०)में तीर्थिकोंने बुद्धके लाभ-सत्कारको देखकर उसे नष्ट करनेकी ठानी। उन्होंने चिंचा परिव्राजिकासे कहा। वह श्रावस्ती-वासियोंके धर्मकथा सुनकर जेतवनसे निकलते समय इंद्रगोपके समान वर्णवाले वस्त्रको पहन गंधमाला आदि हाथमें ले जेतवनकी ओर जाती थी। जेतवनके समीपके तीर्थिकाराममें वासकर प्रातः ही नगरसे उपासक जनोंके निकलनेपर, जेतवनके भीतर रही हुई सी हो, नगरमें प्रवेश करती थी। एक मासके बाद पूछनेपर कहती थी—जेतवनमें श्रमण गोतमके साथ एक गंधकुटीहीमें सोई हूँ। आठ-नौ मासके बाद पेटपर गोल काष्ठ बाँधकर, ऊपरसे वस्त्र पहन, सायाह्न समय, धर्मोपदेश करते हुए तथागतके सामने खड़ी हो उसने कहा—महाश्रमण, लोगों-

^१ धम्मपद—अ० क०, १३:१९

को धर्मोपदेश करते हो। मैं तुमसे गर्भ पाकर पूर्णगर्भा हो गई हूँ। न मेरे सूतिका-गृहका प्रबंध करते हो और न घी-तेलका। यदि आपसे न हो सके तो अपने किसी उपस्थापकहीसे—कोसलराजसे, अनार्थपिंडक-से या विशाखासे—करा दो...।” इसपर देवपुत्रोंने, चूहेके बच्चे बन, बंधनकी रस्सीको काट दिया। लोगोंने यह देख उसके शिरपर थूककर उसे ढेले, डंडे आदिसे मारकर जेतवनसे बाहर किया। तथागतके दृष्टिपथ-से हटनेके बाद ही महापृथिवीने फटकर उसे जगह दी।

इस कथामें तथागतके आँखोंके सामनेसे चिंचाके अलग होते ही उसका पृथिवीमें धँसना लिखा है। बुद्ध इस समय बुद्धासनपर (स्तूप H) बैठे रहे होंगे। दर्वाजेके बहिःकोष्ठक सामने ही था। द्वारकोट्टकके पार होते ही उसका आँखोंसे ओझल होना स्वाभाविक है और इस प्रकार धँसने-की जगह द्वारकोट्टकके बाहर पास ही, पुष्करिणीके किनारे हो सकती है; जिसके पास, पीछे देवदत्तका धँसना कहा जाता है। यह फाहियानके भी अनुकूल है। काल बीतनेके साथ कथाओंके रूपमें भी अतिशयोक्ति होनी स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त युन्-च्चेङ्ग उस समय आए थे, जिस समय महायान भारतमें यौवनपर था। महायान ऐतिहासिकताकी अपेक्षा लोकोत्तरताकी ओर अधिक झुकता है, जैसा कि महायान करुणा-पुंडरीक सूत्र आदिसे खूब स्पष्ट है। इसीलिये युन्-च्चेङ्गकी किंवदंतियाँ फाहियानकी अपेक्षा अधिक अतिरंजित मिलती हैं। और इसीलिये युन्-च्चेङ्गकी कथामें ही चिंचाको हम ८०० कदम और दक्षिण पाते हैं। युन्-च्चेङ्गका यह कथन कि देवदत्तके धँसनेकी जगह अर्थात् द्वारकोट्टकके बाहर पुष्करिणीका घाट विहार (=गंधकुटी)से १०० कदम था, ठीक मालूम होता है; और इस प्रकार विहार F की पूर्वी दीवारसे बिलकुल पास ही जेतवनके द्वारकोट्टकका होना सिद्ध होता है। फिर ४८७ नंबरवाले खेतकी निचली भूमि ही जेतवनकी पुष्करिणी सिद्ध होती है।

कपल्ल-पुब-पठभार—इसमें संदेह नहीं कि कितनी ही जगहोंका

आरंभ अनैतिहासिक कथाओंपर अवलंबित है, किंतु इससे वैसे स्थानोंका पीछे बना लिया जाना असत्य नहीं हो सकता। ऐसा ही एक स्थान जेतवनद्वारकोट्टकमें 'कपल्ल-पूव-पम्भार' था। कथा यों है—

राजगृह नगर^१के पास एक सक्खर नामका कस्बा था। वहाँ अस्सी करोड़ धनवाला कौशिक नामक एक कंजूस सेठ रहता था। उसने एक दिन बहुत आगा-पीछा करके भार्यासे पुआ खानेके लिये कहा। स्त्रीने पुआ बनाना आरंभ किया। यह जान स्थविर महामोग्गलान उसी समय जेतवनसे निकलकर ऋद्धिबलसे उस कस्बेमें सेठके घर पहुँचे।... सेठने भार्यासे कहा—भद्रे ! मुझे पुओंकी जरूरत नहीं, उन्हें इसी भिक्षुको दे दो।... स्थविर ऋद्धिबलसे सेठ-सेठानीको पुओंके साथ लेकर जेतवन पहुँच गए। सारे विहारके भिक्षुओंको देनेपर भी वह समाप्त हुआ सा न मालूम होता था। इसपर भगवान्ने कहा—इन्हें जेतवन द्वारकोट्टक पर छोड़ दो। उन्होंने उसे द्वारकोट्टकके पासके स्थानपर ही छोड़ दिया। आज भी वह स्थान कपल्ल-पूव-पम्भारके ही नामसे प्रसिद्ध है।

यह स्थान भी द्वारकोट्टकके ही एक भागमें था, और इस जगहकी स्मृतिमें भी कोई छोटा-मोटा स्तूप अवश्य बना होगा।

जेतवनके बाहरकी बातोंको समाप्तकर अब हमें जेतवनके अंदरकी शेष इमारतोंको देखना है। विनयके अनुसार अनाथपिडकने जेतवनके भीतर ये चीजें बनवाईं—विहार, परिवेण, कोटा, उपस्थान-शाला, कप्पियकुटी, पाखाना, पेशाबखाना, चंक्रम (==टहलनेकी जगह), चंक्रमणशाला, उदपान (==प्याऊ), उदपानशाला, जंताघर (==स्नान-गृह), जंताघरशाला, पुष्करिणी और मंडप। जातक-अट्टकथा^२ (निदान)-के अनुसार इनका स्थान इस प्रकार है—मध्यमें गंधकुटी, उसके चारों तरफ अस्सी महास्थविरोके अलग अलग निवासस्थान, एककुडुक

^१ धम्मपदट्टकथा, Vol. I, p. 373

^२ जातक, १।८।८

(=एकतला), द्विकुडुक, हंसवटुक, दीघशाला, मंडप आदि तथा पुष्करिणी, चक्रमण, रात्रिको रहनेके स्थान और दिनको रहनेके स्थान ।

चुल्लवगके^१ सेनासनकखंधक(६)से हमें निम्न प्रकार गृहोंका पता लगता है—

उपस्थानशाला—उस समय भिक्षु खुली जगहमें खाते समय शीतसे भी, उष्णसे भी कष्ट पाते थे । भगवान्से कहनेपर उन्होंने कहा—मैं अनुमति देता हूँ कि उपस्थानशाला बनाई जाय, ऊँची कुरसीवाली, ईंट, पत्थर या लकड़ीसे चिनकर; सीढ़ी भी ईंट, पत्थर या लकड़ीकी; बाँह-आलंबन भी; लीप-पोतकर, सफेद या काले रंगकी गेरूसे सँवारी, माला लता, चित्रोसे चित्रित, खूँटी, चीवर-बाँस चीवर-रस्सीके सहित ।

जैतवनमें भी ऐसी उपस्थानशाला थी, जिसका वर्णन सूत्रोंमें बहुत आता है । जैतवनकी यह उपस्थानशाला लकड़ीकी रही होगी तथा नीचे ईंटें बिछी रही होंगी ।

जैतवनके भीतर हम इन इमारतोंका वर्णन पाली स्रोतसे पाते हैं— करेरिकुटिका, कोसंबकुटी, गंधकुटी, सललघर, करेरिमंडलमाल, करेरिमंडप, गंधमंडलमाल, उपट्टानसाला (=धर्मसभामंडप), नहानकोटुक, अगिसाला, अंबलकोटुक (=आसनसाला, पानीयसाला), उपसंपदामालक । यद्यपि सललघर जैतवनके भीतर लिखा मिलता है; किंतु ज्ञात होता है कि जैतवनसे यहाँ जैतवन-राजकाराम अभिप्रेत है और सललघर राजकारामकी ही गंधकुटीका नाम था ।

करेरिकुटिका और करेरिमंडलमाल—दीघनिकाय^२में आता है— एक समय भगवान् जैतवनमें अनार्थपिंडकके आराम, करेरिकुटिकामें, विहार करते थे । भोजनके बाद करेरिमंडलमालमें इकट्ठा बैठे हुए बहुत-

^१ धिनयपिटक ।

^२ बी० नि० महापदानुसुत्त ।

से भिक्षुओंमें पूर्वजन्म-संबंधी धार्मिक चर्चा चल पड़ी। भगवान्‌ने उसे दिव्य श्रोत्र-धातुसे सुना।

इसपर टीका करते हुए आचार्य बुद्धघोषने लिखा है—

करेरि वरुण वृक्षका नाम है। करेरि वृक्ष उस कुटीके द्वारपर था, इसी लिये करेरिकुटिका कही जाती थी; जैसे कोसंब वृक्षके द्वारपर होनेसे कोसंबकुटिका। जेतवनके भीतर करेरिकुटी, कोसंबकुटी, गंधकुटी, सललघर ये चार बड़े घर (महागेह) थे। एक एक सौ हजार खर्च करके बनवाए गए थे। उनमें सललघर राजा प्रसेनजित् द्वारा बनवाया गया था, बाकी अनार्थापिडक गृहपति द्वारा। इस तरह अनार्थापिडक गृहपति द्वारा स्तंभोंके ऊपर बनवाई हुई देवविमान-समान करेरिकुटिकामें भगवान्‌ विहार करते थे^१।

सूत्रसे हमें मालूम होता है कि जेतवनके भीतर (१) करेरिकुटिका थी, जो संभवतः गंधकुटी, कोसंबकुटीकी भाँति सिर्फ बुद्ध ही के रहनेके लिए थी; (२) उससे कुछ हटकर करेरिमंडलमाल था। विलकुल पास होने पर दिव्य कर्णसे सुननेकी कोई आवश्यकता न थी। अट्टकथासे मालूम होता है कि इस (३) कुटीके द्वारपर करेरिका वृक्ष था, इसीलिये इसका नाम करेरिकुटिका पड़ा था। इतना ही नहीं, कोसंबकुटीका नाम भी द्वारपर कोसंब वृक्षके होनेसे पड़ा था। (४) अनार्थापिडक द्वारा यह करेरिकुटी लकड़ीके खंभोंके ऊपर बहुत ही सुंदर बनाई गई थी।

^१ दी० नि० अट्टकथा, II, पृ० २६९—

“एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनार्थापिडकस्स आरामे करेरिकुटिकायां। अथ खो संबहलानं भिक्खूनं पच्छाभत्तं पिडपात-पटिक्कत्तानं करेरि-मंडल-माले सन्निसिन्नानं सन्नपतितानं पुब्बे-निवास-परिसंयुत्ता धम्मिय-कथा उदपादि—‘इति पुब्बे-निवासो इति पुब्बे निवासोति’।”

करेरिमंडलमालपर टीका करते हुए बुद्धघोष कहते हैं—“उसी करेरि-मंडप^१के अविदूर (=वहुत दूर नहीं) वनी हुई निसीदनशाला (को करेरिमंडलमाल कहते हैं)। वह करेरिमंडप, गंधकुटी और निसीदनशाला-के बीचमें था। इसीलिये गंधकुटी भी करेरिकुटिका, और शाला भी करेरिमंडलमाल कहा जाता था।” उदानमें भी—‘एक बार^२ बहुतसे भिक्षु करेरिमंडलमालमें इकट्ठे बैठे थे’ देखा जाता है। टीका करते हुए अट्टकथामें आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—“करेरि^३ वरुण वृक्षका नाम है। वह गंधकुटी, मंडप और शालाके बीचमें था। इसीलिये गंधकुटी भी करेरिकुटी कही जाती थी, मंडप भी, और शाला भी करेरिमंडलमाल। प्रतिवर्ष बननेवाले घास-पत्तीके छप्परको मंडल-माल कहते हैं। दूसरे कहते हैं, अतिमुक्त आदि लताओंके मंडपको मंडलमाल कहते हैं।

यहाँ दी० नि० अट्टकथामें ‘करेरिमंडप, गंधकुटी और निसीदनशाला-के बीचमें था।’ उदान अट्टकथामें ‘करेरि वृक्ष गंधकुटी, मंडप और शालाके बीचमें था’, जिसमें ‘मंडप’को ‘गंधकुटी-मंडप’ स्वीकार किया जा सकता है, किंतु आगे ‘इसीके लिये गंधकुटी भी... , मंडप भी और शाला भी... , से मालूम होता है कि यहाँ करेरिकुटी, करेरिमंडप, करेरिमंडल माला ये तीन अलग चीजें हैं, और इन तीनोंके बीचमें करेरिवृक्ष था।’ लेकिन दीघनिकायअट्टकथाका ‘वह करेरिमंडप गंधकुटी और निसीदन-शालाके बीचमें था’—यह कहना फिर करेरिमंडपको संदेहमें डाल देता है। इससे तो मालूम होता है ‘करेरिवृक्ष’की जगहपर ‘करेरिमंडप’ भ्रमसे लिखा गया जान पड़ता है। यद्यपि इस प्रकार करेरिमंडपका होना संदिग्ध

^१ दीघ० नि० अ० क० ।

^२ (उदान—३।८)—“करेरिमंडलमाले सन्निसिन्नानं सन्नपतितानं अयं अंतराकथा उदपादि ।”

^३ उदानट्टकथा, पृ० १३५

हो जाता है; तोभी इसमें संदेह नहीं कि करेरि वृक्ष करेरिकुटीके सामने था, जिसके आगे करेरिमंडलमाल । जेतवनमें सभी प्रधान इमारतें गंध-कुटीकी भाँति पूर्वमुँह ही थी । करेरिकुटीके द्वारपर पूर्व तरफ एक करेरिका वृक्ष था, और उससे पूर्व तरफ (१) करेरिमंडलमाल था, जिसमें भोजनोपरांत भिक्षु इकट्ठे होकर धर्म-चर्चा किया करते थे । (२) यह मंडलमाल प्रतिवर्ष फूससे छाया जाता था, इसलिये कोई स्थायी इमारत न थी ।

यहाँ हमें यह कुछ भी नहीं पता लगता कि करेरिकुटी, कोसंबकुटी और गंधकुटीसे किस ओर थी । यदि हम 'करेरिकुटी, कोसंबकुटी, गंधकुटी' इस क्रमको उनका क्रम मान लें, तो करेरिकुटी कोसंबकुटीसे भी पश्चिम थी । यहाँ सललघरको इस क्रमसे नहीं मानना होगा क्योंकि यह तैथिकोंकी जगहपर राजा प्रसेनजित्का बनवाया हुआ आराम था । यह जेतवनके बाहर होनेपर भी शायद समीपताके कारण उसमें ले लिया गया था । ऐसा होनेपर विहार नं० ५ को हम करेरिकुटी मान सकते हैं । करेरिका वृक्ष उसके द्वारपर पूर्वोत्तरके कोनेमें था, और करेरिमंडलमाल उससे पूर्वोत्तरमें ।

उपट्टानशाला (उपस्थानशाला)—खुदकनिकायके उदान ग्रंथमें आता है—“एक समय^१ भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडकके आराम जेतवनमें विहार करते थे । उस समय भोजनके बाद, उपस्थानशालामें इकट्ठे बैठे, बहुतसे भिक्षुओंमें यह कथा होती थी । इन दोनों राजाओंमें कौन बड़ा... है, राजा मागध सेनिय बिबिसार अथवा राजा प्रसेनजित् कोसल ।... उस समय ध्यानसे उठकर भगवान् शामके वक्त उपट्टानशालामें गए और बिछे आसनपर बैठे ।”

^१ “तेन खो पन समयेन उपट्टानशालायं सन्निसिन्नानं सन्नपतितानं अयमन्तराकथा उदपादि ।”—उदान, २।२

इसकी अट्टकथामें आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—

‘भगवान्^१ ने ... भोजनोपरांत ... गंधकुटीमें प्रवेशकर फलसमा-
पत्ति सुखके साथ दिवस-भागको व्यतीतकर (सोचा) ... अब चारों
परिपद् (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) मेरे आनेकी प्रतीक्षामें
सारे विहारको पूर्ण करती बैठी है, अब धर्मदेशनाके लिये धर्म-सभा-मंडल-
में जानेका समय है ...।’

इससे मालूम होता है कि उपस्थानशाला (१) जैतवनमें भिक्षुओंके
एकत्र होकर बैठनेकी जगह थी; (२) तथागत सायंकालको उपदेश देने-
के लिये वहाँ जाते थे। अट्टकथासे इतना और मालूम होता है—(३)
इसीको धर्म-सभा-मंडल भी कहते थे। (४) यह गंधकुटीके पास थी;
(५) सायंकालको धर्मोपदेश सुननेके लिये भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक,
उपासिका सभी यहाँ इकट्ठे होते थे; (६) मंडल शब्दसे करेरिमंडलकी
भाँति ही यह भी शायद फूसके छप्परोसे प्रतिवर्ष छाई जानेवाली इमारत
थी; (७) ये छप्पर शायद गंधकुटीके पासवाली भूमिपर पड़े थे, इसी
लिये ‘सारे विहारको पूर्ण करती’ शब्द आया है।

गंधकुटीके पासवाले गंधकुटी-परिवेणके विषयमें हम कह चुके हैं।
यह गंधकुटीके सामनेका आँगन था। गंधकुटीकी शोभाके ढँक जानेके
खयालसे इस जगह उपस्थानशाला नहीं हो सकती। यह संभवतः गंधकुटी
से लगे हुए उत्तर तरफके भू-खंडपर थी, जिसमें स्तूप नं० ८ या ९ शायद
बुद्धासनके स्थानपर हैं।

स्थानकोष्ठक—अंगुत्तरनिकाय-अट्टकथाका उद्धरण दे चुके हैं—
“भोजनोपरान्तवाले कृत्य (तीसरे पहरके कृत्य—उपदेश आदि)के समाप्त
होनेपर, यदि बुद्ध नहाना (=गात्र धोना) चाहते थे, तो बुद्धासनसे उठकर
स्नानकोष्ठकमें.... शरीरको ऋतु ग्रहण कराते थे।” (१) यह स्नान-

^१ उदानट्टकथा, पृ० ७२ (सिंहललिपि)

कोष्ठक गंधकुटीके पास था। (२) गंधकुटीके पासका कुआँ भी इसके पास ही हो सकता है। (३) यह अलग नहानेकी एक छोटीसी कोठरी रही होगी।

इनपर विचार करनेसे विहार नं० २ के कुएँके पासवाला स्तूप K स्नानकोष्ठकका स्थान मालूम होता है, जिसके विषयमें सर जान मार्शलने लिखा है—

The character is not wholly apparent. It consists of a chamber, 12' 8" square, with a paved passage around enclosed by an outer wall. The floor of the inner chamber and the passage around it are paved in bricks of the same size 13"×9"×2½" (of Kushana Period) as those used in the walls..... absence of any doorway. In all probability, it was a stupa with a relic-chamber within and a paved walk outside; and the outer wall was added at a later date.....A few feet to the south west of this structure is a carefully constructed well; which appears to be of a slightly later date than the building K....The bricks are of the same size as those in the building K....sweet and clear water.....

जंताघर (=अग्निशाला)—इसके बारेमें धम्मपद अट्टकथाके वाक्य ये हैं—

सड़े शरीरवाला तिष्य^१ स्थविर अपने शिष्य आदि द्वारा छोड़ दिया गया था। (भगवान्ने सोचा) इस समय मुझे छोड़ इसका दूसरा कोई

^१ ध० प० ४:८, अ० क० १५७

अवलंब नहीं; और गंधकुटीसे निकल विहारचारिका करते हुए, अग्निशाला-में जा जलपात्रको धो चूल्हेपर रख जल को गर्म हुआ जान, जाकर उस भिक्षु-के लेटनेकी खाटका किनारा पकड़ा। तब भिक्षु खाटको अग्निशालामें लाये। शास्ताने इसके पास खड़े हो गर्म पानीसे शरीरको भिगोकर मल-मलकर नहलाया। फिर वह हल्के शरीर हो और एकाग्रचित्त हो, खाट पर लेटा। शास्ताने उसके सिरहाने खड़े हो यह गाथा कह उपदेश दिया—

“देर नहीं है कि तुच्छ, विज्ञान-रहित, निरर्थक काष्ठखंड सा यह शरीर पृथ्वी पर लेटेगा।.... देशनाके अंतमें वह अर्हत्वको प्राप्त हो, परिनिर्वृत्त हुआ। शास्ताने उसका शरीरकृत्य कराकर हड्डियाँ ले चैत्य बनवाया।”

जंताघर^१ और अग्निशाला दोनों एक ही चीज हैं। चुल्लवग्गमें अग्नि-शालाके विधानमें यह वाक्य है—

“अनुज्ञा^२ देता हूँ, एक तरफ अग्निशाला....ऊँची कुर्सीकी...., ईंट पत्थर या लकड़ीसे चुनी...., सोपान....आलंबनवाहु-सहित..।”

महावग्गमें सामणेरका कर्तव्य वर्णन करते हुए जंताघरके संबंधमें इस प्रकार कहा गया है—

“यदि^३ उपाध्याय नहाना चाहते हों।.... यदि उपाध्याय जंताघर-में जाना चाहते हों, तो चूर्ण ले जाना चाहिए, मिट्टी भिगोनी चाहिए। जंताघरके पीठ(=चौकी)को लेकर उपाध्यायके पीछे पीछे जाकर, जंता-घरमें पीठ देकर, चीवर लेकर एक तरफ रखना चाहिए। चूर्ण देना चाहिए।

^१ ‘जंताघरं त्वग्गिसाला’ (अभिधानप्पदीपिका २१४) ।

^२ “अनुजानामि भिक्खवे एकमन्तं अग्गिसालं कातुं... उच्चवत्थुकं इट्ठिकाचयं सिलाचयं दासुचयं...सोपान...आलंबनवाहं...।” (सेनासन-कखंधक, ६)

^३ विनयपिटक, महा० व०, p. 43

मिट्टी देनी चाहिए।.....जलमें भी उपाध्यायका परिकर्म करना (= मलना) चाहिए। नहाकर पहले ही निकलकर अपने गात्रको निर्जलकर वस्त्र पहनकर, उपाध्यायके गात्रसे जल सम्मार्जित करना चाहिए। वस्त्र देना चाहिए, संघाटी देनी चाहिए। जंताघरके पीठको लेकर पहले ही (निवासस्थानपर) आकर आसन ठीक करना चाहिए...।”

जंताघरका वर्णन और भी है^१—

“अनुज्ञा देता हूँ (जंताघरको) उच्च-वस्तुक करना... किवाड़... सूचिक, घटिक, तालछिद्र... धूमनेत्र.....छोटे जंताघरमें एक तरफ अग्निस्थान, बड़ेके मध्यमें...। (जंताघरमें कीचड़ होता था इसलिये) ईट, पत्थर या लकड़ीसे गच करना,.....पानीका रास्ता बनाना... जंताघर-पीठ... , ईट, पत्थर या लकड़ीके प्राकारमे परिक्षेप करना...।” इन उद्धरणोंसे मालूम होता है कि (१) जंताघर संघारामके एक छोर पर होता था। (२) यह नहानेकी जगह थी। (३) ईट, पत्थर या लकड़ीकी चुनी हुई इमारत होती थी। (४) उसमें पानी गर्म करनेके लिये आग जलाई जाती थी, इसीलिये उसे अग्निशाला भी कहते हैं। (५) उसमें किवाड़, ताला-चाभी भी रहती थी। (६) धुएँकी चिमनी भी होती थी। (७) बड़े जंताघरोंमें आग जलानेका स्थान बीचमें, छोटोंमें एक किनारे पर। (८) जंताघरकी भूमि ईट, पत्थर या लकड़ीसे ढकी रहती थी। (९) उसमें पीढ़ेपर बैठकर नहाते थे। (१०) वह ईट, पत्थर या लकड़ीकी दीवारसे घिरा रहता था।

जेटवनका जंताघर भी जेटवनके अगल-बगल एक कोनेमें रहा होगा, जो ऊपर वर्णन किये गए तरीके पर संभवतः ईट और लकड़ीसे बना होगा। ऐसा स्थान जेटवनके पूर्व-दक्षिण कोणमें संभव हो सकता है; अर्थात् विहार B के आसपास।

^१ विनयपिकट, चुल्ल वग, खुदकवत्युक्खंधक, pp. 213, 214

आसनशाला, अंबलकोष्ठक—जातकट्टकथामें इसके लिये यह शब्द है—
 “अंबलकोष्ठक^१ आसनशालामें भात खानेवाले कुत्तेके संबंधमें कहा। उस (कुत्ते)को जन्मसे ही पनभरोने लेकर वहाँ पाला था।” इससे हमें ये बातें मालूम होती हैं—(१) जेटवनमें आसनशाला थी, (२) जिसके पास या जिसमें ही अंबलकोष्ठक नामकी कोई कोठरी थी, (३) जिसमें पानी भरनेवाले अक्सर रहा करते थे; (४) पानीशाला या उदपानशाला भी यहीं पासमें थी।

यह स्थान भी गंधकुटीसे कुछ हटकर ही होना चाहिए। पनभरोके संबंधसे मालूम होता है, यह भी जंताघर (विहार B)के पास ही कहींपर रहा होगा।

उपसंपदामालक—“फिर^२ उसको स्थविरने जेटवनमें ले आकर अपने हाथसे ही नहलाकर, मालकमें खड़ा कर प्रव्रजित कर, उसकी लँगोटी और हलको मालककी सीमाहीमें वृक्षकी डाल पर रखवा दिया।”

अन्यत्र धम्मपद (८:११ अ० क०)में भी उपसंपदा-मालक नाम आता है।

यह संभवतः गंधकुटीके पास कहीं एक स्थान था, जहाँ प्रव्रज्या दी जाती थी। जेटवनमें वैसे सभी जगह वृक्ष ही वृक्ष थे, अतः इसकी सीमामें वृक्षका होना कोई विशेषता नहीं रखता।

आनंदबोधि—आखिरी चीज जो जेटवनके भीतर रह गई वह आनंद-बोधि है। जातकट्टकथामें उसके लिये यह वाक्य है—

“आनंद^३ स्थविरने रोपा था, इसलिये आनंदबोधि नाम पड़ा। स्थविर द्वारा जेटवनद्वारकोष्ठकके पास बोधि (=पीपल)का रोपा जाना सारे जम्बूद्वीपमें प्रसिद्ध हो गया था।”

भरहुतकी जेटवन-पट्टिकामें भी गंधकुटीके सामने, कोसंबकुटीसे

^१ जातक, २४२ ^२ ध० प०, २५:१०, अ० क० ^३ जातक, २६१

पूर्वोत्तरके कोणपर, वेष्टनीसे वेष्टित एक वृक्ष दिखाया गया है, जो संभवतः आनंदबोधि ही है। यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणसे यह नहीं मालूम होता कि यह पीपलका वृक्ष द्वारकोष्ठकके बाहर था या भीतर; किंतु अधिकतर इसका भीतर ही होना सम्भव है, क्योंकि ऐसा पूजनीय वृक्ष जेतवन खासके भीतर होना चाहिए। पट्टिकामें भी भीतर ही दिखलाया गया है, क्योंकि उसमें द्वारकोष्ठक छोड़ दिया गया है।

बद्धमान—जेतवनके भीतर यह एक और प्रसिद्ध वृक्ष था। धम्म-पट्टकथामें—“आनंद, आज बद्धमानकी छायामें... चित्त... मुझे वंदना करेगा।... वंदनाके समय राजा-मानसे आठ करीस प्रमाण प्रदेशमें... दिव्य पुष्पोंकी घनी वर्षा होगी।” (ध० प० ५:१४, अ० क० २५०)। यह चित्त गृहपति तथागतके सर्वश्रेष्ठ गृहस्थ शिष्योंमें था। तथागतने इसके बारेमें स्वयं कहा है—“भिक्षुओ, श्रद्धालु उपासक अच्छी प्रार्थना करते हुए यह प्रार्थना करे, वैसा होऊँ जैसा कि चित्त गृहपति।” (अ० नि० ३-२-२-५३)।

सुंदरी—जेतवनके संबंधमें एक और प्रसिद्ध घटना (जो अट्टकथा और चीनी परिव्राजकोंके विवरणमें ही नहीं, वरन् त्रिपिटकके मूलभाग उदानमें भी, मिलती है) सुंदरी परिव्राजिकाकी है। उदानमें इसका उल्लेख इस प्रकार है—

“भगवान् जेतवन^१ में विहरते थे। उस समय भगवान् और भिक्षु-संघ सत्कृत पूजित, पिडपात, शयनासन, ग्लानप्रत्य भेषज्योंके लाभी थे, लेकिन अन्य तीर्थिक परिव्राजक असत्कृत... थे। तब वे तीर्थिक, भगवान् और भिक्षु संघके सत्कारको न सहते हुए, सुंदरी परिव्राजिकाके पास जाकर बोले—

‘भगिनी ! ज्ञातिकी भलाई करनेका उत्साह रखती हो ?—में क्या

^१ उदान, ४:८ (मेघियवग्ग) ।

कहाँ आयीं ! मेरा किया क्या नहीं हो सकता ? जीवन भी मैंने ज्ञातिके लिये अर्पित कर दिया है ।—तो भगिनी बार बार जेतवन जाया कर ।—बहुत अच्छा आयीं ! यह कह... , सुंदरी परिव्राजिका बराबर जेतवन जाने लगी । जब अन्य तीर्थिक परिव्राजकोंने जाना, कि बहुत लोगोंने सुंदरीको बराबर जेतवन जाते देख लिया, तो उन्होंने उसे जानसे मारकर वहीं जेतवनकी खाईमें कुआँ खोदकर डाल दिया और राजा प्रसेनजित् कोसलके पास जाकर कहा—महाराज ! जो वह सुंदरी परिव्राजिका थी, सो नहीं दिखलाई पड़ती ।—तुम्हें कहाँ सन्देह है ?—जेतवनमें महाराज—तो जाकर जेतवनको ढूँढो । तब (उन्होंने) जेतवनमें ढूँढ़कर अपने खोदे हुए परिखाके कुएँसे निकालकर खाटपर डाल श्रावस्तीमें प्रवेश कर एक सड़कसे दूसरी सड़क, एक चौराहेसे दूसरे चौराहेपर जाकर आदमियोंको शंकित कर दिया—“देखो आयीं ! शाक्यपुत्रीय श्रमणोंका कर्म, ये अलज्जी, दुःशील, पापधर्म, मृषावादी, अब्रह्मचारी हैं । . . . इनको श्रामण्य नहीं, इनको ब्रह्मचर्य नहीं । इनका श्रामण्य, ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया है । . . . कैसे पुरुष पुरुष-कर्म करके स्त्रीको जानसे मार देगा ?

उस समय सावत्थीमें लोग भिक्षुओंको देखकर (उन्हें) असभ्य और कड़े शब्दोंसे फटकारते थे, परिहास करते थे... । तब बहुतसे भिक्षु श्रावस्तीसे... पिंडपात करके . . . भगवान्के पास जाकर बोले...—इस समय भगवान् ! श्रावस्तीमें लोग भिक्षुओंको देखकर असभ्य और कड़े शब्दोंसे फटकारते हैं... । यह शब्द भिक्षुओ ! चिरकाल तक नहीं रहेगा, एक सप्ताहमें समाप्त हो लुप्त हो जायगा... । (और) वह, शब्द चिरकाल तक नहीं रहा, सप्ताह भर ही रहा... ।”

धम्मपदअट्ठ कथामें भी यह कथा आई है वहाँ यह विशेषता है—
... तब तीर्थिकों^१ने कुछ दिनोंके बाद गुंडोंको कहापण देकर कहा—जाओ

^१ ध० प०, २२-१, अ० क०, ५७१

सुंदरीको मारकर श्रमण गोतमकी गंधकुटीके पास मालोंके कूड़ेमें डाल आओ ...। राजाने कहा—तो (मुर्दा लेकर) नगरमें घूमो।... (फिर) राजाने सुंदरीके शरीरको कच्चे श्मशानमें मचान बाँधकर रखवा दिया। ... गुंडोंने उस कहापणसे शराव पीते ही झगड़ा किया (और रहस्य खोल दिया)...। राजाने फिर तीर्थिकोंको कहा—जाओ, यह कहते हुए नगरमें घूमो कि यह सुंदरी हमने मरवाई...। (फिर) तीर्थिकोंने भी मनुष्य-वधका दंड पाया।

उदानमें कहा है—(१) तीर्थिकोंने खुद मारा। (२) जेतवनकी परिखामें कुआँ खोदकर सुंदरीके शरीरको दबा दिया। (३) सप्ताह बाद अपनी ही बदनामी रह गई। लेकिन धम्मपदअट्ठकथामें—(१) तीर्थिकोंने गुंडोंसे मरवाया। (२) जेतवनकी गंधकुटीके पास मालाके कूड़ेमें सुंदरीके शरीरको डाल दिया। (३) धूर्तोंने शरावके नशेमें भंडा फोड़ दिया। (४) तीर्थिकोंको भी मनुष्य-वधका दंड मिला। यहाँ यद्यपि अन्य अंशोंका समाधान हो सकता है, तथापि उदानका 'परिखामें गाड़ना' और अट्ठकथाका गंधकुटीके पास कूड़ेमें डालना, परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। आरामोंके चारों ओर परिखा होती थी, इसके लिये विनयपिटकमें यह वचन है—“उस^१ समय आराममें घेरा नहीं था, बकरी आदि पशु भी पौधोंका नुकसान करते थे। भगवान्से यह बात कही। (भगवान्ने कहा)—बाँस-वाट, कंटकी-वाट, परिखा-वाट इन तीन वाटों(=हँधान)से घेरनेकी अनुज्ञा देता हूँ।” यह परिखा आरामके चारों ओर होनेसे गंधकुटीके समीप नहीं हो सकती। दोनोंका विरोध स्पष्ट ही है। ऐसे भी उदान मूल सूत्रोंसे संबंध रखता है, इसलिये उसकी, अट्ठकथासे अधिक प्रामाणिकता है। दूसरे उसका कथन भी अधिक संभव प्रतीत होता है। परिखा दूर होनेसे वहाँ आदमियोंके आने-जानेका उतना भय न था, इसलिये खून करनेका वही स्थान हत्यारोंके

^१ विनयपिटक चूल्लवग्ग, सेनासन० ६, पृ० २५०

अधिक अनुकूल था। गंधकुटी जो मुख्य दरवाजेके पास थी। वहाँ लोगोंका बराबर आना-जाना रहता था। शरीर ढाँकने भरके लिये मालाओंके ढेरका गंधकुटीके पास जमा करके रखना भी अस्वाभाविक है।

युन्-च्चेङ्ग ने लिखा है—

Behind the convent, not far, is where the Brahmachari heretics killed women and accused Buddha of the murder. (*The Life of Hiu-en-Tsang*, p. 93).

फाहियानने इसके लिये कोई विशेष स्थान निर्दिष्ट नहीं किया है।

परिखा—सुंदरीके इस वर्णनसे यह भी पता लगता है कि जेटवनके चारों ओर परिखा खुदी हुई थी। इसलिये बाँस या काँटेकी बाड़ नहीं रही होगी।

इन इमारतोंके अतिरिक्त जेटवनके अंदर पेशाबखाने, पाखाने, चंक्रमणशालाएँ भी थीं; किन्तु इनका कोई विशेष उद्धरण नहीं मिलता।

जेटवन बननेका समय—जेटवन-निर्माणमें दिए विनयके प्रमाणसे पता लगता है कि बुद्धको राजगृहमें अनाथापिंडकने वर्षावासके लिये निमंत्रित किया था। फिर वर्षा भर रहनेके लिये स्थान खोजते हुए उसे जेटवन दिखलाई पड़ा और फिर उसने बहुत धन लगाकर वहाँ अनेक सुंदर इमारतें बनवाईं। यद्यपि सूत्र और विनयमें हमें बुद्धके वर्षावासोंकी सूची नहीं मिलती तो भी अट्टकथाएँ इसकी पूरी सूचना देती हैं। अंगुत्तरनिकाय-अट्टकथा (८।४।५)में यह इस प्रकार है—

वर्षा०	ई० पू०	
१	(५२७)	ऋषिपतन (सारनाथ)
२	(५२६)	राजगृह (वेलुवन)

वर्षा०	ई० पू०	
३	(५२५)	राजगृह (वेलुवन)
४	(५२४)	” ”
५	(५२३)	वैसाली (महावन)
६	(५२२)	मंकुल पर्वत
७	(५२१)	तावतिसभवन (त्रायस्त्रिश लोक)
८	(५२०)	भर्ग (सुंसुमारगिरि=चुनार)
९	(५१९)	कौशांबी
१०	(५१८)	पारिलेद्यकवनसंड
११	(५१७)	नाला
१२	(५१६)	वेरंजा
१३	(५१५)	चालिय पर्वत
१४	(५१४)	जेतवन
१५	(५१३)	कपिलवत्तु
१६	(५१२)	आलवी
१७	(५११)	राजगृह
१८	(५१०)	चालिय पर्वत
१९	(५०९)	चालिय पर्वत
२०	(५०८)	राजगृह
२१	(५०७)	श्रावस्ती
२२	(५०६)	”
२३	(५०५)	”
२४	(५०४)	”
२५	(५०३)	”
२६	(५०२)	”
२७	(५०१)	”

वर्षा०	ई० पू०	
२८	(५००)	श्रावस्ती
२९	(४९९)	"
३०	(४९८)	"
३१	(४९७)	"
३२	(४९६)	"
३३	(४९५)	"
३४	(४९४)	"
३५	(४९३)	"
३६	(४९२)	"
३७	(४९१)	"
३८	(४९०)	"
३९	(४८९)	"
४०	(४८८)	"
४१	(४८७)	"
४२	(४८६)	"
४३	(४८५)	"
४४	(४८४)	"
४५	(४८३)	वैशाली (वेलुवगाम)

इसके देखनेसे मालूम होता है कि तथागतने जेतवनमें सर्वप्रथम वर्षा-वास बोधिके चौदहवें वर्षमें किया था। इसका अर्थ यह भी है कि जेतवन बना भी इसी वर्ष (५१४-५१३ ई० पू०)में था, क्योंकि विनयका कहना साफ है कि अनाथपिंडकने वर्षावासके लिये निमंत्रित किया था और विनयके सामने अट्टकथाका प्रमाण नहीं। यहाँ इस बातपर विचार करनेके लिये कुछ और प्रमाणोंपर विचार करना होगा।

वर्षावासके लिये जेतवनमें निमंत्रित होना इसलिये जब जेतवनको पहले गये, तो वर्षावास भी वहीं किया।

(क) कौशांबी^१में भिक्षुओंके कलहके बाद पारिलेयकमें जाकर रहना, वहाँसे फिर जेतवनमें।

(ख) उदान^२में एकांत विहारके लिये पारिलेयकमें जाना लिखा है, झगड़ेका जिक्र नहीं।

(ग) संयुत्तनिकाय^३में एकांत विहारका भी जिक्र नहीं। बिल्कुल

१ “कोसंबियं पिंडाय चरित्त्वा...संघमज्जे ठितको'व...गाथाय भासि-
त्वा...बालकलोणकारगामे...। अथ...पाचीनवंसदाये...। अथ...पारिले-
य्यके...यथाभिरत्तं विहरित्त्वा...अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो...साव-
त्थियं...जेतवने...।”

—महावग्ग, कोसंबक्खन्धक १०, ४०४-४०८, पृष्ठ।

२ “भगवा कोसंबियं विहरति घोसितारामे। तेन खो पन समयेन
भगवा आकिण्णो विहरति भिक्खूहि, भिक्खुनीहि उपासकेहि उपासिकाहि
राजूहि राजमहामत्तेहि तित्थियेहि तित्थियसावकेहि आकिण्णो दुक्खं न
फामु विहरति।...अथ खो भगवा...अनामंतेत्वा उपट्ठाके अनपलोकेत्त्वा
भिक्खुसंघं एको अदुतीयो येन पारिलेय्यकं तेन चारिकं पक्कामि। अनु-
पुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारिलेय्यकं तववसरि। तत्तसुवं भगवा
पारिलेय्यके विहरति रक्खितवनसंडे भद्दसालमूले। अञ्जातरोपि खो हत्थि-
मागो...येन भगवा तेनुपसंकमि।”

—उदान, ४१५

३ “एकं समयं भगवा कोसंबियं विहरति घोसितारामे।...कोसंबियं
पिंडाय चरित्त्वा...अनामंतेत्वा उपट्ठाके, अनपलोकेत्त्वा भिक्खुसंघं, एको
अदुतीयो चारिकं पक्कामि।...एकको भगवा तस्मिं समये विहरितुकामो
होति।...अथ खो भगवा अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारिलेय्यकं

चुपचाप पारिलेयकका चला जाना लिखा है। पीछे चिरकालके बाद आनंद-का भिक्षुओंके साथ जाना, किंतु हाथी आदिका वर्णन नहीं।

(घ) धम्मपदअट्ठकथा^१में झगड़ेके विस्तारका वर्णन है, और महा-वग्गकी तरह यात्रा करके पारिलेयकमें जाना तथा वहाँ वर्षावास करना। वर्षावासके बाद फिर वहाँसे जेतवन जाना भी लिखा है।

यद्यपि चारों जगहोंकी कथाओंमें परस्पर कितना ही भेद है, किंतु संयुक्तनिकायसे भी, जो निःसन्देह सबसे पुरातन प्रमाण है, चिरकाल तक पारिलेयकमें वास करना मालूम होता है, क्योंकि वहाँ भिक्षु आनंदसे कहते हैं—‘आयुष्मान् आनंद ! भगवान्के मुखसे धर्मोपदेश सुने बहुत दिन हुए।’ संयुक्तनिकायके बाद उदानका नंबर है। वहाँ झगड़ेका जिक्र नहीं, तोभी चिरकाल तक वहाँ रहना लिखा है। यद्यपि इन दोनों पुराने प्रमाणोंमें पारिलेयकसे श्रावस्ती जाना नहीं लिखा है, तोभी पारिलेयकमें अधिक समयका वास वर्षावासके विरुद्ध नहीं जाता। विनय और पीछेके दूसरे ग्रन्थोंमें वर्णित जेतवन-गमनसे कोई विरोध नहीं है। यहाँ, हाथीकी सेवाकी कथा संयुक्तनिकायके बाद उदानके समयमें गड़ी गई मालूम होती है। पारिलेयकसे वर्षाके बाद जेतवनमें जाना निश्चित मालूम होता है। पारि-

तदवसरि । तत्थ सुवं पारिलेय्यके विहरति भद्दसालमूले ।..अथ खो संबहुला भिक्खू..आनंदं उपसंक्रमित्त्वा..चिरस्सं सुता खो नो आवुसो आनंद भगवतो सम्मुखा धम्मियकथा ।..अथ खो..आनंदो तेहि भिक्खूहि सद्धिं येन पारिलेय्यकं भद्दसालमूलं येन भगवा तेनुपसंक्रमि ।..भगवा धम्मिया कथाय संबस्सेसि ।”
—सं० नि०, २१।८।९

^१ “कोसंबियं पिंडाय चरित्त्वा अनपलोकेत्त्वा भिक्खुसंघं एरुकोव.. बालकलणकारगामं गत्वा..पाचीनवंसदाये..येन पारिलेय्यकं तदवसरि ..भद्दसालमूले पारिलेय्यके एकेन हत्थिना उपट्टहियमानो फासुकं वस्सा-वासं वसि ।..अनुपुब्बेन जेतवनं अगमासि ।..”(ध० प०, १।५, अ० क०)

लेय्यकका वर्षावास ऊपरकी सूचीमें बोधिसे दसवें वर्ष (५१८ ई० पू०)में है। अतः इससे पूर्व ही जेतवन बना था। बोधि-प्राप्तिके समय तथागतकी आयु ३५ वर्षकी थी। संयुक्तनिकायमें राजा प्रसेनजित्से, संभवतः पहली, मुलाकात होनेका इस प्रकार वर्णन आया है—

“भगवान्... जेतवनमें विहरते थे। राजा प्रसेनजित् कोसल.. भगवान्के पास जा सम्मोदन करके एक तरफ बैठ गया।... फिर भगवान् से कहा। आप गौतम भी—‘हमने अनुत्तर सम्यक् संबोधिको प्राप्तकर लिया’—यह प्रतिज्ञा करते हैं?—जिसको महाराज! अनुत्तर सम्यक्-संबुद्ध हुआ कहें, ठीक कहते हुए वह मुझे ही कहे।... हे गौतम! जो भी संघी, गणी, गणाचार्य, ज्ञात, यशस्वी तीर्थकर, बहुत जनोद्धार साधु-सम्मत, हैं.. जैसे—पूर्ण काश्यप, मंखलि, गोसाल, निगंठ नाथपुत्त, संजय वेलट्टिपुत्त, पकुध कच्चायन, अजित केसकंबल, वह भी पूछने पर ‘अनुत्तर सम्यक् संबोधिको जान गए’, यह दावा नहीं करते। फिर क्या कहना है, आप गौतम तो जन्मसे दहर (=तरुण) हैं, प्रब्रज्यासे भी नए हैं।... भगवान्, आज से मुझे अपना शरणागत उपासक... धारण करें^१।”

यहाँ राजा प्रसेनजित् जेतवनमें जाकर, निर्ग्रथ ज्ञातृ-पुत्र (महावीर) आदिका यश वर्णन करके, तथागतको उमरमें कम और नया साधु हुआ कहता है। इससे मालूम होता है कि तथागत अभिसंबोधि (३५ वर्षकी आयु) के बहुत देर बाद श्रावस्ती नहीं गए थे। उस समय जेतवन बन चुका था। ‘दहर’ कहनेके लिये हम ४५ वर्षकी उम्र तककी सीमा मान सकते हैं। इस प्रकार पुराने सुत्तके अनुसार भी अभिसंबोधिसे दसवें वर्ष (५१९ ई० पू०)से पूर्व ही जेतवन बन चुका था।

महावग्गमें राजगृहसे कपिलवस्तु, फिर वहाँसे श्रावस्ती जेतवन जानेका वर्णन आया है—

^१ संयुक्तनिकाय, पृ० २३

“भगवान्^१ राजगृहमें... विहार करके... चारिका चरण करते हुए ... शाक्य देशमें कपिलवस्तुके न्यग्रोधाराममें विहार करते थे।... फिर भगवान् पूर्वाह्न समय... पात्र चीवर लेकर जहाँ शुद्धोदन शाक्य का घर था वहाँ गए, और रखे हुए आसन पर बैठे। तब राहुलमाता देवीने राहुल कुमारसे कहा। राहुल! यह तेरा पिता है, जा दायज्ज माँग। ... राहुल कुमार यह कहते हुए भगवान्के पीछे पीछे हो लिया—‘श्रमण, मुझे दायज्ज दो’, ‘श्रमण, मुझे दायज्ज दो’। तब भगवान् ने आयुष्मान् सारिपुत्रसे कहा—तो सारिपुत्र तू राहुल कुमारको प्रव्रजित कर...। फिर भगवान् कपिलवस्तुमें इच्छानुसार विहार कर श्रावस्तीकी ओर चारिका के लिये चल दिए। वहाँ... अनाथपिंडकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् सारिपुत्रके उपस्थापक-कुलने एक लड़के को आयुष्मान् सारिपुत्रके पास प्रव्रज्या देनेके लिये भेजा। आयुष्मान् सारिपुत्रके चित्तमें हुआ, भगवान्ने प्रज्ञप्त किया है, एकको, दो सामणेर अपनी सेवामें न रखना चाहिए। और यह मेरा राहुल सामणेर है ही...” अट्टकथासे स्पष्ट है कि यह यात्रा बोधिके दूसरे वर्षमें अर्थात् गयासे वाराणसी ऋषिपतन, वहाँसे राजगृह आकर फिर कपिलवस्तु जाना। इस प्रकार ५२६ ई० पू०में जेतवन मौजूद मालूम होता है।

जातकट्टकथामें इसे इस तरह संक्षिप्त किया है—शास्ता^१ बुद्ध होकर प्रथम वर्षा० ऋषिपतनमें बसकर, ... उरुवेलाको जा वहाँ तीन मास बसे, ... भिक्षुसंघ-सहित पौषकी पूर्णिमाको राजगृहमें पहुँच दो मास ठहरे। इतने^२में वाराणसीसे निकलेको पाँच मास हो गए।... फाल्गुन पूर्णिमाको उस(=उदायि)ने सोचा... अब यह (यात्राका) समय है...। राजगृहसे निकलकर प्रतिदिन एक योजन चलते थे।... (इस प्रकार) राजगृहसे ६० योजन कपिलवस्तु दो मासमें पहुँचे।... (वहाँसे) भगवान्

^१ महावग्ग (सिंहललिपि), ३९१-९३

^२ जातक, निदान।

फिर लौटकर राजगृह जा, सीतवनमें ठहरे। उस समय अनाथपिंडक गृहपति... अपने प्रिय मित्र राजगृहके सेठके घर जा, बुद्धोत्पत्ति सुन,.. शास्ताके पास जा धर्मोपदेश सुन,.. द्वितीय दिन बुद्ध प्रमुख संघको महादान दे, श्रावस्ती आनेके लिये शास्ताकी प्रतिज्ञा ले...।

यहाँ विनयसे जातकट्टकथाका, कपिलवस्तुसे आगे जानेके स्थानमें विरोध है। जातकट्टकथाके अनुसार बुद्ध वहाँसे लौटकर फिर राजगृह आए। लेकिन विनयके अनुसार राहुलको प्रव्रजितकर वे श्रावस्ती जेतवन पहुँचे। जातकके अनुसार बुद्धकी कपिलवस्तुकी यात्रा बोधिसे दूसरे वर्ष (५२६ ई० पू०)की फाल्गुन-पूर्णिमाको आरंभ हुई, और वे दो मास बाद वैशाख-पूर्णिमाको वहाँ पहुँचे। वहाँसे फिर लौटकर राजगृह आकर वहीं उन्होंने वर्षावास किया जो ऊपरकी सूचीसे स्पष्ट है। वहीं सीतवनमें अनाथपिंडक का जातक-अट्टकथाके अनुसार श्रावस्ती आनेकी प्रतिज्ञा लेना, विनयके अनुसार वर्षावासके लिये निमंत्रण स्वीकार कराना होता है। इस प्रकार तथागतका जाना द्वितीय वर्षावासके बाद (५२६-५२५ ई० पू०) हो सकता है।

अब यहाँ दो बातोंपर ही हमें विशेष विचार करना है—(१) विनयके अनुसार कपिलवस्तुसे श्रावस्ती जाना और वहाँ जेतवनमें ठहरना। (२) जातक अ० के अनुसार कपिलवस्तुसे राजगृह लौट आना, और संभवतः वर्षावासके बाद दूसरे वर्ष जेतवनमें विहार तैयार हो जानेपर वहाँ जाना। यद्यपि विनय ग्रंथकी प्रामाणिकता अट्टकथासे अधिक है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि कपिलवस्तुके जाने से पहले अनाथपिंडकका तथागत से मिलना नहीं आता; इसीलिये कपिलवस्तुसे श्रावस्ती जाकर जेतवनमें ठहरना बिल्कुल ही संभव नहीं मालूम पड़ता। इसके विरुद्ध जातकका वर्णन सीतवनके दर्शनके (द्वितीय वर्षा०के) बाद जाना अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है। विनयने स्पष्ट कहा है कि अनाथपिंडकने वर्षावासके लिये निमंत्रण दिया, और इसीलिये तीन मासके निवासके लिये जेतवनके श्लटपट

बनवानेकी भी अधिक जरूरत पड़ी; इस प्रकार तथागत जेतवन गए और साथ ही वहीं उन्होंने वर्षावास भी किया—यह अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि वर्षावासोंकी सूचीमें तीसरा वर्षावास राजगृहमें लिखा है, तोभी जेतवन बोधिके दूसरे और तीसरे वर्षके बीच (५२६-५२५ ई० पू०)में बना जान पड़ता है।

पहिले दिये अट्टकथाके उद्धरणसे मालूम होता है कि तीर्थिकोंने जेतवनके पास तीर्थिकाराम प्रथम बोधि अर्थात् बोधिके बाद प्रथम पंद्रह वर्षों (५२७-५१३ ई० पू०)में बनाना आरंभ किया था। इससे निश्चित ही है कि उस (२१३ ई० पू०)से पूर्व जेतवन बन चुका होगा।

ऊपर दी गई वर्षावासकी सूचीके अनुसार प्रथम वर्षावास श्रावस्तीमें बोधिसे चौदहवें साल (५१४ ई० पू०)में किया। चूंकि अनार्थापिडकका निमंत्रण वर्षावासके लिये था, इसलिये यह भी जेतवनके बननेका साल हो सकता है।

सातवाँ वर्षावास त्रयस्त्रिंश-लोकमें बतलाया जाता है। उस वर्ष आषाढ पूर्णिमा (बुद्धचर्या पृष्ठ ८५)के दिन तथागत श्रावस्ती जेतवनमें थे। इस प्रकार इस समय (५२१ ई० पू०) जेतवन बन चुका था।

सारांश यह कि जेतवनके बननेके सात समय हमें मिलते हैं—

- (१) सोलहवें वर्ष (५१२ ई० पू०)से पूर्व, (अट्टकथा) पृ० २५९।
- (२) पंद्रहवें ,, (५१३ ई० पू०)से पूर्व, (अट्टकथा) पृ० २९४।
- (३) दसवें ,, (५१८ ई० पू०)से पूर्व, (विनय सूत्र)पृ० २९६।
- (४) ,, ,, ,, (सूत्र) पृ० २९८।
- (५) सातवें (५२१ ई० पू०)से पूर्व, (अट्टकथा) पृ० २९९।
- (६) द्वितीय (५२० ई० पू०) (विनय) पृ०, २९९।
- (७) तृतीय (५२५ ई० पू०) (अट्टकथा) पृ०, ३००।

इनमें पहले पाँचसे हमें यही मालूम होता है कि उक्त समयसे पूर्व किसी समय जेतवन तैयार हुआ, इसलिये उनका किसीसे विरोध नहीं है।

पूर्वाराम

जैतवनके बाद बौद्धधर्मकी दृष्टिमें दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान पूर्वाराम था। पहले हम पूर्वारामकी स्थितिके बारेमें संक्षेपसे विचार कर चुके हैं। पूर्वाराम और पूर्वद्वारके संबंधमें संयुक्तनिकाय^१ के और उदान^२ के इस उद्धरणसे कुछ प्रकाश पड़ता है।

“भगवान्... पूर्वाराममें... सायंकाल ध्यानसे उठकर बाहरी द्वारके कोठेके बाहर बैठे थे।... (उस समय) राजा प्रसेनजित् भगवान्के पास पहुँचा।... उस समय सात जटिल, सात निगंठ, सात अचेलक, सात एकसाटक और सात परिव्राजक, नख, लोम बढ़ाए अनेक प्रकारकी खारिया लेकर भगवान्के अविदूरसे जाते थे। तब राजा... आसनसे उठकर, उत्तरासंगको एक कंधेपर कर, दाहिने घुटनेको भूमिपर रख, उन सातों... की ओर अंजलि जोड़ तीन बार नाम सुनाने लगा—भंते! मैं राजा प्रसेनजित् कोसल हूँ...।”

इसपर अट्टकथा—“बाहरी द्वारका कोठा—प्रासाद—द्वारकोट्टकके बाहर, विहारके द्वारकोट्टकसे बाहरका नहीं। वह प्रासाद लौहप्रासादकी भाँति चारों ओर चार द्वारकोट्टकोसे युक्त, प्राकारसे घिरा था। उनमेंसे पूर्व द्वारकोट्टकके बाहर प्रासादकी छायामें पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके... बैठे थे। अविदूरसे, अर्थात् अविदूर मार्गसे नगर (=श्रावस्ती)-में प्रवेश करते थे।”

इससे हमें निम्न-लिखित बातें मालूम होती हैं—

(१) पूर्वारामके प्रासादके चारों ओर चार फाटकोंवाली चहार-दीवारी थी।

^१ ३।२।१, पृ० २४; अ० क० २१६

^२ ६।२

(२) अनुराधपुरका लौहप्रासाद और पूर्वारामका प्रासाद कई अंशोंमें समान थे। संभवतः पूर्वारामके नमूनेपर ही लौह-प्रासाद बना था।

(३) इसके चारों तरफ चार दर्वाजे थे।

(४) (जाड़ेमें) सायंकालको पश्चिम द्वारके बाहर बैठकर प्रायः तथागत धूप लिया करते थे।

(५) वहाँ राजा प्रसेनजित् तथा दूसरे संभ्रांत व्यक्ति भी उपस्थित होते थे।

(६) उसके पासहीसे मार्ग था।

(७) इस स्थानसे नगरका पूर्वद्वार बहुत दूर न था, क्योंकि जटिलोके लिये 'नगरको जाते थे' न कहकर 'नगरमें प्रवेश करते थे' कहा है।

(८) संभवतः पूर्वाराम^१की ओर भी, जटिल, निगंठ (=जैन), अचेलक, एकसाटक और परिव्राजक साधुओंके विहार थे, जहाँसे वे नगरमें जा रहे थे।

पहले^२ यह बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार विशाखाका 'महा-लता आभूषण' एक दिन जेतवनमें छूट गया था। विशाखाने तथागतसे कहा — "भंते^३ ! आर्य आनंदने मेरे आभूषणको हाथ लगाया...। उसको देकर, (उसके मूल्यसे) चारों प्रत्ययोंमें कौन प्रत्यय ले आऊँ ? विशाखा ! पूर्व द्वारपर, संघके लिये वासस्थान बनाना चाहिए। अच्छा भंते ! यह कहकर तुष्टमानसा विशाखाने नव करोड़में भूमि ही खरीदी। अन्य नव करोड़से विहार बनाना आरंभ किया।... एक दिन अनाथपिंडकके घर भोजन करके शास्ता उत्तर द्वारकी ओर गए।... उत्तर द्वार जाते हुए देख चारिकाको जाएँगे... यह सुन... विशाखाने जाकर... कहा— भंते ! कृताकृत जाननेवाले एक भिक्षुको लौटाकर (=देकर) जाएँ।—

^१ वर्तमान हनुमनवाँ । ^२ देखो पृष्ठ ६४

^३ ध० प०, ४-८; अ० क०, १९९, ३८-३९

तो वैसे (भिक्षु) का पात्र ग्रहण कर।...विशाखाने ऋद्धिमान् समझ महा-मोग्गलानका पात्र पकड़ा।... उनके अनुभावसे पचास-साठ योजनपर वृक्ष और पाषाणके लिये आदमी जाते थे। बड़े बड़े पाषाणों और वृक्षोंको लेकर उसी दिन लौट आते थे।...जल्दी ही दो-महला प्रासाद बना दिया गया। निचले तलपर पाँच सौ गर्भ (=कोठरियाँ) और ऊपरकी भूमि (=तल)पर पाँच सौ गर्भ, (कुल) एक हजार गर्भोंसे सुशोभित ... था। शास्ता नौमास चारिका करके फिर श्रावस्ती आए। विशाखाके प्रासादमें भी काम नौ मासमें समाप्त हुआ। प्रासादके कूटको ठोस साठ जलघड़ेके बराबर लाल सुवर्णसे बनवाया। शास्ता जेतवनको जा रहे हैं, यह सुन (विशाखाने) आगे जा, शास्ताको अपने विहारमें लाकर..। उसकी एक सहायिका हजार मूल्यवाले एक वस्त्रको ले आकर—सहायिके ! तेरे प्रासाद-में मैं इस वस्त्रका फर्श बिछाना चाहती हूँ; बिछानेका स्थान मुझे बतलाओ। वह उससे कम मूल्यवाले वस्त्रको न देख रोती हुई खड़ी थी। तब आनंद स्थविरने कहा—सोपान और पैर धोनेके स्थानके बीचमें पाद-पुच्छन करके बिछा दो।... विहारकी भूमिको खरीदनेमें नौ करोड़, विहार बनवानेमें नौ, और विहारके उत्सवमें नौ, इस प्रकार सब सत्ताईस करोड़ उसने बुद्ध-शासनमें दान किया। स्त्री होते, तथा मिथ्या-दृष्टिके घरमें बसने वालीका इस प्रकारका त्याग (और) नहीं है।”

इससे मालूम होता है—

- (९) पूर्वाराम ९ मासमें बना था।
- (१०) मोग्गलान बनानेमें तत्त्ववधायक थे।
- (११) मकान बनवानेमें कुल खर्च २७ करोड़ हुआ।
- (१२) यह दो-महला था। प्रत्येक तलमें ५०० गर्भ थे।

विनयपिटकमें है—

“विशाखा^१...संघके लिये आर्लिद(=बरामदा)-सहित, हस्तिनख

^१ विनयपिटक चुल्लवग्ग, सेनासनकखंडक ६

प्रासाद बनवाना चाहती थी।”

इससे—

(१३) वह बरामदा सहित था।

(१४) वह हस्तिनख प्रासाद था।

संयुक्तनिकायमें—

“भगवान्^१... पूर्वाराममें... सायंकालको... पीछेकी ओर धूपमें पीठ तपाते बैठे हुए थे। आयुष्मान् आनंद भगवान्के पास गए।... और हाथसे भगवान्के शरीरको रगड़ते हुए बोले—आश्चर्य है भंते! अब भगवान्... का छवि-वर्ण उतना परिशुद्ध नहीं रहा। गात्र शिथिल है, सब झुरियाँ पड़ गई हैं। शरीर सामने झुका हुआ है। चक्षु.. (आदि) इंद्रियोंमें भी विपरीतता दिखलाई पड़ती है।”

इसपर अट्टकथामें है—“प्रासाद पूर्व ओर छायासे ढँका था, इसीलिये प्रासादके पश्चिम-दिशाभागमें धूप थी। उस स्थानपर...बैठे थे।...यह हिम पड़नेका शीत समय था। उस वक्त महाचीवरको उतारकर सूर्यकिरणों-से पीठको तपाते हुए बैठे थे।”

इनसे ये बातें और मालूम होती हैं—

(१५) उस समय तथागतके शरीरमें झुरियाँ पड़ गई थीं, आँखों आदिकी रोशनीमें अंतर आ गया था।

(१६) प्रधान द्वार पूर्व ओर था, तभी ‘पीछेकी ओर’ कहा गया है। संयुक्तनिकायहीमें है—

“मोग्गलान^२ ने... पैरके अँगूठेसे मिगारमाताके प्रासादको हिलाया। ...उन भिक्षुओंने (कहा)...यह मिगारमाताका प्रासाद गंभीरनेम, सुनिखात, अचल, असंप्रकम्प्य है...।”

^१ सं० नि०, ५।६।२६

^२ ५०।२।४

अट्टकथाने गंभीरनेमका अर्थ 'गंभीर भूमिभागमें प्रतिष्ठित' किया है। और 'सुनिखात'का, कूटकर अच्छी तरह स्थापित।"

इनसे—

(१७) पूर्वाराम ऊँची और दृढ़ भूमिमें बनाया गया था।

(१८) "कूटकर गाड़ा गया था"से खंभोंको गाड़कर, लकड़ियोंका बना मालूम होता है।

मञ्जिमनिकायमें—

"हे गौतम, जिस^१ प्रकार इस मिगारमाताके प्रासादमें अंतिम सोपान कलेवर तक अनुपूर्व क्रिया देखी जाती है...।"

अट्टकथामें—

"प्रथम सोपानफलक^२ तक, एक ही दिनमें सात महलका प्रासाद नहीं बनाया जा सकता। वस्तु शोधन कर स्तंभ खड़ा करनेसे लेकर चित्रकर्म करने तक अनुपूर्व क्रिया।"

इससे भी—

(१९) वह प्रासाद सात महलका था, जो (१२)से बिल्कुल विरुद्ध है, और बतलाता है कि किस प्रकार बातोंमें अतिशयोक्ति होती है।

(२०) मकान बनानेमें पहले भूमिको बराबर किया जाता था, फिर खंभे गाड़े जाते थे, ... अंतमें चित्रकर्म होता था।

मञ्जिमनिकायमें ही—

"जिस^३ प्रकार आनंद! यह मिगारमाताका प्रासाद हाथी, गाय, घोड़ा-घोड़ीसे शून्य है, सोना-चाँदीसे शून्य है; स्त्री-पुरुष-सन्निपातसे शून्य है"। इसकी अट्टकथामें लिखा है—

^१ म० नि०, ३।१।७, गणक-मोग्गलानसुत्त, १०७

^२ अ० क०, ८५५

^३ म० नि०, ३।२।७, चूल सुञ्जतासुत्त, ११९

“वहाँ काष्ठ-रूप^१, पुस्त-रूप, चित्र-रूपमें बने हाथी आदि हैं। वैश्रवण मांघाता आदिके स्थित स्थानपर चित्रकर्म भी किए गए हैं। रत्न-परिसेवित जंगले, द्वारबंध, मंच, पीठ आदि रूपसे स्थित, तथा जीर्ण प्रतिसंस्करणार्थ रखा हुआ सोना-चाँदी है। काष्ठरूपादिके रूपमें, तथा प्रश्न पूछने आदिके लिये आनेवाले स्त्री-पुरुष हैं। इसलिये वह (मिगारमानु पासाद) उनसे शून्य है, का अर्थ है—इंद्रिययुक्त जीवित हाथी आदिका, तथा इच्छानुसार उपभोगयोग्य सोने-चाँदीका, नियमपूर्वक बसनेवाले स्त्री-पुरुषोंका अभाव”।

इससे —

(२१) वह सोने-चाँदीसे शून्य था। अटुकथाकी इसपरकी लीपापोती सिर्फ यही वतलाती है कि कैसे पीछे भिक्षुवर्ग चमक-दमकके पीछे पड़कर, तावील किया करता था।

दीघनिकायकी अटुकथामें—

“(विशाखा)^२ दशवलकी प्रधान उपस्थायिकाने उस आभूषणको देकर नव करोड़से... करीस भर भूमिपर प्रासाद बनवाया। उसके ऊपरी भागमें ५०० गर्भ, निचले भागमें ५०० गर्भ, १००० गर्भोंसे सुशोभित। वह प्रासाद खाली नहीं शोभा देता था, इसलिये उसको घेरकर, साढ़े पाँच सौ घर, ५०० छोटे प्रासाद और ५०० दीर्घशालाएँ बनवाईं...। अनाथपिंडकने...श्रावस्तीके दक्षिण भागमें अनुराधपुरके महाविहारसदृश स्थानपर जेतवन महाविहारको बनवाया। विशाखाने श्रावस्तीके पूर्व भागमें उत्तमदेवी विहारके समान स्थानपर पूर्वारामको बनवाया। भगवान्ने इन दो विहारोंमें नियमित रूपसे निवास किया। (वह) एक वर्षा

^१ अ० क० । रूप=मूर्ति ।

^२ दी० नि०, आनञ्जामुत्त २०, अ० क० पृ० १४। अं० नि० अ० क० १।७।२ भी ।

जेटवनमें व्यतीत करते थे, एक पूर्वाराममें ।”

(२२) विहार एक करीस अर्थात् प्रायः ३ एकड़ भूमिमें बना था ।

(२३) चारों ओर हजारों घरों, छोटे प्रासादों, दीर्घशालाओंका लिखना अट्टकथाकारोंका अपना काम मालूम होता है ।

(२४) अनुराधपुरमें भी जेटवन और पूर्वारामका अनुकरण किया गया था । पूर्वाराम श्रावस्तीके उसी प्रकार पूर्व तरफ था, जैसे अनुराधपुर (सिंहल)में उत्तरदेवी विहार ।

जिस प्रकार सुदत्तसेठका नाम अनाथपिंडक प्रसिद्ध है; उसी प्रकार विशाखा मिगारमाताके नामसे प्रसिद्ध है । नामसे, मिगार विशाखाका पुत्र मालूम होगा, किंतु बात ऐसी नहीं है, मिगार सेठ विशाखाका ससुर था । इस नामके पड़नेकी कथा इस प्रकार है—

“विशाखा^१ ... अंगराष्ट्र (भागलपुर, मुँगेर जिले)के भद्रिय (= मुंगेर) नगरमें मेंडक सेठके पुत्र धनंजय सेठकी अग्रमहिषी सुमना देवीके कोखसे पैदा हुई...। बिबिसार राजाके आज्ञा-प्रवर्तित स्थान (अंग-मगध)में पाँच अतिभोग व्यक्ति जोतिय, जटिल, मेंडक, पुण्णक और काक-बलिय थे...। श्रावस्तीमें कोसल राजाने बिबिसारके पास संदेश भेजा ...हमको एक महाधनी कुल भेजो।... राजाने... धनंजयको... भेजा । तब कोसल राजाने श्रावस्तीसे सात योजनके ऊपर साकेत (अयोध्या) नगरमें श्रेष्ठीका पद देकर (उसे) बसा दिया । श्रावस्तीमें मिगारसेठका पुत्र पूर्णवर्द्धनकुमार वयःप्राप्त था।... मिगार सेठ (बारातके साथ) कोसल राजाको लेकर गया।... चार मास (उन्होंने वहीं) पूरे किये । ... (धनंजय सेठने विशाखाको) उपदेश देकर दूसरे दिन सभी श्रेणियोंको इकट्ठा करके राजसेनाके बीचमें आठ कुटुंबियोंको जांमिन देकर—‘यदि गए हुए स्थानपर मेरी कन्याका कोई दोष उत्पन्न हो, तो तुम उसे शोधन

करना'—कहकर नौ करोड़ मूल्यके 'महालता' आभूषणसे कन्याको आभूषित कर, स्नान चूर्णके मूल्यमें ५४ सौ गाड़ी धन दे...। मिगारसेठीने... सातवें दिन... नंगे श्रमणकोंको बैठाकर, (कहा)—मेरी बेटी आवे, अर्हतोंको वंदना करे...। वह... उन्हें देख... 'धिक्, धिक्' निंदा करती चली गई। ... नंगे श्रमणोंने सेठको निंदाकी—... क्यों गृहपति! दूसरी नहीं मिली? श्रमण गीतम की श्राविका (शिष्या) महाकालकर्णीको किसलिये इस घरमें प्रवेश कराया।... (सेठ) आचार्यों! बच्ची है... आप चुप रहें—यह कह नंगोंको विदाकर, आसन पर बैठ सोनेकी कर्तूल लेकर विशाखा द्वारा परोसे (खाद्यको) भोजन करता था।... उसी समय एक मधूकरीवाला भिक्षु घरके द्वारपर पहुँचा...। वह ... स्थविरको देखकर भी... नीचे मुँहकर पायसको खाता ही रहा। विशाखाने... स्थविरसे (कहा)—माफ करें भंते! मेरा ससुर पुराना खाता है। उस (सेठ)ने अपने आदमियोंसे कहा, ... इस पायसको हटाओ, इसे (=विशाखाको) भी इस घरसे निकालो। यह ऐसे मंगल घरमें मुझे अशुचि-खादक बना रही है...। विशाखाने... कहा—तात! इतने वचन मात्रसे मैं नहीं निकलती। मैं कुंभदासीकी भाँति पनघटसे तुम्हारे द्वारा नहीं लाई गई हूँ। जीते मा वापकी लड़कियाँ इतने मात्रसे नहीं निकला करतीं, .. आठों कुटुंबिकोंको बुलाकर मेरे दोषादोषकी शोध कराओ।... सेठने आठ कुटुंबिकोंको बुलाकर कहा—यह लड़की सप्ताह भी न परिपूर्ण होते, मंगल घरमें बैठे हुए मुझे अशुचि-खादक बतलाती है।... ऐसा है अम्म?—तातो! मेरा ससुर अशुचि खानेकी इच्छावाला होगा, मैंने ऐसा करके नहीं कहा; एक पिंडपातिक स्थविरके घर-द्वारपर स्थित होनेपर, यह निर्जल पायस भोजन करते हुए, उसका ख्याल (मनमें) नहीं करते थे। मैंने इसी कारणसे—'माफ करो भंते! मेरा ससुर इस शरीरसे पुण्य नहीं करता, पुराने पुण्यको खाता है,'... कहा—आर्य, दोष नहीं है, हमारी बेटी तो कारण कहती है, तुम क्यों क्रुद्ध होते हो।... (फिर कुछ और

इलजामोंके जाँच करनेपर) —वह और उत्तर न दे, अधोमुख हो बैठ गया। फिर कुटुंबिकोंने उससे पूछा—क्यों सेठ, और भी दोष हमारी बेटीका है? —नहीं आर्यो! —क्यों फिर निर्दोषको अकारण घरसे निकलवाते हो? उस समय विशाखाने कहा—पहले मेरे ससुरके वचनसे मेरा जाना ठीक न था। मेरे आनेके दिन मेरे पिता ने दोष शोधनके लिये तुम्हारे हाथमें रखकर (मुझे) दिया था। अब मेरा जाना ठीक है। यह कह, दासी दासोंको यान तैयार करनेके लिये आज्ञा दी। तब सेठने उन कुटुंबिकोंको लेकर कहा—अम्म! अनजाने मेरे कहनेको क्षमा कर।—तात, तुम्हारे क्षंतव्यको क्षमा करती हूँ; किंतु मैं बुद्धशासनमें अनुरक्त कुलकी बेटी हूँ; हम बिना भिक्षुसंघके नहीं रह सकतीं। यदि अपनी रुचिके अनुसार भिक्षु-संघकी सेवा करने पाऊँगी, तो रहूँगी।—अम्म! तू अपनी रुचिके अनुसार अपने श्रमणोंकी सेवा कर।

तब विशाखाने निर्मंत्रितकर दूसरे दिन... बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ को बैठाया।... मेरा ससुर आकर दशवलको परोसे (यह खबर भेजी)।... (मिगार सेठने बहाना करदिया)...। आकर दशवलकी धर्मकथाको सुने...। मिगारसेठ जाकर कनातसे बाहर ही बैठा।... देशनाके अंतमें सेठने सोतापत्ति-फलमें प्रतिष्ठित हो कनातको हटा..पंचंगसे वंदनाकर, शास्ताके सामने ही—‘अम्म! तू आजसे मेरी माता है’—यह कह विशाखाको अपनी माताके स्थानपर प्रतिष्ठित किया। तभीसे विशाखा ‘मिगारमाता’ प्रसिद्ध हुई।”

स्थानको देखनेपर हनुमनवाँही पूर्वाराम मालूम होता है।

तीर्थिकाराम

समयप्पवादक-परिव्वाजकाराम—पहिले^१ पाँच प्रकारके अन्य तीर्थिक—जटिल, निर्ग्रथ आदि बतलाए हैं। अचेलक^१ एकदम नंगे रहते

^१ ध० प० २२।८, अ० क० ५७८

थे। अटुकथामें—एक दिन भिक्षुओंने निर्ग्रंथोंको देखकर कथा उठाई—
आवुसो! सब तरह बिना ढँके हुए अचेलकोंसे यह निर्ग्रंथ (=जैन)श्रेष्ठ-
तर हैं, जो एक अगला भाग भी तो ढाँकते हैं, मालूम होता है ये सलज्ज हैं।
यह सुन निर्ग्रंथोंने कहा—इस कारणसे नहीं ढाँकते हैं, पाँशु धूलि भी तो
पुद्गल (=जीव) ही है। प्राणी हमारे भिक्षा-भाजनमें न पड़ें, इस वजहसे
ढाँकते हैं।” एकशाटक और परिव्राजकोंका जिक्रकर चुके हैं। इन सभी
मतोंके साधुओंके आराम श्रावस्तीके बाहर फैले हुए थे। ये अधिकतर
श्रावस्तीके दक्षिण और पूर्व तरफमें रहे होंगे, जिधर कि पूर्वाराम और
जेतवन थे। चिंचा और सुंदरीके वर्णनसे भी पता लगता है कि जेतवन-
की ओर तीर्थकोंके भी स्थान थे। इनमें समयप्पवादक त्तिदुकाचीर एक-
सालक मल्लिकाका आराम बहुत ही बड़ा था। हमने इसको चीरेनाथके
मंदिरकी जगहपर निश्चित करनेके लिये कहा है। दीघनिकायमें कहा है
—“पोट्टपाद^१ परिव्राजक समयप्पवादक... मल्लिकाके आराममें तीस
सौ परिव्राजकोंकी बड़ी परिषद्के साथ निवास करता था।” अ० क०में—
उस स्थानपर चंक, तारुक्ख, पोक्खरसाति, “आदि ब्राह्मण, निर्ग्रंथ, अचे-
लक, परिव्वाजक आदि प्रव्रजित एकत्र हो अपने अपने समय (=सिद्धान्त)-
का व्याख्यान करते थे; इसीलिये वह आराम समयप्पवादक (कहा जाता
था)...।”

मज्झिमनिकायमें—

“समणमंडिकापुत्र उग्गहमाण परिव्राजक समयप्पवादक... मल्लिकाके
आराममें सात सौ परिव्राजकोंकी बड़ी... परिषद्के साथ वास करता था।
उस समय पंचकंग गृहपति दोपहरको श्रावस्तीसे भगवान्के दर्शनके लिये
निकला। तब पंचकंग गृहपतिको ख्याल हुआ—भगवान्के दर्शनका यह
समय नहीं है, भगवान् इस समय ध्यानमें हैं...। क्यों न... मल्लिकाके

आराममें चलूँ।”

ये दोनों उद्धरण दीघनिकाय और मज्झिमनिकायके हैं; जो कि त्रिपिटकके अत्यंत पुराने भाग हैं^१। इनसे हमें ये बातें स्पष्ट मालूम होती हैं—

(१) यह एक बड़ा आराम था, जिसमें ७०० से तीन हजार तक परिव्राजक निवास कर सकते थे।

(२) नगरसे जेतवन जानेवाले द्वार (=दक्षिण द्वार)के बाहर था।

(३) यहाँ बैठकर ब्राह्मण और साधु लोग नाना प्रकारकी दार्शनिक चर्चाएँ किया करते थे।

(४) बुद्ध तथा उनके गृहस्थ और विरक्त शिष्य यहाँ जाया करते थे। जेतवनके पीछे आजीवकोंकी भी कोई जगह थी। क्योंकि जातकअट्टकथामें आता है—

“उस समय^२ आजीवक जेतवनके पीछे नाना प्रकारका मिथ्या तप करते थे। उक्कुटिक प्रधान, वग्गुलिब्रत, कंटकाप्रश्रय, पंचातप, तपन आदि।”

परिव्राजकारामका बनना रुक जानेसे,^१ जेतवनके बहुत समीप और कोई किसी ऐसे आरामका होना असंभव नहीं मालूम होता। शायद जेतवनके पीछेकी ओर खुली ही जगहमें वे तपस्या करते रहे होंगे।

सुतनु-तीर—^३संयुक्तनिकायसे पता लगता है, सुतनुतीर पर भी

^१ “आयुष्मान् सारिपुत्र... (जेतवनसे) श्रावस्तीमें पिंडके लिये चले।... बहुत सबेरा है... (इसलिये) जहाँ अन्य तीर्थकों, परिव्राजकोंका आराम था वहाँ गए।”

—अ० नि० ७।८।११, ९।२।८, १०।३।७

^२ जातकट्टकथा १।१४।५

^३ “एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध सावत्थीमें सुतनुके तीर विहार करते थे।” —सं० नि०, ५१।१।३

भिक्षुओंका कोई विहार था। 'तीर' शब्दसे तो पता लगता है, सुतनु कोई जलाशय (=छोटी नदी, या बड़ा तालाब) होगा। संभवतः वर्तमान ओडा-झार, खडौआझार सुतनुतीरको सूचित करते हैं। ऐसा होनेपर वर्तमान खजुहा ताल प्राचीन सुतनु है।

अंधवन—श्रावस्तीके पास एक और प्रसिद्ध स्थान अंधवन था। संयुत्तनिकाय-अट्टकथामें —

“काश्यप^१ सम्यक्-संबुद्धके चैत्यकी मरम्मतके लिये धन एकत्रित करा कर आते हुए यशोधर नामक धर्मभाणक आर्यपुद्गलकी आँखें निकालकर, वहाँ (स्वयं) अंधे हुए पाँच सौ चोरोँके बसनेसे... अंधवन नाम पड़ा। यह श्रावस्तीसे दक्षिण तरफ गव्यूति भर दूर राजरक्षासे रक्षित (वन) था..। यहाँ एकांतप्रिय (भिक्षु)... जाया करते थे।”

फाहियान^२ने इसपर लिखा है—

“विहारसे चार 'ली' दूर उत्तर-पश्चिम तरफ एक कुंज है।... पहले ५०० अन्धे भिक्षु इस वनमें वास करते थे। एक दिन उनके मंगल के लिये बुद्धदेवने धर्मव्याख्या की, उसी समय उन्होंने दृष्टिशक्ति पाली। प्रसन्न हो उन्होंने अपनी अपनी लकड़ियोंको मिट्टीमें दबाकर प्रणाम किया। उसी दम वे लकड़ियाँ वृक्षके रूपमें, और शीघ्र ही वनके रूपमें परिणत हो गईं। ...इस प्रकार इसका यह नाम (अंधवन) पड़ा। जेतवनवासी अनेक भिक्षु मध्याह्न भोजन करके (इस) वनमें जाकर ध्यानावस्थ होते हैं।”

इससे मालूम होता है—

(१) काश्यप बुद्धके स्तूपसे श्रावस्तीकी ओर लौटते समय यह स्थान रास्ते में पड़ता था।

(२) श्रावस्तीसे दक्षिण एक गव्यूति या प्रायः २ मील पर था।

^१ स० नि०, ५।१।१०, अ० क०, ११४८

^२ ch. XX

(३) जेतवनसे उत्तर-पश्चिम ४ 'ली' (= १ मील से कम) था। दूरी और दिशाएँ इन पुरानी लिखंतोंमें शब्दशः नहीं ली जा सकती। इसलिये पुरैनाका ध्वंस अंधवन मालूम होता है। यह भींटीसे श्रावस्तीके आनेके रास्तेमें भी है। भींटी को सर जान मार्शल^१ ने काश्यप-स्तूप निश्चित किया है।

पांडुपुर—श्रावस्तीके पास पांडुपुर नामक गाँव था। धम्मपद-अट्टकथामें “श्रावस्तीके अविदूर पांडुपुर नामक एक गाँव था। वहाँ एक केवट वास करता था”।

इस गाँवके बारेमें इसके अतिरिक्त और कुछ मालूम नहीं है।

मैंने इन थोड़ेसे पृष्ठोंमें श्रावस्ती और उसके पासके बुद्धकालीन स्थानों-पर विचार किया है। सुत्त, विनय और उसकी अट्टकथाओंकी सामग्री शायद ही कोई छूटी हो। यहाँ मुझे सिर्फ भौगोलिक दृष्टिसे ही विचार करना था, यद्यपि कहीं कहीं और बातें भी आ गई हैं ^२।



^१ A.S.R., 1910-11, p. 4

^२ जेतवनके नकशोंके लिये देखो Arch. Survey of India की १९०७-०८ और १९१०-११ की रिपोर्टें।

(६)

ज्ञातृ=जथरिया

पण्डित ज० श० एम० ए० ने मेरे बसाढ़ की खुदाई नामक लेखमें आये कुछ वाक्योंके खण्डनमें, एक लेख लिखा। उसको पढ़नेसे मालूम होता है कि, मेरे लेखसे उन्हें दुःख हुआ है। संभवतः कुछ और भी भूमिहार-बन्धुओंको दुःख हुआ हो। अपने उक्त कथनको सत्यके समीपतम समझते हुए भी वस्तुतः मुझे दुःख है कि, उससे इन भाइयोंको मानसिक कष्ट पहुँचा। उन चन्द पङ्क्तियोंमें मैं अपने भावोंको संक्षेपसे भी नहीं प्रकट कर सका था (और, इस छोटे लेखमें भी शायद न कर सकूँगा); तोभी कुछ गलतफहमियोंको हटा देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

शर्माजीके लेखको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) उन्होंने युक्तिसे मेरी बातोंका खण्डन करना चाहा है; (२) मुझे भूमिहार ब्राह्मणोंका विरोधी समझा है।

जथरिया वंशके लिच्छवि (ज्ञातृ) न होनेके बारेमें आपने कहा है—

(१) “जथरियावंश या बेतिया-राजवंशसे लिच्छवि क्षत्रियोंकी ज्ञातृ अथवा किसी भी शाखासे कोई भी सम्पर्क नहीं। वे इतने कालसे बिहारके निवासी भी नहीं कि, उनका कोई भी सम्बन्ध लिच्छवि जातिसे ठहराया जा सके। वे विशुद्ध ब्राह्मण हैं तथा महाकवि वाणभट्टके वंशज सोनभदरियों और अथर्वोंको छोड़कर अन्यान्य भूमिहार ब्राह्मणोंकी तरह पश्चिमके जिलोंसे मुसलमानी शासनकालमें या उसके कुछ पूर्व बिहारमें आकर बस गये हैं।”

(२) “जयस्थल”से ही जैथरकी उत्पत्ति सर्वथा भाषा-विज्ञानके अनुकूल है, ‘ज्ञातृ’से नहीं। ज्ञातृ शब्दका अपभ्रंश “जैथरिया” मान लेना अनुचित और अपने भाषाविज्ञान-सम्बन्धी ज्ञानकी अल्पज्ञता दिखाना है। “भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे ‘ज्ञातृ’ शब्दका “जैथरिया” बन जाना कदापि सम्भव नहीं।”

(३) “केवल ज्ञातृ शब्दके आधारपर जैथरिया लोगोंको ज्ञातृवंशीय लिच्छवि क्षत्रिय मान लेना तो लालबुझकड़की बूझको भी मात कर देना है।”

(४) “सम्भव है, लिच्छवि-वंश (जो बुद्धके समयमें ही व्रात्य हो चुका था) पतित होकर नीच जातियोंमें मिल चुका हो; अथवा, यदि, तिर्हुतके अहीर ही उनके वंशज हों, तो क्या आश्चर्य?”

मैं आरम्भमें यह कह देना चाहता हूँ कि, ज्ञातृ और जेथरियाके एक होनेकी खोजका श्रेय मुझे नहीं है; बल्कि हमारे देशके गौरवस्वरूप और भारतके प्राचीन इतिहासके अद्वितीय विद्वान् श्रद्धेय डा० काशीप्रसाद जाय-सवालने पहले पहल इसका पता लगाया था। मैंने प्रमाणकी कुछ कड़ियाँ भर और जोड़ दी हैं। ज्ञातृ और जथरिया क्यों एक हैं:—

(१) “भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञानकी अल्पज्ञता” क्या, अज्ञताको स्वीकार करते हुए भी ज्ञातृसे ज्ञातर, जथर या जेथर, फिर ‘इया’ लगा कर जथरिया स्वीकार करनेमें मैं गलतीपर नहीं हूँ; और, न “लाल बुझकड़की बूझको” मात कर रहा हूँ। ज्ञातृ (=ज्ञातर=जतर=जथर), इका (=इया)=जथरिया, जेथरिया।

(२) जैन धर्मके संस्थापक वर्द्धमान महावीरको नात-पुत्र और ज्ञातृ-पुत्र कहा जाता है; क्योंकि वह ज्ञातृकुलमें उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र काश्यप था, यह सभी जैन ग्रन्थोंमें मिलता है। जेथरियोंका भी गोत्र काश्यप है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता।

(३) बसाढ़ (=वैशाली) जिस परगने में है, वह रती कहा जाता

है। यह परगना आजकल भी जेथरियोंका केन्द्र है। रत्ती=लत्ती-नत्ती=नाती=नादि (पाली) है। बुद्धके समय वज्जीदेशमें नादिका नामक ज्ञातृवंशियोंका एक बड़ा गाँव था, जिसका संस्कृत रूप ज्ञातृका होता है।

(४) ज्ञातृ लोग जिन लिच्छवियोंके^१ ९ विभागोंके एक प्रमुख विभागमें थे, ई० पू० छठी-पाँचवीं शताब्दियोंमें उनकी शक्ति इतनी प्रबल थी कि, मगधराजको भी डरके मारे गंगातटपर पाटलिग्राममें एक किला बनाना पड़ा; और आगे चलकर पाटलिपुत्र (=पटना) नगरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मगध-साम्राज्यमें सम्मिलित होनेपर भी लिच्छवि प्रभावहीन नहीं हो गये, यह तो इसीसे प्रकट है कि, चौथी शताब्दीमें उनकी सहायता से गुप्तोंको अपना साम्राज्य कायम करनेमें सफलता मिली। ईसाकी चौथी-पाँचवीं शताब्दियोंमें लिच्छवियोंकी शक्तिको ही प्रकट करनेके लिये लिच्छवि-कुमारी कुमारदेवीका पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त अपनेको “लिच्छवि-दौहित्र” कहकर अभिमान करता है। ईसाकी पाँचवीं शताब्दीतक जो लिच्छवि जाति अपने अस्तित्वको ही कायम नहीं रख सकी थी, बल्कि पूरी पराक्रम-शालिनी थी, वह इसके बाद बिलकुल नष्ट हो गयी या “पतित होकर नीच जातियोंमें मिल” गई, यह विश्वास करनेके लिये कोई कारण नहीं। विशेष कर जब कि, उक्त लक्षणोंवाली एक जातिको हम उसी स्थानपर पाते हैं।

(५) ज्ञातृ (लिच्छवि) वंश जिस वैशालीके आसपास ई० पू० छठी शताब्दीसे ईसाकी पाँचवीं शताब्दीतक बसता था, वहीं अब भी जथरिया वंशका प्राधान्य है। छपरा जिलेके मसरख थानेके जेथरडीहमें ज्ञातृओंका

^१ लिच्छवियोंके नौ वर्गोंमें जेथरियोंके अतिरिक्त विघवइत भी मालूम होते हैं। यदि मुजफ्फरपुर-चम्पारन जिलोंके पर्वनों और प्रधान जातियोंको मिलाकर खोज की जाये, तो शायद और भी कुछ वर्गोंका पता लग जाये।

निवास हो सकता है। (छपरा जिलेका वह हिस्सा तो प्राचीन वज्जीदेशका भाग ही है। उस समय गंडककी धार घोघाडी और मही नदियोंसे होकर बहती थी।) मेरी तुच्छ रायमें जेथरियों (=ज्ञातृओं) की वजहसे उक्त स्थानका नाम जेथरडीह पड़ा होगा। जेथरडीहके कारण जातिका नाम जेथरिया नहीं पड़ा। एक कहावतको मैंने भी सुना है कि, जेथरिया “ब्राह्मण” लोग नीमसारसे किसी कुष्टि राजाको अच्छा करनेके लिये आये। पीछे भूमिका दान लेकर वहीं रह गये। नीमसारसे आनेका मतलब यह है कि, वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। फिर वह मगहके ब्राह्मणोंसे ही क्यों सम्बन्ध जोड़ सके, सरवरियोंसे क्यों नहीं, जो कि, अपनेको कान्यकुब्ज भी कहते हैं? मगधके बाभनों (=“भूमिहार ब्राह्मणों”) को मैं शुद्ध प्राचीन मगध-देशीय ब्राह्मणोंकी सन्तान मानता हूँ। इस वंशने वाण जैसे महाकविको ही नहीं पैदा किया, बल्कि भगवान् बुद्धके सबसे प्रधान तीन शिष्यों (सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और महाकाश्यप) को पैदा करनेका गौरव भी इसे ही है। सम्राट् अशोकके गुरु मौद्गलि-पुत्र तिष्य भी इसी कुलके रत्न थे। बौद्ध महापुरुषों और महान् दार्शनिकोंके पैदा करनेमें मगध-ब्राह्मण (=बाभन)-कुल सबसे आगे रहा; इसीके लिये बौद्धद्वेषी ब्राह्मणोंके प्रभुत्वमें उन्हें और उनके मगध देशको नीच कहना और लिखना शुरू किया गया।

जेथरियोंको ज्ञातृओंके साथ सम्बन्ध न जोड़ने देनेके लिये “पश्चिमके जिलोंसे मुसलमानी शासनकालमें या उसके कुछपूर्व बिहारमें आकर उनका बसना” कहना व्यर्थकी खीचातानी है। आप बगौछियों (हथुआ राजवंश) को नवागन्तुक कहना चाहते हैं, फिर हथुआकी ८०-८५ पीढ़ियाँ कैसे गुजरी? मेरी समझमें व्यर्थके ब्राह्मण बनानेके प्रयत्नमें (जिसका मूल निकट भविष्यमें ऐसा न रहेगा) एक कीर्तिशाली जातिके इतिहासको नष्ट करना है।

(६) गणराज्योंके क्षत्रियोंने कभी अपनेको ब्राह्मणोंके चरणोंका दास नहीं होने दिया। बौद्ध-जैन-ग्रन्थोंको देखनेसे पता लगता है कि,

इन क्षत्रियोंको शुद्ध आर्यरक्तकी रक्षाका बहुत खयाल था। जहाँ उस समयके ब्राह्मण अनुलोम, प्रतिलोम—दोनों प्रकारके विवाहोंको करके अपने रक्तमें आर्य-भिन्न-रक्त मिला रहे थे, वहाँ यह क्षत्रिय लोग आर्योंके गौरवर्ण, अभिनीलनेत्र और तुंग नासाकी रक्षाके लिये न अनुलोम ही विवाह जायज मानते थे, न प्रतिलोम ही। पीछे बौद्धधर्मके प्रभावके बढ़नेके साथ, जातिवादका खयाल जब ढीला होने लगा, तब इन्होंने ब्राह्मणोंकी कन्याओंको भी लेना शुरू किया। पहले जातिभेद इतना कड़ा न था। पीछे, जब गुप्तोंके कालके बाद कन्नौजके प्रभुत्वके समयमें जातियोंका अलग-अलग गुट बनना शुरू हुआ, तब कितने ही गणतन्त्रोंके क्षत्रिय ब्राह्मणोंमें चले गये, कितने ही क्षत्रियोंमें। मल्ल क्षत्रियोंके बगौछिया भूमिहार ब्राह्मण (हथुआ राजवंश), राजपूत (मझौली राजवंश) और सैथवार (पडरौना राजवंश)—इन तीन वर्गोंमें बँटनेकी बात मैं किसी दूसरे लेखमें कह चुका हूँ। (याद रहे, जहाँ लोग बगौछिया नामका कुत्ते-बिल्लीकी कहानीसे व्याख्यान कर देना चाहते हैं, वहाँ मल्लोंके एक कुलका गोत्र ही व्याघ्रपद था, जिससे यह नाम अधिक सार्थक हो सकता है।) इसी प्रकार टटिहा या तटिहा भूमिहारों और राजपूतोंको ही ले लीजिये। उनके नाम, मूल, गोत्र सब एक हैं; और बतलाते हैं कि, यह दोनों एक ही वंशकी सन्तानें हैं। ऐसे और भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

गणक्षत्रियोंके रक्तकी शुद्धताकी बात मैं कह चुका हूँ। जेथरियोंके आर्य-रक्तके बारेमें मैं श्रद्धेय जायसवालजीकी ही कही बातको कहता हूँ। एक बार वह बसाढ़ गये थे। वहाँ उन्होंने एक भूमिहार लड़केको भेंस चराते देखा, जिसका शरीर ही देदीप्यमान गौरवर्णका नहीं था, बल्कि आँखें भी नीली थीं। मैंने स्वयं चम्पारनमें एक नीली आँखों वालो गोरे नौजवानको जब जेथरिया कहा, तो उसे आश्चर्य होने लगा, कि मैं कैसे जान गया। आज भी आप इन भूमिहारोंमें आर्योंके शरीरलक्षण जितनी प्रचुरता से पायेंगे, उतने ब्राह्मणोंमें नहीं पायेंगे। कारण, ब्राह्मणोंने, चाहे

किसी लोभसे ही सही, बहुत पहलेसे ही अनुलोम विवाह करके अपने भीतर आर्य-भिन्न रुधिरको प्रविष्ट करना शुरू किया, जबकि, इस बातमें यह गण-क्षत्रिय दक्षिणी अफ्रिकाके गोरोंकी भाँति वर्ण (=रंग)के कट्टर भक्त थे। हजारों वर्षों तक आर्यरक्तकी शुद्धताके कायम रखनेका प्रयत्न अब भी इन्हें इतने अधिक आर्यरक्तका धनी बनाये हुए है।

(७) जेथरियोंकी क्षत्रिय-वीरताकी बात में पहले ही कह चुका हूँ।

मेरे लेखको पढ़कर श्री ज० श० को खयाल हुआ है कि, मैं भूमिहार ब्राह्मणोंका विरोधी हूँ। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने अपने लेख में ये वाक्य लिखे हैं—

(१) “ ‘गंगा’ में पारसाल भी उन्होंने हथुआ राजवंशके सम्बन्धमें ऐसीही ऊटपटाँग बातें लिख डाली थी।”

(२) ‘क्या सांक्रुत्यायनजीको भूमिहार ब्राह्मण-समाजसे ही विरक्ति है? क्या इसी कारण एक-एककर उन्होंने उसके सभी दृढ़ अङ्गोंपर आक्रमण करना अपना कर्तव्य बना रखा है? यह कार्य नितान्त हेय है।’

मैं हनुमानजी नहीं हूँ कि, अपने हृदयको चीरकर हृद्गत् भावोंको प्रकट कर सकूँ। यदि उक्त लेखक मेरे छपराके भूमिहार मित्रोंसे पूछें, तो शायद उन्हें मेरे भाव मालूम हो जायँ। बाबू गुणराजसिंह (वकील, छपरा), जिनका घर वर्षों तक मेरा घर रहा है, भूमिहार ब्राह्मण ही हैं। इस खयालको हटानेके लिये मैं छपरेके दर्जनों सम्भ्रान्त शिक्षित भूमिहार बन्धुओं को पेश कर सकता हूँ।

दो वर्ष पूर्व (१९३१ ई०) मुझे गया जिलेके गाँवोंमें घूमनेका मौका मिला था। वहाँ मुझे कितने ही भारद्वाज तथा दूसरे गोत्रोंके बाभनोंके गाँव मिले थे। सचमुच उस समय बार-बार मेरे सामने इन्हीं कुलोंमें उत्पन्न भगवान् बुद्धके महान् शिष्योंकी तस्वीरें आ जाती थीं; और, इस महान् जातिके सम्मुख मेरा मस्तक झुक जाता था।

मैं भूमिहार जातिको नीचे गिरानेके लिये “एक-एक कर उसके सभी

दृढ़ अङ्गोंपर आक्रमण करना अपना कर्तव्य" नहीं समझ रहा हूँ। इतिहासके एक तुच्छ विद्यार्थीके नाते जब कहीं इतिहासकी कोई अनमोल बात पाता हूँ, तब उसका संग्रह जरूर करना चाहता हूँ। लिच्छवियोंका शक्तिशाली गणतन्त्र, उनकी स्वतन्त्रप्रियता, न्यायप्रियता हमारे देशके लिये गौरवकी चीजें हैं। हमारी भविष्यकी सन्तान (जो कि प्रजातन्त्रकी अनन्य भक्त होगी) तो वैशालीको तीर्थ मानेगी। ऐसी दशामें यदि मैं किसी समुदायको उन्हीं प्रजातन्त्र-संस्थापकोंका रक्त-सम्बन्धी समझता हूँ, तो उसमें आक्रमण करनेकी गंध कहाँसे आती है। मेरी समझमें जेथरिया युवक एक ज्ञान-जड, कूपमण्डूक, भिखमंगी जाति^१ बननेकी अपेक्षा भारतके अद्वितीय पराक्रमी प्रजातन्त्रके संस्थापक होनेको अधिक गौरवकी बात समझेंगे।

लेखकने मेरे विचारोंको तो "पुरातत्त्वाङ्क" के "भारतमें मानव विकास" नामक लेखमें पढ़ लिया होगा। मैं तो ब्राह्मण जातिका बनना आर्योंपर अनार्योंके प्रभावके कारण मानता हूँ। भारतमें आनेसे पूर्व यह स्वर्गकी ठेकेदारी आर्योंने एक फिर्केको नहीं दे रखी थी। मैं जब ब्रह्मा बाबाको ही नहीं मानता हूँ, तो उनके मुखसे पैदा होनेके कारण किसीको बड़ा कैसे मानूँगा? अहीर जातिको छोड़कर भूमिहारोंकी जातिको ही मैं बिहारमें सबसे अधिक आर्य-रक्तवाली मानता हूँ। अहीर पीछेसे आये; इसलिये उनमें अधिक आर्य-रक्त रहना स्वाभाविक है,; लेकिन भूमिहारोंमें आर्य-रक्तका आधिक्य उनके अपने संयमका फल है।

मेरे लेखसे लेखकको बुरा न मानना चाहिये; क्योंकि वह एक नास्तिक द्वारा लिखा गया है; और, उसका प्रभाव भी वैसे ही चन्द इने-गिने नास्तिकों पर ही पड़ेगा। ईश्वर या खुदा, पोथियों और पट्टेदारोंपर जिसका विश्वास है, वह मेरी चंद पद्धतियोंसे क्यों डरने लगा? लेकिन भूत कालमें

^१ मैं अपने ब्राह्मण पाठकोंसे क्षमा माँगता हूँ; कहीं वे भी रुष्ट न हो जायें! —लेखक।

भूमिहार जाति (=गणक्षत्रिय) अपने बुद्धिस्वातन्त्र्यसे बड़ी बनी, पोथियों और व्यवस्थाओंकी गुलामीसे नहीं।

एक बात और भी है। मान लीजिये कि, यदि जेथरिया कहने लगें कि, हम लिच्छवि गणतन्त्रके संस्थापक वही ज्ञातृ हैं, तो क्या मगहके बाभन—जिनके पूर्वसे ही ब्राह्मण होनेमें कोई सन्देह नहीं—उनसे ब्याह-शादी करना छोड़ देंगे? फिर सामाजिक तौरसे तो कोई हानि नहीं?

वज्जी गणतन्त्र और उसके संचालक ज्ञातृवंशके पुण्य स्मरणमें कुछ लिखनेका मौका देनेके लिये मैं श्री० ज० श० का आभारी हूँ। यदि कोई अरुचिकर बात यहाँ फिर लिखी गई हो, तो यह समझ कर वे क्षमा करेंगे कि, यह किसी जातिके द्वेषवश नहीं, बल्कि नास्तिकताके कारण लिखी गई।

(७)

थारू

हिमालयकी तराईमें यह रहस्यपूर्ण थारू-जाति निवास करती है। पश्चिममें बहराइच जिलेके उत्तरसे पूर्वमें दरभंगा जिलेके उत्तरतक पहाड़के किनारे इसी जातिकी प्रधानता है। तराईकी भूमिमें मलेरियाका बड़ा भय है, और यह जाति वही बसती है। मुंह देखते ही मालूम हो जाता है कि यह अपने आस-पासके रहनेवालोंसे भिन्न—उत्तरी पहाड़ोंमें रहनेवाली (मंगोल)—जातिसे सम्बन्ध रखती है। रंग इनका गेहूँआं या पक्का होता है—काले बहुत कम होते हैं। कदमें आसपासके लोगोंसे विशेष अन्तर नहीं है।

यहाँ मुझे विशेषकर चम्पारन और मुजफ्फरपुर जिलोंके उत्तर तरफ बसनेवाले थारूओंके बारेमें ही कहना है। इनके भेद और पदवियाँ निम्न-प्रकार हैं:—

भेद	पदवी
बाँतर	(महतो)
चितवनिया	(,,)
गढ़वरिया	(,,)
रववसिया	(दिसवाह)
रउतार	(महतो)
न(ल)म्पोंछा	(महतो, राय)
सेंठा	(महतो)

भेद	पदवी
कोंचिला	(खाँव)
महाउत	(राउत)
मझिअउर	(माझी)
गोरत	(महतो)
कनफटा	(नाथ)
कुम्हार	(राना)
मर्दनिया	(मर्द)
खउहट	(महतो)

थारू लोग बढईका काम अपने आप कर लेते हैं। तेल भी खुद निकालते हैं। यद्यपि थरुहट (थारूओंके देश) में धोबी नहीं होता, तोभी अपने-से दक्षिणके लोगोंसे उनके कपड़े-लत्ते अधिक साफ रहते हैं। खेती ही थारूओंका एक मात्र व्यवसाय है, और इसमें उनकी-सी दूसरी कोई परिश्रमी जाति नहीं। एक हलपर थारू तीन जोड़ी बैल रखते हैं। सबेरे ही हल जोतते हैं और दस बजे दिनको छोड़ देते हैं। फिर दूसरी जोड़ीसे दो बजे तक काम लेते हैं, इसके बाद फिर तीसरी जोड़ी। थरुहटमें धान ही की खेती होती है, इसलिये भात ही इनका प्रधान खाद्य है। खानेके लिये मुशियाँ भी ये लोग पालते हैं। थारूओंमें 'भगत' मिलना बहुत कठिन है। मांस और शराबके ये बड़े प्रेमी हैं।

इनकी पोशाक अपने आस-पासके लोगोंकी ही भाँति होती है। हाँ, मिरजईकी जगह ये लोग नैपाली बगलबन्दी पहनते हैं। स्त्रियाँ साड़ी पहनती हैं और शिर नंगा रखना अधिक पसंद करती हैं।

विवाह अधिकतर ये लोग अपनी ही उप-जातियोंमें करते हैं। युवक और युवतीमें प्रेम हो जाने पर वे घरसे निकल जाते हैं, और बाहर किसी गाँवमें जाकर वर्षों तक रहते हैं। फिर लौटकर पति-गृहमें रहते हैं। कभी

बाँतर और चितवनियोंमें भी इस प्रकार प्रेम हो जाता है, फिर जातिमें मिलने के लिये बिरादरीको भात-भोज देना पड़ता है। इस प्रकारके विवाह अन्य उप-जातियोंमें भी होते हैं। प्रौढ़ विवाह ही इनमें अधिक होते हैं, लेकिन अब अपने पड़ोसी 'अधिक सभ्य' बाजियोंका प्रभाव इनपर भी पड़ रहा है, और धीरे-धीरे इनमें भी बाल-विवाहकी प्रथा बढ़ रही है। गढ़वरियोंमें बाल-विवाह अधिक होता है और चितवनियोंमें बहुत कम। गरीब होनेपर लड़कीको घर लाकर विवाह किया जाता है, नहीं तो बरात जाती है। बरातमें २०, ३० आदमी साधारणतः जाते हैं। रासधारी, झुमरा, पूर्वी, नाटक इनमेंसे कोई नाच भी होता है; जिनमें पहले दो गीत प्रायः थारू-भाषामें होते हैं। ब्राह्मण और नाई विवाह-विधि कराते हैं। पुरोहित नेपाली या बाजी ब्राह्मण होते हैं।

जन्मके वक्त गाना-वजाना कुछ नहीं करते। छठी बरही, और हिन्दुओंकी भाँति होती है। अन्नप्राशनका कोई नियम नहीं। नाक-कान वर्षके भीतर ही छेद दिया जाता है। मृत्युमें थारू लोग विशेष उत्सव करते हैं। छोटे बच्चेको भी मरने पर जलाते हैं। नाच-बाजा विवाहकी भाँति होता है। थारूओंकी यह विशेषता बर्मी लोगोंसे बहुत मिलती है। मरनेके बाद दस दिनमें दशगात्र और बारह दिनके बाद ब्राह्मण-भोजन और जातिभोजन होता है।

प्रायः प्रत्येक थारूके घरमें गृह-देवता है, जिसे 'गन' कहते हैं। उसके लिये दूध, पाट (रेशम), कबूतर, मुर्गे बलि चढ़ाये जाते हैं। 'बरम' स्थान हर गाँवका ग्राम-देवता है। इसके अतिरिक्त हलका ऊपरी भाग गाड़कर जखिन (यक्षिणी), कोल्हकी जाठ गाड़कर मसान भी पूजते हैं। मलंग, औलियाबाबा आदि कितने ही और भी देवता होते हैं। थरुहटमें मन्त्र-तन्त्र भूत-प्रेत बहुत चलता है। बाहरके भोले-भाले लोग समझते हैं, थरुहट जादूगरनियोंका स्थान है। थरुहटमें जादूगरनियोंको डाइन कहते हैं। हर गाँवमें दस-पाँच डाइनें होती हैं। लोगोंका विश्वास है कि डाइनें आदमीको

जादूसे मार डालती है, हैजा महामारीको बुलाती हैं। इसीलिये लोग डाइनोंसे बहुत डरते और घृणा करते हैं। इन्ही सबसे बचानेके लिये हर थारू-गाँवका एक गुरु होता है, जिसे गृहस्थ अपने घरके प्रत्येक आदमी पीछे चार पसेरी धान हर साल देता है। बनिहारको दो पसेरी और खोकइता (मजूर)को एक पसेरी देते है। गुरुका काम है, भूत-प्रेत, मन्त्र-तन्त्र, हैजा आदिसे आदमियोंकी रक्षा करना।

थारूओंका प्राचीन कालहीमे एक संगठन चला आता है। कई गाँवोंका एक हल्का होता है, इसे 'दह' कहते हैं। हर एक दहमें एक प्रधान होता है, जिसे मधस्त (मध्यस्थ) कहते हैं। उसके नीचे १६ या १७ पंच होते हैं। इन पंचोंके नीचे 'हजारिया पंच' होते हैं, जिनमे प्रायः प्रत्येक घरका मुखिया होता है। जानिमे सम्बन्ध रखनेवाले सभी मामले इमी पंचायतके सामने पेश होते हैं। फैसला हमेशा सर्वसम्मतसे हुआ करता है। मधस्त और पंचोंके मरनेपर, वह अधिकार उनके बड़े लड़कोको मिलता है। यह दह सभी थारूओंका एक नहीं है। गढ़वर्गिया, चितवनिया सभीकी अपनी-अपनी अलग पंचायतें हैं। भिखनाठोरी (जिला चम्पारन)के पास गढ़-वरियोंकी प्रधानता है। यहाँ इनके बरहगाँवाँ और लौरइयाँ दो दह हैं। बरहगाँवाँ अंग्रेजी इलाकेमें है और इसके मधस्त राजमन महतो है। लौर-इयाँ नेपाल राज्यमे है, जिके मधस्त लेखमन महतो है।

भिखनाठोरीसे उत्तर-नेपाली तराईमें चितावनका इलाका है। यहाँ चितवनियाँ थारू रहते हैं। यहाँके थारूओपर नेपालियोंका प्रभाव अधिक है। बरहगाँवाँ आदिके थारू भी चितावनकी भाषाहीको शुद्ध थारू-भाषा कहते हैं। पाठकोंको यह सुनकर बहुत ही आश्चर्य होगा कि चितावनके थारूओंकी भाषा, स्वर, शब्द आदिमें गया जिलेकी मगही (मागधी) भाषामे त्रिलकुल एक है। हलई, गेलही, लन्लही आदि सभी शब्द शुद्ध मगहीके हैं। गेलमुनमें सिर्फ थको ससे (गेलथुन) बदल दिया गया है। सम्बोधनमें रे, हे का प्रयोग अधिक होता है, और मागहीका गे भी कम

प्रयुक्त नहीं होता। छोड़ गे, चल गे साधारण प्रयोग हैं। चितवनिया अपनेको चित्तौरगढ़से आया बतलाते हैं, और भाषा उन्हें खींचकर मगधमें ले जा रही है; और चेहरा और आखें उत्तरकी ओर खींच रही हैं।

ठोरीसे दक्षिण-पूर्व ५ मीलपर पिपरिया गाँव है। यह भी थरुहटके अन्दर ही है। पिपरियाके पास ही रमपुरवाके दो अशोक-स्तम्भ हैं। एक ही स्थानपर दो-दो अशोक-स्तम्भ विशेष महत्त्व रखते हैं। पुरातत्त्वकी खुदाईमें एक स्तम्भके ऊपरका बौल भी मिला था। परम्परासे जनश्रुति चली आ रही है कि एक खम्भेके ऊपर पहले मोर था। खम्भेकी पेंदीमें तो मोर खुदे अब भी मौजूद है। खुदाईमें यद्यपि कोई मोर नहीं मिला, तोभी इसमें तो सन्देह नहीं कि दूसरे खम्भेके शिखरपर जरूर कुछ था। दीघनिकायके महापरिनिर्वाण-सूत्रसे हम जानते हैं, कि पिप्पली वनके मौर्योंने भी गौतमबुद्धकी अस्थियोंका एक भाग पाया था, जिसपर उन्होंने स्तूप बनवाया। इसी मौर्यवंशका राजकुमार चन्द्रगुप्त पीछे मगधके मौर्य-साम्राज्यका संस्थापक हुआ। ऐसी अवस्थामें सम्राट् अशोकने बुद्धभक्त अपने पूर्वज मौर्योंके आदि स्थानपर यदि ये दो स्तम्भ गड़वाये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। जिस प्रकार यह पाषाण-स्तम्भ मगध-साम्राज्यसे सम्बद्ध हैं, वैसे ही शुद्ध थारू-भाषाभी आधुनिक मागधी भाषासे अपना स्पष्ट सम्बन्ध बतलाती है, लेकिन मंगोल-जातीय थारुओंने कैसे मागधी भाषाको अपनाया, यह बड़े ही रहस्यकी बात है।

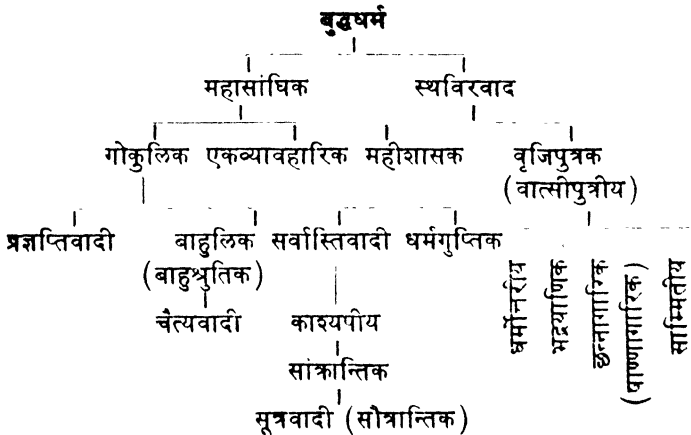
मानवशास्त्र-वेत्ताओंके अन्वेषणके लिये थारू-जाति एक बड़ा ही रहस्य-पूर्ण विषय है। देखें, उसे कब कोई शरच्चन्द्र मिलता है। जब तक कोई वैसा सागोपांग वैज्ञानिक रीतिसे अनुसंधान करनेवाला नहीं मिलता, तब तक साधारण शिक्षित लोगोंहीको उनकी उस सामग्रीकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना चाहिये, जो वर्तमान कालमें बड़ी शीघ्रतासे लुप्त होती जा रही है। उनकी भाषा दिन-पर-दिन पडोसी भाषाओंसे प्रभावित हो बिगड़ती जा रही है। लोग अपनी परम्परागत कथाओंको भूलते जा रहे हैं।

उनके सामाजिक रीति-रवाज बड़ी शीघ्रतासे परिवर्तित हो रहे हैं। उनका संगठन शिथिल और निर्बल होता जा रहा है। यदि दरभंगा, मुजफ्फरपुर, चम्पारन, गोरखपुर, बस्ती, गोंडा, और बहराइचके जिलोंके कुछ शिक्षित इस विषयको अपने हाथमें ले लें, और अपनी सीमावाले थारुओंकी भाषा, पुरानेगीत, जनश्रुति, रीति-रवाज, संगठन आदिका अन्वेषणकर प्रकाशित करें, तो इससे मानव इतिहासके एक महत्त्वपूर्ण अंशपर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। सामग्री संग्रह करनेमें बाह्य प्रभावसे बहुत कम प्रभावित तथा अशिक्षित वृद्ध थारू ही अधिक सहायक होंगे।

(८)

महायान बौद्धधर्मकी उत्पत्ति

बुद्ध ने ४५ वर्षोंतक ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुस्तकवाद, जातिवाद और कितने ही अन्यवादोंके विरोधी, जड़वादकी सीमाके पासतक पहुँचे, अपने बुद्धि-प्रधान एवं सदाचार-परायण धर्मका उपदेश कर ४८३ ई० पू०में निर्वाण प्राप्त किया। जैसे जैसे समय बीतता गया और जैसे-जैसे नाना प्रकृतिके लोग बुद्धधर्ममें सम्मिलित होते गये, वैसे ही वैसे उसमें परिवर्तन होता गया। इस प्रकार बुद्धके निर्वाणके १०० वर्ष बाद, वैशालीकी संगीतिके समय, बौद्ध धर्म, स्थविरवाद और महासांघिक नामक दो निकायों (=सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया। इसके सवा सौ वर्ष बाद और भी विभाग होकर उसके अठारह निकाय बन गये, जिनका वंशवृक्ष, पाली "कथावत्थु" की "अट्ट कथा" के अनुसार, इस प्रकार है—



बुद्धके जीवनमें ही उनके शिष्य गन्धार, गुजरात (सूनापरान्त), पैठन (हैदराबाद-राज्य) तक पहुँच चुके थे। धीरे-धीरे भिक्षुओंके उत्साह एवं अशोक, मिलिन्द, इन्द्राग्निमित्र आदि सम्राटोंकी भक्ति और सहायतासे इसका प्रसार और भी अधिक हो गया। अशोकका सबसे बड़ा काम यह था कि, उन्होंने भारतकी सीमाके बाहरके देशोंमें, धर्म-प्रचारकोंके भेजे जानेमें, बहुत सहायता की। अशोक (ई० पूर्व तृतीय शताब्दी) के बाद बौद्ध धर्म सभी जगह फैल चुका था। उस समयतक अठारह निकाय पैदा हो चुके थे; इसलिये राजाकी सहायता, चाहे एक ही निकायके लिये रही हो लेकिन दूसरे निकायोंने भी अच्छा प्रचार किया। शुंगों और काण्वोंके बाद; आन्ध्र या आन्ध्रभृत्य सम्राट् हुए। इनकी सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन)^१ महाराष्ट्रमें थी। पीछे धान्य कटक भी दूसरी राजधानी बना, जो

^१ पीछे पैठनके इन शातवाहनोंका शकोंसे भी विवाह-सम्बन्ध हुआ। इन्हें अपने देशके नामपर, रट्टिक (राष्ट्रिक) या महारट्टिक भी कहते थे। पीछे नाटकोंमें शक या शकारके लिये “रट्टिअ-साल” (राष्ट्रिक-इयल) शब्द प्रयुक्त होनेका भी यही कारण है। वैसे भारतमें अचिरागत शकोंका रंग अधिक गोरा होनेसे, रनिवासोंमें, शक-कन्याओंकी काफी माँग भी थी। इससे भी राजाका साला होना हो सकता है। रट्ट या महारट्ट नाम पड़नेसे पूर्व पैठनके आसपासका प्रदेश अन्धक कहा जाता था; और, इसी लिये शातवाहनोंको आन्ध्र भी कहा जाता था। पीछे, राजनीतिक कारणोंसे, उन्हें अपनी राजधानी धान्यकटकमें बनानी पड़ी, जोकि, तेलगू देशमें है; और, उसीसे इस प्रदेशका नाम आन्ध्र हो गया। अन्धक और वृष्णि, बोनों ही पड़ोसी जातियाँ थीं। वृष्णियोंके वासुदेवके आर्य होनेपर अन्धकोंका आर्य होना निर्भर है।

आगे चलकर, कोसलकी राजधानी थावस्तीकी भाँति, प्रधान बन गया और पैठन सिर्फ युवराजकी राजधानी रह गया। शातकर्णी या शानवाहन (शालिवाहन) आन्ध्र राजा, यद्यपि कुछ समयतक, उत्तरीय भारतके भी शासक थे, तोभी पीछे उन्हें दक्षिणपर ही सन्नोप करना पड़ा। बौद्धधर्मपर इनका विशेष अनुराग था, यह उनके पहाड़ काटकर बने गुहा-विहारोंमें खुदे शिलालेखोंसे मालूम पड़ता है। राजधानी धान्यकटक (अमरावती)में उनके बनाये भव्य स्तूप, नाना मूर्तियाँ, लताओं तथा चित्रोंसे अलंकृत संगमरमरकी पट्टिकाएँ, स्तम्भ, तोरण आज भी उनकी श्रद्धाके जीवित नमूने हैं। वस्तुतः बौद्धोंके लिये, शातवाहन राजवंश, ई० पूर्वं प्रथम शताब्दीसे ईस्वी तीसरी शताब्दीतक, पुराने मौर्यों या पिछले पालवंशकी तरह था। पहाड़ खोदकर गुहा बनानेका कार्य यद्यपि मौर्योंने आरम्भ किया था; और, वे उसमें कहाँतक तरक्की कर चुके थे, यह बराबरकी चमकते पालिशवाली गुहाओसे मालूम होता है; तोभी गुहाओंको बहुत अधिक और सुन्दर ढंगसे बनवानेका प्रयत्न आन्ध्रोंके ही राज्यमें हुआ। नासिक, कार्ला आदिकी भाँति अजन्ता और एलोराकी गुहाओंका भी धीगणेश इन्हींके समयमें हुआ था, और पीछेतक बढ़ता गया।

अन्धक-साम्राज्यमें महासाङ्घिकों और धर्मोत्तरीयोंके होनेका कार्ला^१ और नासिकके गुहालेखोंसे पता लगता है। पाली अभिधम्मपिटकके “कथावत्थु” ग्रन्थमें कितने ही निकायोंके सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है। उनका विश्लेषण उसकी अट्ठकथाके अनुसार निम्न प्रकार है—

^१ *Epigraphica Indica*, Vol. VII, pp. 54, 64, 71.

इस नकशेसे मालूम होगा कि, कुल २१४ (२१६) सिद्धान्त हैं, जिनपर “कथावत्यु” ने बहस की है। उनमें १३० अन्धक आदि अर्वाचीन निकायोंके हैं, ४० सिद्धान्त बहुतांके सम्मिलित हैं, १७^१ सिद्धान्तोंके विषयमें अट्टकथा चुप है; और २७ ही ऐसे हैं, जो पुराने १८ निकायोंसे सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, कथावत्यु मुख्यतः अर्वाचीन निकायोंके ही विरुद्ध लिखी गयी है। इन अर्वाचीन आठ निकायोंमें अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थिक अन्धकोंके ही भेद हैं। इनमें अन्धकोंके ८२ सिद्धान्तोंका खण्डन हुआ है। वैपुल्यवादियों और हेतुवादियोंके रहनेका स्थान यद्यपि नहीं लिखा है, तोभी आगे चलकर वैपुल्यवादियोंको हम आन्ध्रदेशका बतलायेंगे। उत्तरापथक पंजाब या हिमालयके मालूम होते हैं; किन्तु हेतुवादियोंके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता। महासांधिकोंसे ही पिछले अन्धक-निकायोंका जन्म हुआ मालूम होता है। ऐसा माननेके लिये दो कारण हैं; एक तो कितने ही विवादग्रस्त विषय इनके सम्मिलित हैं, दूसरे आन्ध्र-साम्राज्यमें महासांधिकोंका^२ बहुत अधिक प्रचार

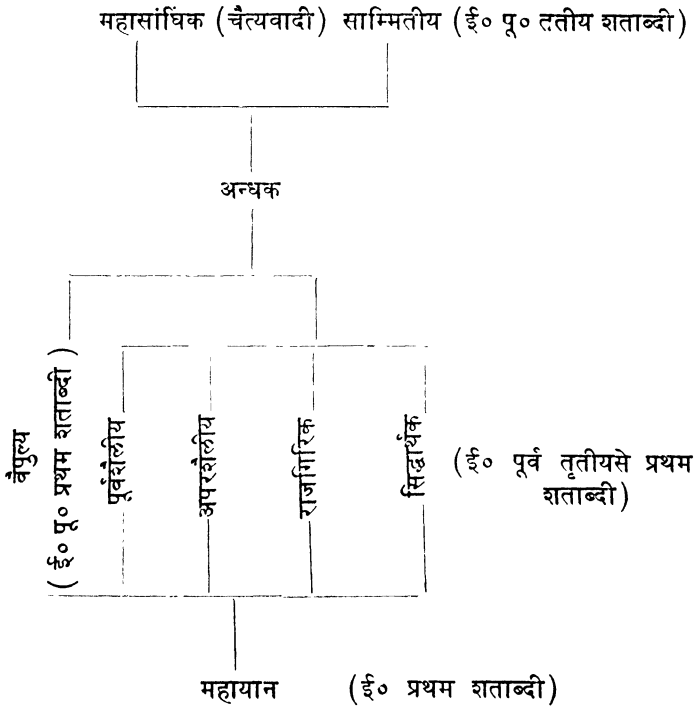
^१ मिलाकर देखनेसे अनिश्चित सत्रह सिद्धान्तोंवाले निकाय इस प्रकार मालूम होते हैं—

अन्धक ४ + १, पूर्वशैलीय १, उत्तरापथक ५, महासांधिक ५, साम्मितीय अन्धक १।

भूत भविष्य-कालोंके अस्तित्वका सिद्धान्त (कथा ० १।७) किसका है यद्यपि यह यहाँ नहीं दिया है, तो भी युन्-च्चेङ (हुएन्-साङ) द्वारा अनुवादित “विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि”की टीकामें यह सिद्धान्त सर्वास्तित्वादियों और साम्मितियोंका बतलाया गया है। (देखिये “विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि”, डाक्टर पूसिनका फ्रेंच अनुवाद, पृ० १५७)।

^२ महासांधिकोंके भीतर चैत्यवाद-निकाय भी था। धान्यकटकमें इसकी प्रधानता थी, यह अमरावतीमें मिले शिलालेखोंसे मालूम होती

और प्रभाव था। इस प्रकार इन्हीसे आगे चलकर अन्धकोंकी उत्पत्ति हुई।



है। धान्यकटकके स्तूपका नाम ही “महाचैत्य” था। मंजुश्रीमूलकल्प, १० पटलमें है—

“श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणा-पथ-संज्ञके।

श्रीधान्यकटकके चैत्ये जिनघातु-धरे भुवि।”

इसी चैत्यके नामसे वहाँ वाले चैत्यवादी कहे जाते थे।

पूर्वशैलीय—“कथावत्थु” की अट्टकथा (१।९) में इसे तृतीय संगीतिके बाद उत्पन्न होनेवाले अन्धक-निकायों में गिना गया है। महासाधिकोंका (धान्यकटक-महाचैत्यका) चैत्यवाद-निकाय पुराने अठारह निकायों में सम्मिलित किया गया है; किन्तु इन अन्धक-निकायोंको हम उनमें सम्मिलित नहीं पाते। इसलिये मालूम होता है, यह चैत्यवादियोंके भी पीछेका है। यद्यपि चैत्यवादियोंका नाम अठारह निकायोंमें होनेसे अट्टकथाचार्य उन्हें तृतीय संगीतिसे पूर्वका बतलाते हैं। तोभी धान्यकटकके चैत्यकी प्रसिद्धि, शुङ्गोंके बाद, आन्ध्रोंके प्रतापी कालमें हुई होगी। अतः यहाँके विहारके भिक्षुओंका पृथक् व्यक्तित्व खारबेल और शुङ्गोंके बाद ही स्थापित होना चाहिये। यदि यह ठीक हो, तो चैत्यवादको हम ई० पूर्व द्वितीय शताब्दीके अन्तिम भागमें मान सकते हैं; और, तब पूर्वशैलीय आदि चारो अन्धकनिकायोंकी उत्पत्ति ई० पू० प्रथम शताब्दीमें माननी होगी। भोटिया-ग्रन्थोंसे^१ मालूम होता है कि, पूर्वशैल और अपरशैल धान्यकटकके पूर्व और पश्चिमकी ओर दो पर्वत थे। इन्हींके ऊपरके विहार पूर्वशैलीय और अपर-शैलीय कहे जाते थे। धान्यकटक आन्ध्रदेशमें वर्तमान धरनीकोट (जि० गुंटूर) है। चौदहवीं शताब्दीके लिखे सिंहली-ग्रन्थ “निकायसंग्रह” से यह भी मालूम होता है कि, इन्होंने “राष्ट्रपालर्गजित”^२ ग्रन्थको बुद्धके नामसे प्रसिद्ध किया था। भोट (तिब्बत) में शर्-री (पूर्वशैल) कही जानेवाली पीतल मूर्तियोंका दाम कई गुना अधिक होता है।

अपरशैलीय—धान्यकटकके पश्चिमकी पहाड़ीपर बसनेवाला यह निकाय भी चैत्यवादियोंसे निकला मालूम होता है। शेष पूर्वशैलीयकी भाँति, इसके बारेमें, जानना चाहिये। भोटिया-ग्रन्थोंमें इसका भी जिक्र आता है।

^१ क्लोड-वैल्-नसु-बुम् (ल्हासा) ग, पृ० ८ ख।

^२ सम्भवतः चीनी त्रिपिटकका “राष्ट्रपालपरिपुच्छा”।

(Nanjio's 873 स्कन्-जुर ४९।९)।

इसके सिद्धान्तोंपर पहले कुछ कहा जा चुका है। “निकायसंग्रह”के अनुसार इन्होंने “आलवक-गर्जित” सूत्रको बनाकर बुद्धके नामसे प्रकाशित किया।

राजगिरिक—अन्धक थे; किन्तु आन्ध्रमें राजगिरि कहाँ है (जहाँपर कि, इनका केन्द्र था), नहीं कहा जा सकता। “कथावत्थु” में इनके ११ सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है, जिनमेंसे आठ इनके तथा “सिद्धार्थकों” के एक हैं। इससे ज्ञात होता है, इन दोनोंका आपसमें कुछ अधिक सम्बन्ध था। निकायसंग्रहमें इन्हें “अंगुलिमालपिटक”का^१ कर्ता कहा गया है।

सिद्धार्थक—राजगिरिककी भाँति इनके बारेमें भी नहीं कहा जा सकता कि, इनका केन्द्र आन्ध्र-देशमें किस स्थानपर था। इनके और राजगिरिकोंके सिद्धान्तोंकी समानता बतलाती है कि, इनमेंसे या तो एक दूसरेसे निकला था, या दोनोंका उद्गम एक ही था। “निकायसंग्रह”में इन्हें ‘गूढ-वेस्संतर’का कर्ता बतलाया गया है।

यह चारों ही अन्धक-निकाय, आन्ध्र-सम्राटोंके समयमें, बहुत ही उन्नत अवस्थामें थे। आन्ध्र राजा और उनकी रानियोंका बौद्धधर्मपर कितना अनुराग था, यह हमें अमरावती और नागार्जुनी-कोंडामें मिले शिलालेखोंसे मालूम होता है। इनके बारेमें यद्यपि हमें चीन, भोटिया, पाली तथा संस्कृत-स्रोतोंसे कुछ सामग्री मिलती है; किन्तु वह बहुत ही अल्प है। लेकिन आन्ध्र लोग शिलालेखोंके बहुत अधिक प्रेमी थे; और, आशा है, धान्यकटक तथा नागार्जुनी-कोंडा एवं गुंटूर-जिलेके अन्य पुराने ध्वंसावशेषोंकी खुदाई पूरी होनेपर हम इन सभी गुत्थियोंको सुलझा सकेंगे एवम् उनसे महायान और वज्रयानके आरम्भिक दिनों तथा उनके विकासके इतिहासपर बहुत प्रकाश पड़ेगा।

^१ सम्भवतः “अङ्गुलिमाल-सूत्र” (Nanjio's 434 स्कन्-जुर ६२।१३)

वैपुल्य (वैतुल्ल)वादी—“कथावत्यु”की अट्टकथामें वैपुल्यवादियोंको महाशून्यतावादी कहा गया है। हमें मालूम ही है कि, ना गा र्जु न शून्यवादके आचार्य कहे जाते हैं। इस प्रकार वैपुल्यवाद और महायान एक सिद्ध होते हैं। “कथावत्यु”में दो बातें विषेश महत्त्वकी हैं। एक तो वैपुल्योंके खण्डित सिद्धान्तोंमें “शून्यता” नहीं सम्मिलित है। [इनके मत संघ, बुद्ध और मैथुनके विषयमें भेद रखते थे। इनका कहना था—(१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता तथा उपभोग करता है, न संघको देनेमें महाफल है,^१ (२) बुद्धको दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोकमें आकर ठहरे और न बुद्धने धर्मोपदेश किया; ^२ (३) खास मतलबसे (एकाभिप्रायेण) मैथुनका सेवन किया जा सकता है।^३ यह कहनेकी जरूरत नहीं कि, ये तीनों ही बातें एक प्रकारसे बौद्धधर्ममें भयङ्कर विप्लव मचानेवाली थीं। विशेषकर ऐतिहासिक बुद्धके अस्तित्व से इन्कार तथा खास स्थितिमें मैथुनकी अनुज्ञा। पहलेमें हम महायानके आखिरी विकासतकका स्पष्ट पूर्व-रूप पाते हैं, और, दूसरेमें वज्रयान या तान्त्रिक बौद्धधर्मका स्फुट बीज।] दूसरी बात है, “वैतुल्लवाद”के सभी मत “कथा-वत्यु”के अन्तिम भाग १७वें, १८वें और २३वें वर्गोंमें है। यह पहले ही कह चुके हैं कि, “कथावत्यु”का आरम्भ चाहे अशोककी तीसरी संगीतिसे ही हुआ हो; किन्तु उसमें पीछेके वाद भी जुटते गये। इस प्रकार यह मान लेनेमें कोई कठिनाई नहीं मालूम होती कि, कथावत्युका “वैतुल्लवाद” वाला भाग सबसे पीछेका है। कितना पीछेका है? इसके लिये इतना कहा जा सकता है कि, वह बुद्धघोषसे ही पहलेका नहीं, बल्कि नागार्जुनसे भी पहलेका है; क्योंकि उसमें वैतुल्लवादियोंके शून्यवादका खण्डन नहीं है। हम इसे यदि ईसाकी पहली शताब्दी मान लें, तो वास्तविक समयसे बहुत थोड़ा ही आगे-पीछे रहेंगे। इस बातमें

^१ कथावत्यु १६।६-९

^२ वही १७।१०; १८।१

^३ वही २३।१

हम और कुछ निश्चित तौरसे तभी कह सकेंगे, जब हम शक-शालिवाहन-संवत् एवं नागार्जुनके समयको, अन्तिम तौरपर, निश्चित कर सकेंगे। सिंहलके इतिहाससे पता लगता है कि, सर्वप्रथम राजा बलगमबाहु (ई० पू० प्रथम शताब्दी)के समयमें वेतुल्लवाद सिंहलमें पहुँचा; किन्तु हो सकता है कि, पिछले समयमें, जब चारों अन्धक-सम्प्रदाय एवम् उन्हींकी एक शाखा "वेतुल्लवाद" एक हो गये, तब सबको ही "वेतुल्ल" कहा जाने लगा हो।

महायान सूत्रोंको हम चीनमें^१ प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, अवतंसक और निर्वाण तथा तिब्बती कन्-जूरमें प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, सूत्र (प्रकीर्ण) और निर्वाणके क्रमसे विभक्त पाते हैं। अवतंसक-सूत्रोंको वैपुल्यसे पृथक् गिना गया है; किन्तु वैपुल्य और अवतंसक एक ही प्रकारके सूत्र हैं।^२ "मंजुश्री मूलकल्प" में हर एक पटलके अन्तमें आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकादवतंसकात् महायानवैपुल्य-सूत्रात्।" भोटियामें भी वैपुल्य-सूत्रोंके नामके साथ आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकात् अवतंसकात् महावैपुल्य. . . . सूत्रम्।" स्वयं नन्ज्योके सूचीपत्रके ही ८७, ८९, ९४, ९६, १०१ ग्रन्थोंमें अवतंसक और वैपुल्य साथ-साथ विशेषण-विशेष्य-रूपसे प्रयुक्त हुये हैं। प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य आदि सूत्र महायानके हैं;^३ इसमें तो किसीको सन्देह हो ही नहीं सकता; और इसीसे वैपुल्यवाद (पाली वेतुल्लवाद) वही है, जिसे हम आजकल महायान कहते हैं। या यों कहिये कि, वेतुल्ल या "वैपुल्य" वह नाम है, जिससे आरम्भिक कालमें महायान प्रसिद्ध हुआ। आरम्भमें, महायान कहलानेमें, उन्हें सफलता न हुई थी। "वेतुल्ल" और "वैपुल्य" एक ही हैं; यही हम कथावत्थुकी अट्टकथाके

^१ देखिये *A Catalogue of the Buddhist Tripitaka by Bunjiu Nanjio.*

^२ *Trivendrum Sanskrit Series LXX. LXXXIV*

^३ स्कन्-जूर ४१-४६

उस वाक्यसे भी समझ सकते हैं, जिसमें वेतुल्लवादीको महाशून्यतावादी कहा है। निकाय-संग्रहमें वेतुल्लवादियों को “वेतुल्ल-पिटक” (वैपुल्य-पिटक)का कर्ता कहा है। वहीं यह भी लिखा है कि, अन्धकोंने^१ “रत्नकूट” कथा दूसरे शास्त्रोंकी रचना की। “रत्नकूट” और “वैपुल्य”, दोनों ही प्रकारके सूत्र महायानी हैं, यह हम देख चुके हैं; इसलिये महायान अन्धकों (पूर्वशैलीय आदि चार सम्प्रदाय) और वैपुल्यवादके सम्मिलित रूपका नाम है।

यह तो मालूम हो चुका कि, महायान पूर्वशैलीय आदि चार अन्धक-सम्प्रदायोंके तथा वैपुल्यवादके सम्मिश्रणसे बना है; और, जितना अंश अन्धकनिकायोंसे सम्बन्ध रखता है, वह आन्ध्र-देशकी—खासकर गुंटूर जिलेके वर्तमान धरनीकोटकी—उपज है। लेकिन वैपुल्यवादका मुख्य स्थान कहाँ था, अब हम इसपर विचार करेंगे।

यहाँपर ध्यान रखना चाहिये कि, महायान-सूत्र बराबर परिवर्तित और परिवर्द्धित किये जाते रहे हैं; इसलिये उनके मूल स्थानसे मतलब हमारा इतना ही है कि, उनके निर्माणकी नीव वहाँ डाली गयी; और, परिवर्द्धन-परिवर्तन करनेमें तो सारा भारत शामिल था। वैपुल्यवादके बारेमें हमें निम्न बातें मालूम हैं—

(१) ईसा पूर्व ^२ पहली शताब्दीमें यह सिंहल पहुँचा था।

(२) इसके ^३ कुछ सूत्रोंका चीनीमें अनुवाद, ईसाकी दूसरी शताब्दीमें ही, हो चुका था।

^१ “अन्धकयो रत्नकूटादिवू शास्त्रान्तर रचना कळह” निकायसंग्रह्य (सीलोन-सरकार द्वारा १९२२में मुद्रित)।

^२ महावंस।

^३ नन्ज्योका सूचीपत्र, संख्या २५, “सुखावतीव्यूह” लोकरक्षा (१४७-१८६ ई०) द्वारा अनुब्रित।

- (३) इसके प्रचारकोंमें सबसे ऊँचा स्थान आचार्य नागार्जुनका है।
 (४) नागार्जुनका वास-स्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक था।^१
 (५) (आन्ध्र-राजा) शातवाहन नागार्जुनका घनिष्ट मित्र था।^२
 (६) कुछ ^३ क्रान्तिकारी सिद्धान्त इनके और अन्धकोंके आपसमें मिलते थे।

इससे अनुमान होता है कि, वैपुल्यवादका केन्द्र^४ भी श्रीधान्यकटकके पास ही था। इस बात की पुष्टि मंजुश्रीमूलकल्पका यह श्लोक भी करता है—

गच्छेद् विदिशं तन्त्रज्ञः सिद्धिकामफलोद्भवाम्।

पश्चिमोत्तरयोर्मध्यं स देशः परिकीर्तितः॥

(पृ० १७५, पटल १८)

^१ क्लोड—वॅल-मसुड-बुम् (लहासा) च, पृष्ठ ९क—“नागार्जुनका निवासस्थान दक्षिण भारतमें, श्रीपर्वतके समीप श्रीधान्यकटकमें था।”

^२ हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास—(निर्णयसागर, तृतीय संस्करण, पृ० २५०)—“समतिक्रामति च कियत्यपि काले कदाचित् तामेकावलीं तस्मान्नागराजात् नागार्जुनो नाम नागैरेवानीतः पातालतलं, भिक्षुरभिक्षत् लेभे च। निर्गत्य रसातलात् त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।” नागार्जुनने शातवाहन राजाके नाम “सुहृल्लेख” नामक पत्र लिखा था, जो चीनी और भोटिया-भाषाओंमें अब भी सुरक्षित है।

^३ जैसे खास अभिप्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा (कथावत्थु २३।१), यह अन्धकों और इनकी एक-सी है। अन्धक बुद्धके व्यवहारको लोकोत्तर मानते थे (क० ब० २।८); और, यह बुद्धकी ऐतिहासिकतासे ही इन्कार करते हैं—“बुद्ध मनुष्य लोकमें (आकर) नहीं ठहरे” (१८।१)। “बुद्धने धर्मका उपदेश नहीं किया” (१८।२)।

^४ नहरल्लवडु (नागार्जुनी-कोंडा, जिला गुंटूर)।

इसमें “पश्चिम-उत्तरके बीचमें” विदिशाको बतलाया गया है; और, विदिशा वर्तमान भिलसा (ग्वालियर-राज्य) का ही प्राचीन नाम है। यह स्पष्ट ही है कि, लेखक दक्षिण भारतमें बैठकर ही ऐसा लिख सकता है। “मंजुश्रीमूलकल्प” महावैपुल्य-सूत्रोंमेंसे है, यह पहले कहा जा चुका है। हमारी समझमें यह स्थान श्रीपर्वत या धान्यकटक ही हो सकता है।

(६)

वज्रयान और चौरासी सिद्ध

१. वज्रयानकी उत्पत्ति

मन्त्र कोई नयी चीज नहीं है। मन्त्रसे मतलब उन शब्दोंसे है, जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदिकी अद्भुत शक्ति मानते हैं। यह हम वेदोंमें भी पाते हैं। ओं वौषट्, श्रौषट् आदि शब्द ऐसे ही हैं, जिनका प्रयोग यज्ञोंमें आवश्यक माना जाता है। मन्त्रोंका इतिहास ढूँढिये, तो आप, इन्हें मनुष्यके सभ्यतापर पैर रखनेके साथ-साथ, तरक्की करते पायेंगे। प्राचीन बाबुल (बेबिलोन), असुर, मिश्र आदि देशोंमें भी मन्त्रका अच्छा जोर था। फलतः मन्त्रयान बौद्धोंका कोई नया आविष्कार नहीं है। केवल प्रश्न यह है कि, बौद्धोंमें इसका आरम्भ कैसे हुआ और उसमें प्रेरक-शक्ति क्या थी? पालीके ब्रह्म-जालसुत्तसे मालूम होता है कि, बुद्धके समयमें ऐसे शान्ति-सौभाग्य लानेवाले पूजा-प्रकार या कल्प प्रचलित थे। गन्धारी-विद्या या आवर्तनी-विद्यापर भी लोग विश्वास रखते थे। बुद्धने इन सबको मिथ्या-जीव (= झूठा व्यवसाय) कहकर मना किया; तो भी इससे उनके शिष्य इन विद्याओंमें पड़नेसे रुक न सके। बुद्धके निर्वाणको जितना ही अधिक समय बीतता जाता था, उतना ही, लोगोंकी नजरसे, उनके मानुष गुण भी ओझल होते जाते थे। बादलकी तहमें दिखायी पड़ते सूर्य अथवा कुहरेमें टिमटिमाते चिरागकी भाँति उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व अधिक धुँधला रूप धारण करता जाता था। जहाँ इस प्रकार मानुष बुद्ध लुप्त होते जा रहे थे, वहाँ अलौकिक गुणोंवाले बुद्धकी सृष्टिका उपक्रम बढ़ता जाता था। इसी प्रयत्नमें

बुद्धके जीवनकी अलौकिक कहानियाँ गढ़ी जाने लगीं। ऐसी कहानियाँ आकर्षक होती ही हैं। जब लोगोंने बुद्धकी अलौकिक जीवन-कथाओंको अधिक प्रभावशाली देखा, तब इधर जुट पड़े; किन्तु कुछ दिनोंमें ही वह आकर्षण फीका पड़ने लगा। बुद्धकी वे अलौकिक शक्तियाँ तो अतीतके गर्भमें विलीन हो गयी थीं। उनकी कथासे लोगोंको वर्तमानमें क्या लाभ? तब बुद्धकी अलौकिक शक्तियोंका वर्तमानमें भी, उपयोग होनेके लिये, बुद्धके वचनोंके पारायणमात्रसे, पुण्य माना जाने लगा। उनके उच्चारण मात्रसे रोग, भय आदिका नाश समझा जाने लगा! उस समय भूत-प्रेत आजसे बहुत अधिक थे! इतने अधिक थे कि, अभी उस परिणामपर पहुँचनेके लिये थियासोफी और स्परिचुअलिज्मको शताब्दियों मेहनत करनी पड़ेगी! कुछ लोगोंको इन भूतोंकी बहुत फिक्र रहती थी। इसलिये उन्हें वशमें करनेके लिये भी कुछ सूत्रोंकी रचना होने लगी। स्थविर-वादियोंने (जो कि, मानुष बुद्धके बहुत पक्षपाती थे) ही “आटानाटीय-सुत्त”^१ से इसका आरम्भ किया। फिर क्या था, रास्ता खुल निकला। तब स्थविरोंने देखा, वे इस घुड़दौड़में तबतक बाजी नहीं मार सकते, जब तक वे ऐतिहासिक बुद्धसे पिण्ड न छुड़ालें; किन्तु वह इनके लिये बहुत कड़वी गोली थी! उधर दूसरे सम्प्रदाय इसमें विशेष तरक्की करने लगे। जब देखा, दुनिया भी उन्हीकी ओर खिचती जा रही है, तब उन्होंने उसमें और भी उत्साह दिखाना शुरू किया। इसका, फल, हम देखते हैं कि, बुद्धके निर्वाणसे चार ही पाँच सौ वर्षों बाद वैपुल्यवादियोंने बुद्धके लोकमें आनेसे भी इनकार कर दिया। आखिर लौकिक पुरुष उन अभि-

^१ “दीर्घ-निकाय” ३२ सुत्त, जिसमें यक्षों और देवताओंका बुद्धसे संवाद वर्णित है। इसमें यक्षों और देवताओंके प्रतिनिधियोंने प्रतिज्ञाएँ की हैं, जिनके दोहरानेसे आजभी उनके वंशज देवताओंको, अपने पूर्वजोंकी प्रतिज्ञा, याद आ जाती है; और, वे सतानेसे बाज रहते हैं!

लषित अद्भुत शक्तियोंका कैसे धनी हो सकता है ?

उक्त क्रमसे पहले अठारह प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदायोंने सूत्रोंमें ही अद्भुत शक्तियाँ माननी शुरू कीं; और, कुछ खास सूत्र भी इसके लिये बनाये। फिर वैपुल्यवादियोंने, लम्बे-लम्बे सूत्रोंके पाठमें विलम्ब देखकर, कुछ पद्धक्तियों की छोटी-छोटी धारणियाँ बनायी। लेकिन मनुष्य बैलगाड़ीसे रेलतक पहुँचकर क्या हवाई जहाजसे इन्कार कर सकता है? अन्तमें दूसरे लोग पैदा हुए, जिन्होंने लम्बी धारणियोंको रटनेमें तकलीफ उठाती जनतापर, अपार कृपा करते हुए, “ओं मुने मुने महामुने स्वाहा,” “ओं आ हुं”, “ओं तारे तूतारे तुरे स्वाहा” आदि मन्त्रोंकी सृष्टि की। अब अक्षरोंका मूल्य बढ़ चला। फिर लोगोंको, एक-एक मन्त्राक्षर की खोजमें भटकते देख, उन्होंने “मंजुश्रीनामसंगीति”के कहे अनुसार सभी स्वर और व्यञ्जन वर्णोंको मन्त्र करार दे दिया। अब “ओ” और “स्वाहा” लगाकर चाहे जो भी मन्त्र बनाया जा सकता था; बशर्ते कि, उसके कुछ अनुयायी हों! कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, इन सारी मेहनतोंका पारितोषिक, यदि उन्हें रुपये-आने-पाई या उसी तरहकी किसी और दुनियावी सुख-सामग्रीके रूप में न मिलता, तो शायद दुनिया उनकी इन कृतियोंसे वञ्चित ही रहती। संक्षेपमें, भारतमें बौद्ध मन्त्र-शास्त्रके विकासका यही ढँग रहा है। इस मन्त्रयान-कालको, यदि हम निम्न क्रमसे मान लें, तो वास्तविकतासे बहुत दूर न रहेंगे—

सूत्र-रूपमें मन्त्र—ई० पू० ४००—१००,

धारणीमन्त्र—ई० पू० १००—४०० ईस्वी,

मन्त्र-मन्त्र—ई० ४००—९०० ई०।

इसी धारणी-मन्त्रके युगमें हम अलौकिक बुद्धके सहायक और अनुयायी कितने ही अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री आदि अलौकिक बोधिसत्त्वोंकी सृष्टि होते देखते हैं।

अब मन्त्रोंका माहात्म्य बढ़ने लगा। लोग इनपर धन और श्रम खर्च

करने लगे। आविष्कारकोंने भी इधर मन्त्रोंकी फलदायकताकी वृद्धिपर सोचना शुरू किया। उन्होंने देखा, योगकी कुछ क्रियाएँ योगीके प्रति अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, जिससे लोग जल्दी उनकी बात (*Suggestion*) पर आरूढ़ हो जाते हैं। (आजकल भी हिप्नाटिज्म और मेसमेरिज्ममें उत्कट श्रद्धा बहुत ही आवश्यक चीज मानी गयी है) ! दूसरे उनकी मानसिक शक्ति, एकाग्रताके कारण, अधिक तीव्र हो, श्रद्धालुओंको छोटे-मोटे चमत्कार दिखानेमें या उनके कष्ट-सहनकी शक्तिको बढ़ानेमें, समर्थ होती है। योगकी कुछ प्रक्रियाओंका, बुद्धके समयके पूर्वसे ही, लोग अभ्यास करते आरहे थे। बुद्धके बाद तो और भी करने लगे। इसलिये, बुद्ध-निर्वाणके चार-पाँच सौ वर्षों बाद, इस तरहकी उपयोगी मानसिक शक्तियोंका उन्हें काफी अनुभव हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि, इस तरहके चमत्कारके लिये भक्तोंमें अन्धश्रद्धा और प्रयोक्तामें तीव्र मानसिक शक्ति-की अत्यन्त आवश्यकता है। अब वे, एक ओर, योगसे अपनी मानसिक शक्तिको विकसित करने लगे; दूसरी ओर, भक्तोंमें श्रद्धाकी मात्रा खूब बढ़ानेके लिये नाना हठ, त्राटक क्रियाओं तथा मन्त्र-तन्त्रकी वृद्धिके साथ-साथ सहस्रों नये देवी-देवताओंकी सृष्टि करने लगे।

उक्त मन्त्रों और योग-विधियोंके प्रवर्तकों और अनुवर्तकोंमें दो प्रकार-के मनुष्य थे, एक तो वे, जो वस्तुतः अत्यन्त श्रद्धासे मुग्ध हो, इन क्रियाओंको “स्वान्तः सुखाय” या “परहिताय” करते थे। उनमें उनका अपना स्वार्थ उतना न था। वे उन क्रियाओं द्वारा उस समयके मानसिक वातावरणमें तत्काल लोगोंको लाभ होते देखते थे; इसलिये, अपार श्रद्धासे, उस काममें प्रवृत्त थे। दूसरे, वे चालाक लोग थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि, इन मन्त्र-तन्त्र-क्रियाओंकी सफलताका अधिक दारोमदार उनकी अपनी अद्भुत शक्तियोंपर उतना नहीं है, जितना कि, श्रद्धालुकी उत्कट श्रद्धापर। इसीलिये श्रद्धालुकी श्रद्धाको पराकाष्ठातक पहुँचाने के लिये या उसे पूर्ण-रूपेण “हिप्नोटाइज्ड” करने के लिये वे नित्य नये आविष्कार

करते थे। वस्तुतः फर्स्ट क्लासके आविष्कारक इसी दूसरी श्रेणीके लोग थे। इसी युगमें चढ़ावेसे अपार धनराशि मठोंमें जमा हो गयी थी। जब इन्होंने देखा कि, आखिर बुद्धकी शिक्षासे भी हम बहुत दूर हो चुके हैं—लोग श्रद्धासे अन्धे हैं ही और सभी भोग हमारे लिये सुलभ हैं, तब उन्होंने विषय-भोगोंके संग्रहकी ठानी; और, इस प्रकार मद्य और स्त्री-सम्भोगका श्रीगणेश हुआ। यहाँ यह न समझना चाहिये कि, भैरवी-चक्रके ये ही आविष्कारक थे; क्योंकि इनसे सहस्रों वर्ष पूर्व मिश्र, असुर, यवन आदि देशोंमें भी ऐसे चक्रोंका हम प्रचार देखते हैं। इनका काम इतना ही था कि, इन्होंने बुद्धके नामपर और नये साधनोंके साथ इन बातों को पेश किया।

इस प्रकार मन्त्र, हठयोग और मैथुन—ये तीनों तत्त्व क्रमशः बौद्ध-धर्ममें प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्मको मन्त्रयान कहते हैं। इसको हम निम्न भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) मन्त्रयान (नरम) ई० ४००—७००,

(२) वज्रयान (गरम) ई० ८००—१२००।

वैसे तो वैपुल्यवादमें तथा उससे पूर्वके अन्धक निकायोंमें विशेष अभि-प्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा हो चुकी थी (कथावत्यु २३।१); तोभी वह भैरवी-चक्रके रूपमें तबतक न प्रकट हो सकी थी, जबतक कि, वज्रयान न बन सका। इस पुराने मन्त्रयानकी पुस्तकोंमें “मंजुश्रीमूलकल्प” एक है। “मंजुश्री-मूलकल्प” वैपुल्य सूत्रोंमेंसे भी है। इसका मतलब यह हुआ कि, मन्त्रयान वैपुल्यवाद या महायानसे ही विकसित हुआ है (वस्तुतः अलौकिक बुद्ध और अद्भुत-शक्तिसम्पन्न धारणियोंसे वैसा होना सम्भव ही था)। “मंजुश्री-मूलकल्प”में यद्यपि हम नाना मन्त्र-तन्त्रोंका विधान देखते हैं, तथापि उसमें भैरवी-चक्रका अभाव है; और, वहाँ सदाचारके नियमोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। इस युगको यद्यपि हम गुप्त-साम्राज्यकी स्थापनासे आरम्भकर हर्षवर्द्धनके शासनके साथ समाप्त करते हैं, तथापि इसके अङ्कु-

रित और विकसित होनेका स्थान उत्तर भारत न था। “मंजुश्रीमूलकल्प”के वैपुल्यवादी होनेकी बात हम कह चुके हैं। हम अपने एक लेख में^१ यह भी बतला चुके हैं कि, “मंजुश्रीमूलकल्प” उत्तर भारतमें न लिखा जाकर दक्षिण भारत में, विशेषतः धान्यकटक या श्रीपर्वतमें लिखा गया है; उसमें इन दोनों स्थानोंको, मन्त्र-सिद्धिके लिये, बहुत ही उपयोगी बतलाया गया है।^२

इससे यह भी मालूम होता है कि, मन्त्रयानके जन्मस्थान श्रीधान्यकटक और श्रीपर्वत है। तिब्बती ग्रन्थोंमें तो स्पष्ट कहा गया है कि, बुद्धने बोधिके प्रथम वर्षमें, ऋषिपतनमें, श्रावक-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया; १३वें वर्ष राजगृहके गृध्रकूट पर्वतपर महायान-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया; और, १६वें वर्षमें मन्त्रयानका तृतीय धर्म-चक्र-प्रवर्तन श्रीधान्यकटकमें^३ किया। श्रीपर्वत^४ मन्त्रशास्त्रके लिये बहुत ही प्रसिद्ध था। मालतीमाधवमें भवभूतिने श्रीपर्वतका जिक्र कई बार किया है—

(१) “दाणि सोदामिनि समासादिअ अच्चरिअमन्तसिद्धिप्पहावा सिरिपव्वदे कावालिअ-व्वदं धारेदि।”

(अङ्क १) ।

(२) “यावच्छ्रीपर्वतमुपनीय प्रतिपर्वं तिलश एनां निकृत्य दुःखमारिणीं करोमि।” (अङ्क ८) ।

(३) “श्रीपर्वतादिहाहं सत्वरमपतं तयैव सह सद्यः।” (अङ्क १०) ।

^१ देखिये “महायानकी उत्पत्ति”।

^२ पृष्ठ ८८—“श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके।

श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि ॥

सिध्यन्ते तत्र मन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु ॥”

^३ “ब्रह्म-प-पद्म-द्वर्-पो” का “छोस्-व्युडः” पृष्ठ १४ क-१५क।

^४ नहरल्ल-ब्रह्म (नागार्जुनी-कोण्डा, जि० गुट्टर) ।

वाण भी श्रीपर्वतके माहात्म्यसे खूब परिचित था; और, द्रविड़-पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध जोड़नेसे उसका दक्षिणमें होना भी सिद्ध होता है—

“श्रीपर्वताश्चार्यवातसिहस्राभिज्ञेन. जरद्द्रविडधार्मिकेन”^१

और “सकल-प्रणयि-मनोरय-सिद्धिः श्रीपर्वतो हर्षः।” (हर्षचरित, १ उच्छ्वास) ।

इन उदाहरणोंसे अच्छी तरह मालूम होता है कि, छठी सातवी शताब्दियोंमें श्रीपर्वत मन्त्र-तन्त्रके लिये प्रसिद्ध था। वस्तुतः मुसलमानोंके आने के वक्त (बल्कि हाल तक) जैसे बंगाल जादूके लिये मशहूर था, वैसे ही उस समय श्रीपर्वत था। ऊपरके मालतीमाधवके उद्धरणमें एक विशेष बात यह है कि, सौदामिनी एक बौद्ध-भिक्षुणी थी, जो पद्मावती (मालवा) से श्रीपर्वतपर मन्त्र-तन्त्र सीखने गयी थी।

श्रीपर्वतके साथ यहाँ सिद्धोंके बारेमें कुछ कह देना जरूरी है। वस्तुतः श्रीपर्वत सिद्धोंका स्थान था; और, जहाँ कही भी पुराने संस्कृत-काव्योंमें सिद्ध या सिद्धाचार्य-शब्द मिलता है, वहाँ प्रायः कविका अभिप्राय, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे, श्रीपर्वतके साथ रहता है। सिद्धों और उनकी भविष्य-द्वाणियों(=सिद्धादेशों)की हम संस्कृतसाहित्यमें भरमार पाते हैं। मृच्छ-कटिक (ईस्वी पाँचवीं शताब्दी)में भी—“आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति” (अङ्क २) और “चन्दनं भोः स्मरिष्यामि सिद्धादेशस्तथा यदि” देखनेमें आता है। नागार्जुनको सिद्ध-नागार्जुन कहा जाता है। सम्भवतः नागार्जुनने श्रीपर्वतको अपना वास-स्थान बनाया था। वज्रयानके साथ नागार्जुनको नहीं जोड़ा जा सकता। यद्यपि तिब्बती ग्रन्थकार इसके लिये नागार्जुनको ६०० वर्षकी लम्बी आयु देनेके लिये तैयार हैं; तथापि मालूम होता है कि, उनकी शिक्षामें मन्त्रोंकी कुछ बात थी, जिसकी पुष्टि श्रीपर्वतके मन्त्र-तन्त्रका केन्द्र बननेसे होती है।

^१ कादम्बरी (निर्णयसागर, सप्तम् संस्करण, पृ० ३९९)

नागार्जुनी-कोंडाकी खुदाईमें मिले लेखोंसे अब तो यह मालूम हो गया है कि, श्रीपर्वत श्रीशैल न होकर नागार्जुनी-कोंडाका 'नहरल्ल-वडु' पहाड़ ही है।

सातवीं शताब्दीमें मन्त्रयानका प्रथम रूप समाप्त होता है; और, उसके बाद, वह वज्रयानके घोर रूपको धारण करता है। १४वीं शताब्दीके सिंहल-भाषाके ग्रन्थ "निकाय-संग्रह"में इसी वज्रयानको वज्रपर्वतवासी-निकाय कहा है। मालूम होता है, श्रीपर्वत ही, वज्रयानका केन्द्र होनेके कारण, वज्रपर्वत कहा जाने लगा। यद्यपि वज्रयानके ग्रन्थोंमें वज्रपर्वत स्थान नहीं आता है; तथापि निकाय-संग्रहने जिन ग्रन्थोंको इस निकायका बताया है, वे वज्रयानके ही हैं। "निकायसंग्रहमें"^१ वज्रपर्वतवासियोंको निम्न ग्रन्थोंका कर्ता बताया गया है—

गूढ़ विनय ।

मायाजालतंत्र (^२ *Nanjio's 1061*, भोट, कन्जुर ८४।१०) ।

समाजतंत्र (गुह्यसमाजतंत्र कन्जुर ८३।२)।^३

महासमयतत्व ।

तत्वसंग्रह (क० २५।८) ।

भूत-चामर (भूतडामरतन्त्र, क० ४३।८) ।

वज्रामृत (क० ८२।१२) ।

चक्र-संवर (क० ८०।१) ।

द्वादशचक्र (कालचक्र, क० ७९।३, ४) ।

भेरुकाद्बुद (हेरुकाद्भुत, क० ८१।२) ।

महामाया (क० ८२।३) ।

^१ निकायसंग्रह पृष्ठ ८, ९ (सीलोन सरकार द्वारा १९२२ में, मुद्रित)।

^२ *Bunjio Nanjio* का चीनी त्रिपिटक-सूचीपत्र ।

^३ नार्थडके छापेके कन्जुरका लेखक द्वारा लिखित सूचीपत्र ।

पदनिःक्षेप ।

चतुष्पिष्ट (चतुः पीठतंत्र, क० ८२।६, ८) ।

परामर्द (? महासहस्रप्रमर्दनी, क० ९१।१) ।

मारीच्युद्धव ।

सर्वबुद्ध (सर्वबुद्धसमायोग, क० ८९।६) ।

सर्वगुह्य (क्रोध राज सर्वमन्त्र-गुह्य-तन्त्र, क० ८२।११) ।

समुच्चय (वज्रयान-समुच्चय, क० ८३।५) ।

मायामारीचिकल्प (क० ९१।६?) ।

हेरम्बकल्प ।

त्रिसमय कल्प (त्रिसमयव्यूह-राजतन्त्र, क० ८८।४) ।

राजकल्प (? परमादिकल्पराज, क० ८६।५) ।

वज्रगान्धारकल्प । मारीचिकल्प ।

गुह्यकल्प (गुह्य-परमरहस्यकल्पराज क० ८९।१) ।

शुद्धसमुच्चयकल्प (? सर्वकल्पसमुच्चय, क० ७९।७) ।

ये सभी वज्रयानके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, इसलिये वज्रपर्वतनिकाय और वज्रयान एक ही है। तिब्बतीय ग्रन्थोंमें लिखा है कि, वज्रयानका धर्म-चक्र-प्रवर्तन बुद्धने श्रीधान्यकटकमें किया था। इससे वज्रयानकी उत्पत्ति भी, आन्ध्र-देशमें हुई सिद्ध होती है। श्रीपर्वत और धान्यकटक, दोनों ही वर्तमान गुंटूर जिलेमें हैं; इसलिये पीछे श्रीपर्वतके वज्रयानका केन्द्र बन जानेपर वही वज्रपर्वत कहा जाने लगा। मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री^१—ये चार ही चीजें वज्रयानके मुख्य रूप हैं।

^१ गायकवाड़-ओरियंटल-सीरीज, बड़ौदासे प्रकाशित “गुह्यसमाज-तंत्र” में लिखा है—

“प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मुषा वचः
अदत्तं च त्वया प्राह्यं सेवनं योषितामपि ॥

चौथी बात (स्त्री) में तो उन्होंने जाति, कुल ही नहीं, बल्कि माता, बहन के सम्बन्धतककी अवहेलना करनेकी शिक्षा दी है। यह बुद्धकी मूल शिक्षासे दूर तो थी ही, महायानके लिये भी इसे जल्दी हजम करना मुश्किल था। इसी

अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान् प्रचोदयेत् ।
 एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः ॥” (पृ १२०)
 “बुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति ।
 सर्वकामोपभोगांस्तु सेवयैश्चाशु सिध्यति ॥” (पृ १३६)
 “विष्मूत्रशुक्ररक्तानां जुगुप्सां नैव कारयेत् ।
 भक्षयेत् विधिना नित्यं इवं गुह्यं त्रिवज्रजम् ॥” (पृ १३६)
 “नीलोत्पलदलाकारं रजकस्य महात्मनः ।
 कन्यां तु साधयेत् नित्यं वज्रसत्त्व-प्रयोगतः ॥” (पृ० ९४)

वज्रयानके आदि आचार्योंमें सिद्ध अनङ्गवज्र भी हैं। यह ८४ सिद्धोंमें से एक हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ “प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि” (गा० ओ० सी० बड़ोदा) में लिखा है—

“प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्ति-काङ्क्षिभिः ॥२२॥
 ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता ॥२३॥
 ब्राह्मणादिक्रुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम् ॥२४॥
 जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम् ।
 कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येद्वि साधकः ॥२५॥” (पृ० २२-२५)
 इनके शिष्य सिद्ध राजा इन्द्रभूतिने अपने ग्रन्थ “ज्ञानसिद्धि” में लिखा

है—

“घातयेत् त्रिभवोत्पत्तिं परवित्तानि हारयेत् ।
 कामयेत् परदारान्वै मृषावादमुदीरयेत् ॥१४॥
 कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटिशतान्यपि ।
 पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते ॥१५॥”
 भक्ष्याभक्ष्यविनिर्मुक्तो पेयापेयविर्वाजतः ।
 गम्यागम्य-विनिर्मुक्तो भवेद् योगी समाहितः ॥१८॥



ॐ हनुमान्यै नमः ॥ १११० ॥

१-रूपिया



ॐ हनुमान्यै नमः ॥ ११११ ॥

२-लीलाया



ॐ हनुमान्यै नमः ॥ १११२ ॥

३-विरूपा



ॐ हनुमान्यै नमः ॥ १११३ ॥

४-डोम्बिया



शिवस्य शबरपत्न्याः शिवस्य

५-शबरपा



शिवस्य सरहपायः शिवस्य

६-सरहपा



शिवस्य कङ्कालीपायः शिवस्य

७-कङ्कालीपा



शिवस्य मीनपायः शिवस्य

८-मीनपा



ॐ ह्यपयस्त्रिपयठम्भु। त्रिपय

१३-तन्त्रिया



ॐ ह्यपयठयरेपयठम्भु। त्रिपय

१४-चमारिया



ॐ ह्यपयपयठयठम्भु। त्रिपय

१५-खड्गया



ॐ ह्यपयववाठुतरेवयठम्भु। त्रिपय

१६-नागार्जुन



ॐ हृषिकेशाय नमः ॥ १७ ॥

१७-कण्हपा



ॐ हृषिकेशाय नमः ॥ १८ ॥

१८-कर्णरिपा



ॐ हृषिकेशाय नमः ॥ १९ ॥

१९-थगनपा



ॐ हृषिकेशाय नमः ॥ २० ॥

२०-नारोपा



ॐ हृषीकेशाय नमः ॥ १३७ ॥

२१-बालिपा



ॐ हृषीकेशाय नमः ॥ १३८ ॥

२२-तिलोपा



ॐ हृषीकेशाय नमः ॥ १३९ ॥

२३-छत्रपा



ॐ हृषीकेशाय नमः ॥ १४० ॥

२४-भद्रपा



ॐ ह्यगर्भं ह्यदिपुत्रमहो ॥१३२॥

२५-दोखन्धिया



ॐ ह्यपस्य जगुर्गीर्वाक्यया ॥१३३॥

२६-अजोगिया



ॐ ह्यपस्य सगर्भीयसंयत्तिया ॥१३४॥

२७-कालया



ॐ ह्यपस्य तैर्धीयसंयत्तिया ॥१३५॥

२८-धोन्धिया



ॐ ह्रीं कण्ठ्याय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

२९-कंकणया



ॐ ह्रीं कण्ठ्याय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

३०-कमरिया



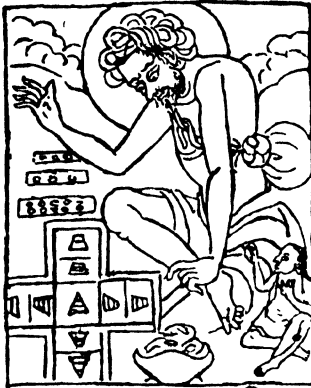
ॐ ह्रीं कण्ठ्याय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

३१-डोंगिया



ॐ ह्रीं कण्ठ्याय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

३२-भवेया



ॐ स्वयंभुवः पदवर्षा ॥ १५७ ॥

३३-तन्धेपा



ॐ स्वयंभुवः पदवर्षा ॥ १५८ ॥

३४-कुकुरिया



ॐ स्वयंभुवः पदवर्षा ॥ १५९ ॥

३५-कुसुलिया



ॐ स्वयंभुवः पदवर्षा ॥ १६० ॥

३६-धर्मपा



३७ सुवाससुदीपवणसुभा ॥१७०॥

३७-महीपा



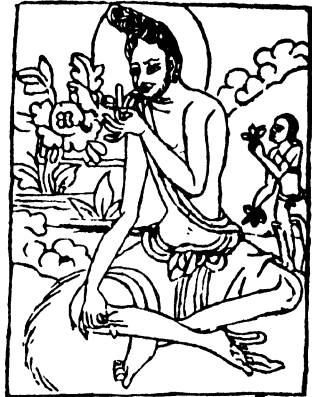
३८ सुवाससुदीपवणसुभा ॥१७१॥

३८-अचिन्तिपा



३९ सुवाससुदीपवणसुभा ॥१७२॥

३९-भलहपा



४० सुवाससुदीपवणसुभा ॥१७३॥

४०-नलिनपा



ॐ स्वामीदेवैर्यत्परम् ॥ १४४ ॥

४९-धोकरिपा



ॐ स्वामीदेवैर्यत्परम् ॥ १४५ ॥

५०-मेदिनीपा



ॐ स्वामीदेवैर्यत्परम् ॥ १४६ ॥

५१-पङ्कजपा



ॐ स्वामीदेवैर्यत्परम् ॥ १४७ ॥

५२-घण्टापा



ॐ शृणुषु अथैषी पार्वेयसुमा प्रपिण्ण

५३-जोगीया



ॐ शृणुषु ठगैयिपार्वेयली प्रपिण्ण

५४-बेलुकया



ॐ शृणुषु सुठुंरिपार्वेयली प्रपिण्ण

५५-गुण्डरिया



ॐ शृणुषु सुठुंरिपार्वेयली प्रपिण्ण

५६-लुचिकया



५३-निर्गुणया

५३-निर्गुणया



५८-जयानन्त

५८-जयानन्त



५९-चर्पटीया

५९-चर्पटीया



६०-चम्यकया

६०-चम्यकया



ॐ हृषीकेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय ॥

६१-भिलनया



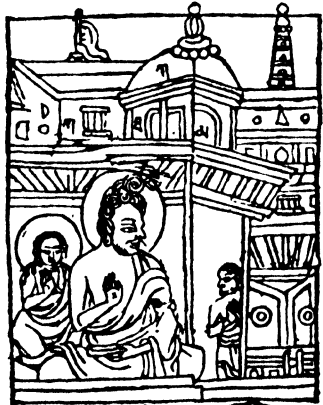
ॐ हृषीकेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय ॥

६२-भलिया



ॐ हृषीकेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय ॥

६३-कुमारिया



ॐ हृषीकेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय ॥

६४-जवरिया (?)



ॐ श्यामस्य त्रिसुदने यमुना । गिरिवाम् ।

६५-मणिभद्रा



ॐ श्यामस्य त्रिसुदने यमुना । गिरिवाम् ।

६६-मेखला



ॐ श्यामस्य त्रिसुदने यमुना । गिरिवाम् ।

६७-कनकलला



ॐ श्यामस्य त्रिसुदने यमुना । गिरिवाम् ।

६९-कन्तालिपा



इक्ष्वाकुसुरं धरं शकुन्तला ॥ १६० ॥

७०-घहुलिया



इक्ष्वाकुसुरं धरं शकुन्तला ॥ १६१ ॥

७१-उघलिया



इक्ष्वाकुसुरं धरं शकुन्तला ॥ १६२ ॥

७२-कपालया



इक्ष्वाकुसुरं धरं शकुन्तला ॥ १६३ ॥

७३-किलया



७४-सागरपा (?)

७४-सागरपा (?)



७५-सर्वभक्षपा

७५-सर्वभक्षपा



७६-नागबोधिया

७६-नागबोधिया



७७-वारिकपा (?)

७७-वारिकपा (?)



इक्ष्वाकुसुमिपुत्रः ॥१८॥

७८-पुतुलिया



इक्ष्वाकुसुमिपुत्रः ॥१९॥

७९-पनहपा



इक्ष्वाकुसुमिपुत्रः ॥२०॥

८०-कोकालिया



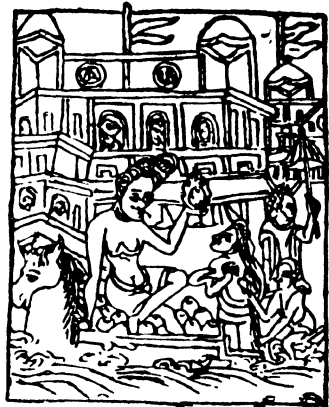
इक्ष्वाकुसुमिपुत्रः ॥२१॥

८१-अनङ्गपा



ॐ श्री लक्ष्मीकामायै नमः ।

८२-लक्ष्मीकरा



ॐ श्री रामायणाय नमः ।

८३-समुबपा



ॐ श्री लक्ष्मीकामायै नमः ।

८४-व्यलिया

लिये महायानसे साधारण मन्त्र-यानमें होकर वज्रयान तक पहुँचना पड़ा।

साधारण मन्त्रयानसे कब यह ज्वालामुखी फूट पड़ा, इसके बारेमें हमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो मिल नहीं सकता; किन्तु ऐसी बातें हैं, जिनके बलपर हम उसका आरम्भ सातवीं शताब्दीके आसपास मान सकते हैं—

(१) सिंहलके “निकाय-संग्रह”में लिखा है—राजा मत-बल-सेन (८४६-८६६ ई०)के समय वज्रपर्वतनिकायका एक भिक्षु सिंहलमें आया और वीरांकुर(विहार)में रहने लगा। उसके प्रभावमें आकर राजाने वाजिरिय (वज्रयान) मतको स्वीकार किया। इसीसे लंकामें रत्नकूट आदि (ग्रन्थों)का प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बादके राजाने यद्यपि वज्रयानके खिलाफ कुछ कड़ाई ^१ दिखायी, तथापि वाजिरिय सिद्धान्त गोप्य थे; इसलिये वह चुपचाप बने रहे। तिब्बतके रंगीन चित्रोंमें जिन्होंने अतिशा (दीपंकर श्रीज्ञान) आदि भारतीय भिक्षुओंकी शकल देखी होगी, उन्हें वहाँ उनके चीवरके भीतर एक नीले रंगकी जाकेट-सी दिखायी पड़ी होगी। “निकायसंग्रह”में इसकी उत्पत्ति विचित्र ढँगसे कही गई है—जिस समय कुमारदास (५१५-५२४ ई०) सिंहलमें राज्य कर रहे थे, उसी समय दक्षिण मधुरामें श्रीहर्ष नामक राजा शासन करता था। उस समय सम्मितीय निकायका एक दुःशील भिक्षु, नीला कपड़ा पहन, रातको वेश्याके पास गया। जब दिन उग आनेपर वह विहार लौटा और उसके शिष्योंने वस्त्रके बारेमें पूछा, तब उसने उसके बहुतसे माहात्म्य वर्णन किये। तबसे उसके अनुयायी

चाण्डालकुलसम्भूतां डोम्बिकां वा विशेषतः।

जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥८२॥ (१।....)

शुक्रं वैरोचनं ख्यातं परं वज्रोदकं तथा।

स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा ॥” (२।४२)

^१सद्धम्मपटिरूपानं विस्वालोके पवत्तानं

गण्हापेसि तथा रक्खं सागरन्ते समन्ततो ॥’ (निकाय; सं० ५० १७)

नीला वस्त्र पहनने लगे। उनके “नीलपट-दर्शन”में लिखा है—

“वेश्यारत्नं सुरारत्नं रत्नं देवो मनोभवः।

एतद्रत्नत्रयं बन्दे अन्यत् काचमणित्रयम्॥”

कहते हैं, इसपर श्रीहर्षने उन्हें बहानेसे एक घरमें इकट्ठा कर जलवा दिया।

इस कथामें सभी बातें तो सच नहीं मालूम होतीं; किन्तु छठी शताब्दीमें इस सम्प्रदायकी उत्पत्ति तथा साम्मितीय निकायसे इसका सम्बन्ध कुछ ठीकसा जँचता है। हम दूसरी जगह, अपने “महायानकी उत्पत्ति” नामक लेखमें, लिख चुके हैं कि, महायानकी उत्पत्तिमें साम्मितीयोंका काफी हाथ था। इस तरह हम छठी शताब्दीको वज्रयानकी उत्पत्तिकी ऊपरी सीमा मान सकते हैं। निचली सीमा हमें ८४ सिद्धोंके कालसे मिलती है।

२—चौरासी सिद्ध^१

^१ इस वंशवृक्षको मैंने अधिकांश तिब्बतके स-स्वय-विहारके पाँच प्रधान गुरुओं (१०९१-१२७९ ई०) की ग्रन्थावली “स-स्वय-ब्क-बुम्” के सहारे बनाया है, जो कि, चीनकी सीमाके पास “तेर्-गी” मठमें छपी है। मत्स्येन्द्र जालन्धर पादके शिष्य थे, यह प्रोफेसर पीताम्बरवत्त बड्ध्वालजीके लेखसे लिया है। कहीं-कहीं कुछ दूसरे भोटिया -(तिब्बतीय) ग्रन्थोंसे भी मवद ली गयी है। लेखकके पास जो नार-थङ्के तन्-जूरकी प्रति है, वह ब्लाकके पुराने होनेसे सुपाठ्य नहीं है; इसी लिये कुछ स्थान पढ़े नहीं जा सकते। पेरिसके महान् पुस्तकालयकी तन्-जूरकी कापी मैंने मिलायी थी; किन्तु उसका नोट पासमें न होनेसे यहाँ उसका उपयोग नहीं किया जा सका।

स-स्वय-ब्क-बुम् ‘प’ में (महन्तराज फग-स्-प १२३३-१२७९ ई० की कृति) के पृष्ठ “६५ क” में सरहपादसे नारोपा तककी परम्परा इस प्रकार वी हुई है—(महाब्राह्मण) सरह, (नागार्जुन), (शबरपा), लूयिपा, वारिकपा, (वज्रघण्टापा), (कूर्मपाद), जालन्धरपा, (कण्हचर्यपा) गुह्यपा, (विजयपा), तेलोपा, नारोपा।

कोष्टकके भीतरके नाम मैंने भोटियासे अनुवाद कर बिये हैं।

सरह आदिम सिद्ध हैं, और, आगे हम बतलायेंगे कि, वह पालवंशीय राजा धर्मपाल (ई० ७६८-८०९)के समकालीन थे; इसलिये उनका समय, आठवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध, मानना चाहिये। प्रथम कहे कारणोंसे हम वज्रयानकी उत्पत्तिको, छठी शताब्दीसे पूर्व और सरह आदिके कारण आठवीं शताब्दीसे बाद भी, नहीं मान सकते। सरह उन चौरासी सिद्धोंके आदि-पुरुष हैं, जिन्होंने लोक-भाषाकी अपनी अद्भुत कविताओं तथा विचित्र रहन-सहन और योग-क्रियाओंसे वज्रयानको एक सार्वजनीन धर्म बना दिया। इससे पूर्व वह, महायानकी भाँति, संस्कृतका आश्रय ले, गुप्त रीतिसे फैल रहा था। सरहसे पूर्वकी एक शताब्दीको हम साधारण मन्त्रयान और वज्रयानका सन्धि-काल मान सकते हैं। आठवीं शताब्दीसे जोरोंका प्रचार होने लगा। तबसे मुसलमानोंके आने तक यह बढ़ता ही गया। १२वीं शताब्दीके अन्तमें भारतके तुर्कोंके हाथमें जानेके समयसे पतन आरम्भ हुआ और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों तक यह विलुप्त तथा रूपान्तरित हो गया (बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारतमें कुछ देर और रहा)। रूपान्तरित इसलिये कि, ऊपरी वंश-वृक्षमें आपको चौरासी सिद्धोंमें गोरक्षनाथ, मीननाथ और चौरंगीनाथका नाम मिलेगा। यहाँ हमने इन्हें तिब्बती ग्रन्थके आधारपर दिया है। उधर नाथपंथके ग्रन्थोंमें भी चौरासी सिद्धोंके साथ सम्बन्ध होनेकी बात दिखायी पड़ती है। इसे समझनेमें और आसानी होगी, यदि आप चौरासी सिद्धोंकी निम्न सूचीपर ध्यान देंगे—

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
१ लूइपा	कायस्थ	(मगध)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)
२ लीलापा			सरह (६) से तीसरी पीढ़ी
३ विरूपा		मगध (देवपालका देश)	राजा देवपाल (८०९-४९९ ई०)
४ डोम्बिपा	क्षत्रिय	(मगध)	लूइपा (१) का शिष्य
५ शबरपा	"	विक्तमशिला	[सरह (६) का शिष्य, लूइपा-का गुरु]
६ सरहपा	ब्राह्मण	(नालन्दा)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)
७ कंकालीपा ^१	शूद्र	मगध ^२	
८ मीनपा	मछुआ	कामरूप....	{ जालन्धरपाद (४६) का शिष्य
९ गोरक्षपा			{ गोरक्षपाके गुरु मत्स्येन्द्रका पिता देवपाल ^३ (८०९-४९९ ई०)
१० चोरंगिपा	राजकुमार	मगध	गोरक्षपा (९) का गुरुभाई

^१ "चतुराशीति-सिद्ध-प्रवृत्ति" तन्जूर ८६।१ *Cordier*

^२ कोंकलिपा, कंकलिपा, कंकरिपा

^३ पूर्व में राज्ञी नगर।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
११ वीणापा	राजकुमार	गौड़ (विहार)	कण्ठपा (१९)के शिष्य, भद्रपाका शिष्य
१२ शान्तिपा ^१	ब्राह्मण	मगध	महीपाल ९७४-१०२६
१३ तन्तिपा	तैत्तवा	सोंधो नगर	जालन्धर (४६)का शिष्य
१४ चमारिपा	चर्मकार	विष्णुनगर (पूर्वदेश)	
१५ खड्गपा	शूद्र	मगध	चर्पटी (५४)का शिष्य
१६ नागार्जुन	ब्राह्मण	काञ्ची	सरह (६)का शिष्य
१७ कण्ठपा (चर्यपा)	कायस्थ	सोमपुरी	देवपाल (८०९-४९ ई०)
१८ कर्णरिपा (आर्यदेव)		(नालन्दा)	नागार्जुन (१६)का शिष्य
१९ धगनपा	शूद्र	पूर्व भारत	शान्तिपा (१२)का गुरु
२० नारोपा ^२	ब्राह्मण	मगध.....	{ (महीपाल ९७४-
२१ शलिपा ^३ (शीलपा)	शूद्र	विघसुर	१०२६ ई०)
२२ तिलोपा (तिल्लोपा)	ब्राह्मण	भिगुनगर	नारोपा (२०)का गुरु

^१ रत्नाकर शान्ति (विक्रमशिला) * देहात्त १०३९ ई०।

^३ सम्भवतः शृगालीपाव ("बीढ गान ओ बोहा") भी यही हैं।

नाम	जाति	वेश	समकालीन राजा या सिद्ध
२३ छत्रपा	शूद्र	संधोनगर	
२४ भद्रपा	ब्राह्मण	मणिघर ^१	सरहपा (६) से तीसरी पीढ़ी
२५ दोखंधि (द्विखंडि) पा	गृहपति	गंधपुर	
२६ अजोगिपा		सालिपुत्र	
२७ कालपा	घोबी	राजपुर.....	{ अवधूतिपा (११वीं शताब्दी) की तीसरी पीढ़ी
२८ घोम्भिपा	राजकुमार	सालिपुत्र	
२९ कंकणपा		विष्णुनगर	
३० कमरि (कंबल) पा	ब्राह्मण	उड़ीसा	घंटापा (५२) का शिष्य
३१ डेंगिपा		उड़ीसा (सालिपुत्र)	लूइपा (१) का शिष्य
३२ भदेपा	शूद्र	श्रावस्ती	कण्हपा (१७) का शिष्य
३३ तंघे (तंते) पा ^२	ब्राह्मण	कौशाम्बी	
३४ कुकुरिपा	शूद्र	कपिल (वस्तु)	मीनपा (८) का गुरु
३५ कुचि ^३ (कुसूलि) पा		करि	

^१ सम्भवतः बघेलखण्डका मंहर।

^२ सम्भवतः गुंजरीपा (११)।

^३ सम्भवतः टंटन (बौ० गा० दो०)।

नाम	जाति	वेश	समकालीन राजा या सिद्ध
३६ धर्मपा	ब्राह्मण	विक्रम (शिला) देश	कण्हपा (१७) और जालन्धरपाका शिष्य
३७ महीपा (महिलपा)	शूद्र	मगध	कण्हपा (१७) का शिष्य
३८ अचिंतिपा	लकड़हारा	धनिरूप (?)	
३९ भलह(भव)पा	क्षत्रिय	घञ्जुर (देश)	
४० नलिनपा	राजकुमार	सालिपुर	
४१ भुसुकुपा	राजा	नालन्दा	देवपाल (८०९-४९ ई०)
४२ इन्द्रभूति		लङ्कापुर	अनंगवज्र (८१) और कंबलपा (३०) का शिष्य
४३ मेकोपा	वणिक्	१ भंगलदेश	
४४ कुटालि (कुटालि)पा		रामेश्वर	शान्तिपा (१२) का शिष्य
४५ कर्मार (कम्परि)पा	लोहार	सालिपुर	अवधूतिका शिष्य
४६ जालन्धरपा २	ब्राह्मण	नगर भो.....	कण्हपा (१७) और मत्स्यें-द्रका गुरु

१ वर्तमान भागलपुर जिला।

२ जालंधारक।

नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
४७ राहुलपा	शूद्र	कारूरुप	सरह (६)से तीसरी पीढ़ी
४८ घर्वरि (घर्भरि)पा		बोधिनगर	विरूपा (३)से चौथी पीढ़ी
४९ घोकरिपा ^१	शूद्र	सालिपुत्र	
५० मेदनीपा ^२		लाखपुय (?)	लीलापा (२)से चौथी पीढ़ी
५१ पंकजपा	ब्राह्मण	वारेन्द्र ^३	नागार्जुन (१६)से शिष्य
५२ (वज्र) घंटापा	क्षत्रिय	(उडल्लपुरी)	देवपाल (८०९-४९ ई०)
५३ जोगीपा (अजोगिपा)	डोम		शबपा (५)का शिष्य
५४ चेलुकपा	शूद्र	भंगलपुर	अवधूति (मंत्री)पाका शिष्य
५५ गुंडरिपा (गोहर)पा	चिड़ीमार ^३	डिमुनगर	लीलापा (२)का शिष्य
५६ लुचिकपा	ब्राह्मण	भंगलदेश	
५७ निर्गुणपा	शूद्र	पूर्व देश	
५८ जयान्त	ब्राह्मण	भंगलपुर	
५९ चर्पटी (पचरी)पा	कहार ^४	चम्पा	मीनपा (८)का गुरु

^१ सम्भवतः हालीपा भी कहते हैं।
^२ चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति (तन्जूर ८६।१)में नालन्दा
लिखा है।
^३ व्य-प (भोटियामें)।
^४ खुर-ब छोड़-ब=बहंगी बेचनेवाला, भार बेचनेवाला।

नाम	जाति	बेश	समकालीन राजा या सिद्ध
६० चम्पकपा	शूद्र	राजकुमार (?)	
६१ भिखनपा		सालिपुत्र	
६२ भलिपा		सतपुरी	
६३ कुमरिपा		जोमनश्रीदेश (?)	
६४ चवरि (जवरि = अजपालि) पा			कण्हपा (१७) की तीसरी पीढ़ी
६५ मणिभद्रा (योगिनी)	गृहदामी	मगध	कुर्कुरिपाकी शिष्या
६६ मेखलापा (योगिनी)	गृहपतिकन्या	अगचेनगर	कण्हपा (१७) की शिष्या
६७ कनखलापा (योगिनी)		देवीकोट	कण्हपा (१७) की शिष्या
६८ कलकलपा	शूद्र	भिरलिरनगर (?)	
६९ कंताली (कंथाली) पा	दर्जी	मणिधर (मैहर)	कण्हपा (१७) का शिष्य
७० घट्टलि ^३ (घट्टरि) पा	शूद्र	धेकरदेश (?)	
७१ उघलि (उघरि) पा	वैश्य	देवीकोट	कर्णरिपा (१८) का शिष्य
७२ कपाल (कमल) पा	शूद्र	राजपुरी	
७३ किलपा		प्रहर (?) सहरं	

^३ सम्भवतः बबडीपा (चर्यागिति) ।

^१ मर्-न्ग-छोड-या ।

नाम	जाति	बेश	समकालिक राजा या सिद्ध
७४ सागरपा	राजा	कांची	
७५ सर्वभक्षपा	शूद्र	महर (महर)	शवरी (२, छोटे सरह) और भूसुक (४१) का शिष्य
७६ नागबोधिपा	ब्राह्मण	पश्चिम भारत	नागार्जुन (१६) का शिष्य
७७ दारिकपा	राजा	उड़ीसा (सालिपुत्र)	लूइपा (१) का शिष्य
७८ पुतुलिपा	शूद्र	भंगलदेश	
७९ पनह (उपानह) पा	चमार	सन्धो नगर	
८० कोकालिपा	राजकुमार	चम्पारन	
८१ अनंगपा	शूद्र	गोड	डोम्बिपा (४) तीसरी पीढ़ी
८२ लक्ष्मीकरा (योगिनी)	राजकुमारी	सम्भलनगर ^१	राजा इन्द्रभूतिकी बहन
८३ समुदपा		सर्वाडिदेश ^२	
८४ भलि (ब्यालि) पा	ब्राह्मण	अपत्रदेश (?)	

^१ सम्भलपुर (बिहार) ।

^२ सर्दार (गोरखपुर, बस्ती जिले) ।

चौरासी सिद्धोंकी गणनामें यद्यपि पहला नम्बर लूइपाका है; तथापि वह चौरासी सिद्धोंका आदिम पुरुष नहीं था, वह ऊपर दिये वंश-वृक्षसे मालूम होगा। यद्यपि इस वंश-वृक्षमें सिर्फ ५० से कुछ अधिक सिद्ध आये हैं; तथापि छूटे हुआओंमें सरहके वंशसे पृथक्का कोई नहीं मालूम होता; इसलिये सरह ही चौरासी सिद्धोंका प्रथम पुरुष है। चौरासी सिद्धोंमें सरह, शबर, लूइ, दारिक, वज्रघण्टा(या घण्टा) जालंधर, कण्हुपा और शान्तिका खास स्थान है। वज्रयानके इतने भारी प्रचार और प्रभावका श्रेय अधिकांशमें इन्हीको है। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्यने^१ सरहका समय ६३३ ई० निश्चित किया है। भोटिया-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, (१)^२ बुद्धज्ञान जो सरहके सहपाठी और शिष्य थे, दर्शनमें हरिभद्रके भी शिष्य थे। हरिभद्र शान्तरक्षितके शिष्य थे, जिनका देहान्त ८४० ई० के करीब तिब्बतमें हुआ था। (२) वहीसे यह भी मालूम होता है कि, बुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल^३ (७६९-९०९)के समकालीन^४ थे। (३) सरहके शिष्य शबरपा लूइपाके गुरु थे। लूइपा महाराज धर्मपालके^५ कायस्थ (=लेखक) थे।

शान्तरक्षितका जन्म ७४० के करीब, विक्रमशिलाके पास, सहोर^६-राजवंशमें हुआ। फलतः हम सरहपाको महाराज धर्मपाल (७६९-८०९) का समकालीन मान लें, तो सभी बातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी

^१ विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीका जर्नल, खण्ड १४, भाग ३, पृष्ठ ३४९।

^२ स-स्वय ङ्कं-ऽबुम् फ, पृष्ठ २१२ खं—२१७ क।

^३ अध्यापक विनेशचन्द्र भट्टाचार्यके मतानुसार ७४४-८०० ई०।

^४ स-स्वय ङ्कं-ऽबुम् फ, पृष्ठ २१२ ख।

^५ स-स्वय-ङ्कं-ऽबुम् फ- पृष्ठ २४३ क।

^६ वर्तमान सबौर पर्गना (भागलपुर)।

सिद्धोंका आरम्भ हम आठवीं शताब्दीके अन्त (८००ई०) मान सकते हैं। अन्तिम सिद्ध कालपाद (२७), मालूम होता है, चेलुकपा (५४) के शिष्य थे। एक छोटे कालपाद भी हुए हैं, यदि यह वह नहीं हैं, तो इन्हींको चौरासी सिद्धोंमें लिया जा सकता है। चेलुकपा अवधूतिपा या मैत्रीपाके शिष्य थे। यह वही मैत्रीपा हैं, जो दीपंकर श्रीज्ञानके विद्यागुरु थे और ग्यारहवीं शताब्दीके आरम्भमें वर्तमान थे। इस प्रकार अन्तिम सिद्धका समय ग्यारहवीं शताब्दीके अन्तसे पूर्व होगा। अतएव चौरासी सिद्धोंका युग— ८००-११७५ ई० मानना ठीक जान पड़ता है। इसी समय सिद्धोंकी चौरासी संख्या पूरी हो गयी थी।^१

^१ वज्रयानकी ऐतिहासिक खोज भोटिया-(तिब्बती)साहित्यकी सहायताके बिना बिल्कुल अपूर्ण रहेगी; किन्तु, भोटिया-साहित्यका उपयोग करनेमें कुछ बातोंका ध्यान रखना जरूरी है; नहीं तो, भारी गलती होनेका डर है। पहली बात तो यह है कि, इस प्रकारकी सामग्रीमें पद्मसंभवसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ बहुत ही भ्रमपूर्ण हैं। भोटके निग्-मा-पा सम्प्रदायने भोटमें एक अलौकिक बुद्ध खड़ा करनेके खयालसे, इस अद्भुतकर्मा पुरुषकी सृष्टि की! ज्यादासे-ज्यादा इसकी ऐतिहासिकताके, बारेमें इतना ही कह सकते हैं कि, शान्तरक्षितकी मण्डलीके भिक्षुओंमें पद्मसंभव नामका एक साधारण भिक्षु भी था। जैसे महायानने पाली-सूत्रोंके अल्प प्रसिद्ध सुभूतिको सारी प्रज्ञापारमिताओंका उपदेष्टा बनाकर सारिपुत्र और मौद्गल्यायनसे भी अधिक महत्त्वशाली बना डाला, वैसे ही निग्-मा-पाने पद्मसंभवके लिये किया। दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि, भोट में भारतीय बौद्धधर्मके इतिहासकी सामग्री दो प्रकारकी है। एक तो उस समयकी, जब कि, भारतमें बौद्धधर्म जीवित था और उस समय भारतीय विद्वान् तिब्बतमें धर्म-प्रचारार्थ तथा तिब्बतीय विद्यार्थी भारतमें अध्ययनार्थ आया-जाया करते थे। दूसरी वह, जब कि, भारतसे बौद्धधर्म नष्ट

उक्त समयमें ही चौरासी संख्या पूरी हो जानेका एक और प्रमाण मिलता है। बारहवीं शताब्दीके अन्तमें मित्रयोगी या जगन्मित्रानन्द

हो चुका था और तिब्बतीय ग्रन्थकार नेपाल या भारतमें आकर, अथवा भोटमें यहाँके आदमियोंको पाकर, सुन-सुनाकर लिखते गये। इन दो प्रकारकी सामग्रियोंमें प्रथम प्रकारकी सामग्री ही अधिक प्रामाणिक है। इस सामग्रीके संग्रह करनेके समयको तीन हिस्सोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) सम्राट् ठि-लोड-ल्दे-ब्चन्से सम्राट् रल्-पा-चन् तक (७१९-९०० ई०)।

(२) अतिशा और उनके अनुयायियोंका समय (१०४२-१११७ ई०)।

(३) स-स्वय-विहारकी प्रधानता और बु-स्तोन्का समय (११४१-१३६४) ई०।

बु-स्तोन्के बाद भारतसे बौद्धधर्म नष्ट हो जानेके कारण, फिर भोटको सजीव बौद्ध भारतसे सम्बन्ध जोड़नेका अवसर नहीं मिला। प्रथम कालमें ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम मिलती है, जो मिलती भी है, उसे निग्-मा-पा (प्राचीनपंथी) सम्प्रदायने इतना गड़बड़ कर दिया है कि, उसका उपयोग बहुत ही सावधानीसे करना पड़ेगा। दूसरे कालमें डोम्-तोन् आदि रचित दीपंकरकी जीवनी एवं कई और ऐतिहासिक ग्रन्थ बड़े कामके हैं। तृतीय कालकी सामग्री बहुत ही प्रामाणिक तथा प्रचुर प्रमाणमें मिलती है। इसके मुख्य ग्रन्थ हैं स-स्वयविहारके पाँच प्रधान महन्त-राजाओंकी कृतियाँ (स-स्वय-ब्क-बुम्) और बु-स्तोन् (१२९०-१३८४ ई०) तथा उनके शिष्योंकी ग्रन्थमाला (बु-स्तोन्-यब-स्रस्-गसु-बुम्)। डुक-पा-पषा-दकर्-पो (जन्म १५२६ ई०), लामा तारनाथ (जन्म १५७४ ई०) तथा वैसे ही दूसरे कितने ही लेखकोंकी कृतियाँ कुछ तो भोटकी पुरानी सामग्रीपर अबलम्बित हैं और कुछ सुनी-मुनाई बातोंपर। इसलिये इनका उपयोग करते वक्त बहुत सावधानीकी आवश्यकता है।

एक बड़े सिद्ध हो गये हैं। इनकी २० के करीब पुस्तकें भोटिया-भाषामें अनूदित हुई हैं, जिसमें “पदरत्नमाला” तथा “योगीस्वचित्त-ग्रंथकोपदेश” हिन्दी कविताएँ मालूम होती हैं। इन्हींके ग्रन्थोंमें “चन्द्रराज-लेख” भी है। इनके दुभाषियोंमें थे गुनुब्-निवासी छुल्-छिम्स् और खो-फु-निवासी ब्यग्स्-पर्ई-पल्। खो-फू-ब्यग्स्-पर्ई-पल्की प्रार्थनापर यह ११९७ ई०में नेपालसे तिब्बत गये^१ और वहाँ अठारह मास रहे। यह खो-फु-लोचवा (=दुभाषिया) वही है, जो विक्रमशिला-विहारके महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा नष्ट किये जानेपर वहाँके पीठ-स्थविर शाक्यश्रीभद्रको ११९९ में भोट ले गया। यहाँ हमारा मतलब मित्रयोगीसे है। तिब्बतमें तो यह प्रसिद्ध ही थे। इनके “चन्द्रराज-लेख” से मालूम होता है कि, वह किसी राजाके लिये लिखा गया है; और, यह भी अनुमान हो रहा था कि, वह बारहवीं शताब्दीके अन्तमें युक्तप्रान्त या विहारका कोई राजा रहा होगा। अब अनुमानकी जरूरत ही नहीं है। इसी समयके बोधगयाके एक शिलालेखमें^२ इनका और गहडवार राजा जयचन्द्र (११७१-९४ ई०)का जिक्र इन शब्दोंमें आया है—

“अस्ति त्रिलोकी सुकृतप्रसूतः संत्रातुमामन्त्रितसर्वभूतः ।

सम्बुद्धसिद्धान्वयधुर्यभूतः श्रीमित्रनामा परमावधूतः ॥४॥

हिंसाः हिंसामशेषाः क्रुधमधिकरु षस्त्रस्नवस्त्रासमाशु

व्याधूयोदस्तहस्तप्रणयपरतया विश्वविश्वासभूमेः ।

चेतः संप्रीयमाणं मधुरतरदृशा श्लेषपीयूषपाते-

स्तिर्यञ्चःसूचयन्ति च्युतमलपटलं यस्य मैत्रीषु चित्तम् । ॥५॥

उदितसकल भूमीमण्डलैश्वर्य-सिद्धिः

स्वयमपिकिमपीच्छन्नच्छधैर्यस्य शिष्यः ।

^१ जर्नल एसियाटिक सोसाइटी (बंगाल) १८८९, जित्व ५८, पृष्ठ १

^२ इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता; मार्च १९२९, पृष्ठ १४-३०) ।

अभवदभयभाजः श्रद्धया बन्धुरात्मा

नृपशतकृतसेवः श्रीजयच्चन्द्रदेवः ॥ (१०)

श्रीमन्महाबोधिपदस्य शास्त्रग्रामादिकं मग्नमशेषमेव ।

काशीशदीक्षागुरुसहृधार यः शासनं शासनकर्णधारः ॥ (१२)

सत्राणि तिसृणां चासामङ्गणेषु निरङ्गणः ।

सोऽयं श्रीमज्जगन्मित्रः शाश्वतीकृत्य कृत्स्नवित् ॥ (१४)

...वेदनयनेन्दु-निष्ठया संख्ययाङ्कपरिपाटिलक्षिते ।

विक्रमाङ्कनरनाथवत्सरे ज्येष्ठमासि युगपद् व्यदीधपत् ॥” (१५)

इसमें मित्र और जगन्मित्र, दोनों ही नाम आये हैं। काशीश्वर जय-
च्चन्द्रदेवका उन्हें दीक्षा-गुरु कहा है और साथ ही बुद्धधर्म (=शासन)
का कर्णधार भी। सिद्धोंके सारे गुण इनमें थे; तो भी इनका नाम चौरासी
सिद्धोंमें न आना बतलाता है कि, इनके पहले ही चौरासी संख्या पूरी हो
चुकी थी।^१

^१ (१) बौद्धधर्ममें अन्त तकका विचार-विकास। (२) बौद्ध-
धर्मके भारतसे लोपका कारण। (३) भारतमें, आम तौरसे, विहारमें
विशेष तौरसे तथा गया जिलेमें बहुत ही अधिकतासे जो बौद्ध-मूर्तियाँ मिलती
हैं, उनका परिचय तथा बौद्धमूर्ति-विद्या। (४) नाथपंथ, कबीर, नानक
आदि संतमतसंबंधी विचारके स्रोतका मूल। (५) कौलधर्म, वाममार्ग,
भैरवीचक्र आदिके विकासका इतिहास। (६) भारतमें हठयोग, स्वरोदय,
त्राटक (Hypnotism), भूतावेश (Spiritualism) का क्रम-विकास
(७) १२ वीं शताब्दीमें भारतीयोंकी राजनीतिक पराजयका कारण।
(८) पालवंशका इतिहास (विशेष तौर से) गहडवार आदि कितने ही
राजवंशोंका इतिहास (आंशिक तौरसे)। (९) हिन्दी-भाषाके आदि
कवि और उनकी कविता।

—यह और कितने ही और भी विषय हैं, जिनके लिये वज्रयानके
इतिहासका अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

(१०)

हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ

सिद्धयुग (८००—१२०० ई०)

सिद्ध लोगोंने उस समय लोकभाषामें कविता शुरू की, जिस समय शताब्दियोंसे भारतके सभी धर्मवाले किसी-न-किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने धर्मका प्रचार कर रहे थे, और इसी कारण उनके धर्मके जाननेवाले बहुत थोड़े हुआ करते थे। सिद्धोंके ऐसा करनेके कारण थे—वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सभी विषयोंमें एक क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वह सभी अच्छी-बुरी रूढ़ियोंको उखाड़ फेंकना चाहते थे; यद्यपि जहाँतक मिथ्या-विश्वासका सम्बन्ध था, उसमें वह कई गुनी वृद्धि करनेवाले थे। अपने बज्रयानकी जनतापर विजय पानेके लिये उन्होंने भाषाकी कविताका सहारा लिया। आदिसिद्ध सरह पाद से ही हम देखते हैं कि, सिद्ध बननेके लिये भाषाका कवि होना, मानों एक आवश्यक बात थी। सिद्धोंन भाषामें कविता करके यद्यपि अपने विचारोंको जनताके समझने लायक बना दिया; तथापि डर था कि, विरोधी उनके आचार-विरोधी कर्म-कलापका खुले-आम विरोध कर कही जनतामें घृणाका भाव न पैदा कर दें; इसीलिये वह एक तो विशेष-योग्यता-प्राप्त व्यक्तियोंको ही उन्हें सुननेका अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार, दोनोंमें लग जाये। इस भाषाको पुराने लोगोंने “सन्ध्याभाषा” कहा है; और, आजकल उसे “निर्गुण,” “रहस्यवाद,” या “छायावाद” कह सकते हैं। गुप्त रक्खे जानेके ही कारण हमें “प्राकृत-पैङ्गल” जैसे ग्रन्थोंमें इन काव्योंका कोई उद्धरण नहीं मिलता।

अन्यत्र हम लिख चुके हैं कि, चौरासी सिद्धोंका काल ८००-११७५ ई० है; किन्तु सिद्ध उसके बाद भी होते रहे हैं; इसलिये सिद्धकाल उससे बादतक भी रहा है; तोभी भाषाके खयालसे हम उसे महाराज जयचन्द्रके गुरु मित्रयोगी (१२००)के साथ समाप्त करते हैं। रामानन्द, कबीर (जन्म १३९९ ई०, मृ० १४४८); नानक (जन्म १४६८ ई०), दादू (जन्म १५४४ ई०) आदिसे राधा-स्वामी दयालतक सभी सन्त इन्हीं चौरासी सिद्धोंकी टकसालके सिक्के थे। रामानन्दकी कविताएँ दुर्लभ हैं। उन्होंने तथा उनके शिष्य कबीरने, चौदहवीं शताब्दीके अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दीके आरम्भमें, अपनी कविताएँ कीं। यदि बारहवीं शताब्दीके अन्तसे चौदहवीं शताब्दीके अन्तका कविता-प्रवाह जोड़ा जा सके, तो सिद्ध और सन्त-कविता-प्रवाहके एक होनेमें आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़नेवाली शृङ्खला नाथपन्थकी कविताएँ हैं। हम कबीर-सम्बन्धी कहावतोंमें गोरखनाथ और कबीरका विवाद अक्सर सुनते हैं। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०)के समकालीन सिद्ध गोरखनाथ पन्द्रहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें कबीरसे विवाद करने नहीं आ सकते। वस्तुतः वहाँ हमें गोरखनाथकी जगह उनके नाथपन्थको लेना चाहिये। मुसलमानोंके प्रहार और अपनी भीतरी निर्बलताओंके कारण बौद्धधर्म विलीन होने लगा। उससे शिक्षा ग्रहण कर आत्मरक्षार्थ नाथपन्थ धीरे-धीरे अनीश्वरवादीसे ईश्वरवादी हो गया। कबीरके समय वही एक ऐसा पन्थ था, जिसकी वाणियों और सत्संगोंका प्रचार सर्वसाधारणमें अधिक था। जिस प्रकार बड़ोदा, इन्दौर, कोल्हापुर तथा कुछ पहले झाँसी और तंजोरतक फैले छोटे-छोटे मराठा-राज्य एक भूतपूर्व विशाल मराठा-साम्राज्यका साक्ष्य देते हैं, उसी प्रकार आज भी काबुल, पंजाब, युक्त-प्रान्त, बिहार, बङ्गाल और महाराष्ट्रतक फैली नाथपन्थकी गद्दियाँ नाथ-पन्थके विशाल विस्तारको बतलाती हैं। यह विस्तार वस्तुतः उन्हें अपने चौरासी सिद्धोंसे, पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिला था। नाथपन्थके

परिवर्तनके साथ शेष बौद्ध, ब्राह्मण-धर्ममें लौटे।

“नाथपन्थ” चौरासी सिद्धोंसे ही निकला है। इसके लिये यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा—विशेषतः जब कि, बारहवींसे चौदहवीं शताब्दीतककी हिन्दी-कविताओंके लिये हमें अधिकतर नाथ-धरानेकी ओर ही नजर दौड़ानी होगी। “गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह”में^१ “चतुरशीतिसिद्ध” शब्दके साथ निम्न सिद्धोंका नाम मार्ग-प्रवर्तकके तौरपर लिखा गया है— नागार्जुन (१६), गोरक्ष (९), चर्पट (५९), कन्धाधारी (६९), जालन्धर (४६), आदिनाथ (=जालन्धरपा, सि० ४६), चर्या (कण्ठपा) (१७)^२। इससे चौरासी सिद्धों और नाथपन्थके सम्बन्धमें सन्देहकी कोई गुंजायश

१ “गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह”, सस्वतीभवन-टेक्स्ट-सीरीज, बनारस—

“नागार्जुनो जडभरती हृदिषच्चन्द्रस्तृतीयकः।

सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चर्पटस्तथा ॥

अवद्यश्चैव वैराग्यः कन्धाधारी जलन्धरः।

मार्गप्रवर्तका ह्येते तद्वच्च मलयार्जुनः ॥” (पृष्ठ १९)।

“एवं श्रीगुरादिनाथः। मत्स्येन्द्रनाथः। तत्पुत्र उदयनाथः। वण्डनाथः, सत्यनाथः, सन्तोषनाथः, कूर्मनाथः, भवनाजिः। तस्य श्रीगोरक्षनाथः.....॥” (पृष्ठ ४०)।

“चत्वारो युगनाथास्तु लोकानामभिगुप्तये।

मित्रीशोड्डीश षष्ठीशचर्याख्याः कुम्भाख्याः।.....” (पृष्ठ ४३)।

“चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनां विशां न्यसेत्।...।

नवनाथस्थितिं चैव सिद्धागमेन कारयेत्।

गोरक्षनाथो वसेत् पूर्वं जलन्धरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः।...।

नागार्जुनो महानाथो...।” (पृष्ठ ४४)।

२ कण्ठपाको भोटियामें स्प्योद्-पा-पा (चो-पा-पा = चर्यापा) भी कहते हैं। (स-स्क्य-ब्क-बुम्, ज ३४९ क)।

नहीं रह जाती। विचारोंमें यद्यपि अब नाथपन्थ अनीश्वरवाद छोड़कर ईश्वरवादी हो गया है; तथापि अब भी उसकी वाणियोंमें छान-बीन करने-पर निर्बाण, शून्यवाद और वज्रयानका बीज मिलेगा। नाथपन्थी महाराष्ट्रीय ज्ञानेश्वरने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है—

आदिनाथ,
मत्स्येन्द्रनाथ,
गोरखनाथ,
गहनीनाथ,
निवृत्तिनाथ,
ज्ञानेश्वर।

इनमें आदिनाथ जालन्धरपा ही हैं, जैसा कि, जालन्धरपादके ग्रन्थ “विमुक्तमञ्जरी”^१ के भोटिया-अनुवादसे मालूम होता है। इस परम्परामें बीचके पुरुषोंको छोड़ दिया गया है; क्योंकि गोरखनाथ (९वीं शताब्दी) और ज्ञानेश्वर (१४वीं शताब्दी)के बीचमें सिर्फ दो ही पीढ़ियाँ नहीं हो सकतीं। मैंने अन्यत्र सरहके वंश-वृक्षमें चर्पटीसे शान्तिगुप्तकका भाग, १६ वीं शताब्दीके भोटिया-ग्रन्थ “रत्नाकर जोपमकथा”से^२ दिया है (इस ग्रन्थके आरम्भका एक पृष्ठ तथा अन्तके भी कितने ही पृष्ठ गायब हैं) ! वज्रयानके सम्बन्धमें भोटिया-भाषामें जो सामग्री उपलब्ध है, वह बहुत ही प्रचुर परिमाणमें है; और, उसका अधिकांश शताब्दियोंके हेर-फेरसे बचा रहनेसे बहुत प्रामाणिक है। इसीलिये गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथके काल-निर्णयमें उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भोटिया-ग्रन्थोंकी बातोंकी पुष्टि, कभी-कभी बड़े

^१ देखिये Cordier का *Catalogue du fonds Tibetain, troisieme partie*, पृष्ठ ११२, Vol. LXXIII 49.

^२ रिन्-पो-छेइ-ज्युङ्ग खुङ्गस्-त्त-बु-न्तम्।

विचित्र रूपसे होती देखी जाती है। उक्त “रत्नाकरजोपमकथा” ग्रन्थमें लिखा है—

“मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ, ये दोनों भारतकी पूर्व दिशावाले कामरूप (देश)के मछुवे थे..... (वहाँ) लौहित्य-नदी है, जिसे आजकल भोट-में ‘चङ्ग-पो’ कहते हैं।..... (मत्स्येन्द्र) मछलीके पेटमें १२ वर्ष रहे। फिर आचार्य चर्पटीके पास गये।..... दोनों ही सिद्ध हो गये।..... बाप (हुआ) सिद्ध मीनपा और बेटा सिद्ध मच्छिन्द्रपा।”

‘तन्त्रालोक’की टीकामें इसकी पुष्टि हमें इस श्लोकसे मिलती है—

“भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।

तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।

कामरूपे महापीठे मच्छेन्द्रेण महात्मना।”^१

‘नाथपन्थ’के चौरासी सिद्धोंका उत्तराधिकारी सिद्ध हो जानेपर फिर कबीरसे सम्बन्ध जोड़नेमें दिक्कत नहीं रहती। कबीर स्वयं चौरासी सिद्धोंको भूले न थे, तभी तो उन्होंने कहा है—

“धरती अह असमान बि, बोई तूँबडा अबध।

षट दशन संसे पड़घा, अह चौरासी सिध ॥”^२

यहाँ चौरासी सिद्धोंसे विरोध प्रकट करनेसे कबीर उनकी टकसालके न थे—ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं। वस्तुतः रामानन्द, कबीरने सिद्धोंके ही निर्गुण, योग और विचित्र ढंगको अपनाकर नाथवंशके राज्य-पर धावा किया ^३ और शताब्दियोंके संघर्षके बाद वह विजयी हुए। यदि

^१ (त्रिवेण्ड्रम्-संस्कृत-सीरीज, पृष्ठ २४, २५, *Indian Historical Quarterly*, March 1930 में उद्धृत)

^२ कबीरग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ५४।

^३ चंदनकी कुटकी भली, नाँ बबूर अमराँऊँ।

बैशनोंकी छपरी भली, नाँ साषतका बड़गाँव ॥”

आप भक्तमालके भक्तोंके व्यवसाय, कुल, रहन-सहनको चौरासी सिद्धोंसे मिलानें, तो यह विचार-सादृश्य भली भाँति प्रकट हो जायगा।

सिद्धोंकी कविताकी भाषा आठवींसे १२वीं शताब्दीकी भाषा है; इसीलिये उसका आपसमें भी भेद होना स्वाभाविक है। फिर नवीं शताब्दीके कण्ठपाकी २०वीं शताब्दीकी भाषासे कितना फर्क होगा, इसके लिये तो कहना ही क्या! आखिरी सिद्धके १०० वर्ष बाद, सन् १३०० ई० में, राणा हम्मीर सिंह चित्तौड़की गद्दीपर बैठे। हिन्दुओंकी कुछ परम्परागत कमजोरियोंको छोड़कर वह एक आदर्श क्षत्रिय वीर थे। उनके सम्बन्धकी कुछ कविताएँ “प्राकृत-पैङ्गल”में उद्धृत हैं (इसका कवि सम्भवतः “जज्जल” था, जो कि, हम्मीरका सेनापति भी था)। इस चौदहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धकी भाषाको आजसे मिलानेसे उससे भी पुरानी सिद्धोंकी भाषाके पूर्वका अनुमान किया जा सकता है—

“पअ^१ भरु दर भरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ।
 कमठ पिट्टु टरपरिअ^२ मेरु मंदर सिर-कंपिअ ॥
 कोह चलिअ हम्मीर वीर गअ-जूह^३ सँजुत्ते।
 किअउ कट्टु आकंद^४ मुच्छि^५ म्लेच्छहके पुत्ते ॥१२॥
 “पिंधउ^६ दिढ़ सण्णाह^७ बाह-उप्पर पक्खर^८ दइ।
 बन्धु समदि^९ रण धसउ सामि हम्मीर वअण^{१०} लइ।
 उडुल णह-पह^{११} भमउ^{१२} खग^{१३} रिउ^{१४} सीसहि डारउ।
 पक्खर^{१५} पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ^{१६} उप्फालउ^{१७} ॥

(कबीर प्र०, पृ ५२)। यहाँ “साषत” या शाक्तसे मतलब जिस सम्प्रदायसे था, उसमें नाथपन्थ उस समय प्रमुख था।

^१ पद। ^२ डगमगाये। ^३ गजयूथ। ^४ आक्रंदन। ^५ म्लेच्छोंके।
^६ पेन्ह्यो, पहना। ^७ कवच। ^८ कवच। ^९ समझकर। ^{१०} वचन।
^{११} नभपथ। ^{१२} भ्रम्यो, घूमा। ^{१३} खड्ग। ^{१४} रिपु। ^{१५} पकड़।
^{१६} पर्वत। ^{१७} उपारा, उखाड़ा।

हम्मीर कज्जु जज्जल भणह कोहाणल^१ मुह मह जलउ
मुलतान सीस करवाल बइ, तेज्जि कलेवर दिअ^२
चलेउ ॥१०७॥^३

इसके पहलेकी एक कविता लीजिये, जो सम्भवतः काशिराज जयचन्द्र
या हरिश्चन्द्रके लिये लिखी गई मालूम होती है^४—

“जे किज्जिअ-धाला^५ जिराणु
णिवाला^६ भोदून्ता^७ पिट्टं^८ चले।
भंजाबिअ^९ चीणा दप्पहि^{१०} हीणा
लोहाबल हाकंद^{११} पले।
ओड्डा^{१२} उड्डाबिअ^{१३} कित्ती^{१४} पाबिअ^{१५}
मोलिअ^{१६} मालब^{१७} राअ बले।
तेलंगा भग्गिअ पुणबिण^{१८} लग्गिअ,
कासीराआ^{१९} जखण^{२०} चले ॥” (पृ० १९८)

तेरहवीं शताब्दीके मध्यमें लिखे गये एक भोटियाग्रन्थमें^{२१} उद्धृत

^१ क्रोधानल। ^२ दिव, स्वर्ग।

^३ “प्राकृत-पैङ्गल”, बंगाल रा० एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रका-
शित (पृष्ठ १८०)।

^४ “प्राकृत-पैङ्गल”, पृष्ठ ३१८

^५ वर्गबद्ध। ^६ जीता। ^७ नेपालको। ^८ तिब्बत। ^९ भग्न किया।
^{१०} दर्पमें। ^{११} आक्रन्दन, रोना-पीटना। ^{१२} उड़ीसावासी। ^{१३} उड़ा
दिया, उजाड़ दिया। ^{१४} कीर्ति। ^{१५} पाया। ^{१६} परास्त किया। ^{१७}
मालव राजकी सेनाको। ^{१८} पुनरपि न, फिर नहीं। ^{१९} काशिराज।
^{२०} जिस समय।

^{२१} स-स्वय-ब्रह्म-ब्रुम्, प, पृष्ठ २८४ ख; फग्स्-या (१२३३-१२७९
ई०) विरचित।

कुछ हिन्दी-शब्दोंको देखिये—इन्द्र (इन्द्र), जम (यम), जक्ख (यक्ष), बाउ (वायु), रक्ख (रक्ष), चन्द (चन्द्र), सुज्ज (सूर्य), माद (माता), बप्प (बाप)।

इन उदाहरणोंसे आपकी समझमें आ जायगा कि, हिन्दीकी आदिम कविताकी भाषाका आजकलकी भाषासे काफी भेद होना स्वाभाविक है।

जिन कवियोंकी कविताओंको मैं यहाँ हिन्दीकी प्राचीनतम कविता कहकर उद्धृत करने जा रहा हूँ, उन्हें बँगालके दिग्गज ऐतिहासिक बँगला की कविता कहते हैं। इसके बारेमें इसी पुस्तकमें मुद्रित दूसरे लेख (९)में आ गया है और यहाँ भी जो कवियोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, वह काफी उत्तर है। सर्व-पुरातन सिद्ध सरहपाद नालन्दासे सम्बन्ध रखते थे; इसलिये उनकी भाषाका मगही होना स्वाभाविक ठहरा। अन्य सिद्धोंने भी इसी भाषाको कविताकी भाषा बनाया। चौरासी सिद्ध नालन्दा और विक्रमशिलासे सम्बन्ध रखते थे। जबतक नालन्दा, विक्रमशिलाको बँगाल^१में नहीं ले जाया जाता, तबतक सिद्धोंकी भाषा भी बँगला नहीं हो सकती। रही भाषाकी समानताकी बात; वह तो मगही और मैथिलीसे और अधिक है। वस्तुतः अतीत कालके भीतर हम जितना ही अधिक घुसते जायेंगे समानता उतनी ही अधिक बढ़ती जायेगी; क्योंकि, मगही, ओड़िया, बँगला, आसामी, मैथिली—सभी मागधीकी सन्तानें हैं।

१. सरहपा (सिद्ध ६)—इनके दूसरे नाम राहुलभद्र और सरोजवज्र भी हैं। पूर्व दिशामें राज्ञी (?) नामक नगरमें एक ब्राह्मण-वंशमें इनका

^१ “Thus the time of the earliest Doha (दोहा) in Bengali goes back to the middle of the seventh century, when Saraha flourished and Bengal may be justly proud of the antiquity of her literature.” Dr. B. Bhattacharya, (J. B. O. R. S. LXXXLI, 1, p. 247).

जन्म हुआ था। भिक्षु होकर यह एक अच्छे पण्डित हुए। नालन्दा में कितने ही वर्षों तक इन्होंने वास किया। पीछे इनका ध्यान मन्त्र-तन्त्रकी ओर आकर्षित हुआ और आप एक वाण [शर=सर] बनानेवालेकी कन्याको महामुद्रा^१ बनाकर किसी अरण्य में वास करने लगे। वहाँ यह भी शर (वाण) बनाया करते थे; इसीलिये इनका नाम सरह पड़ गया। श्रीपर्वत-^२ में भी यह बहुधा रहा करते थे। सम्भव है, इनकी मन्त्रोंकी ओर प्रथम प्रवृत्ति वहीं हुई हो। शबरपाद (५) इनके प्रधान शिष्य थे। कोई तान्त्रिक नागार्जुन भी इनके शिष्य थे। भोटिया तन्-जूरमें इनके ३२ ग्रन्थोंका अनुवाद मिलता है, जो सभी वज्रयानपर हैं। इनमें एक “बुद्ध-कपाल-तन्त्र” की पञ्जिका “ज्ञानवती” भी है। इनके निम्न काव्य-ग्रन्थ मगहीसे भोटियामें अनुवादित हुए हैं—

- १ क, ख दोहा (त० ४७।७)।
- २ क-ख दोहा-टिप्पण (त० ४७।८)।
- ३ कायकोष-अमृतवज्रगीति (त० ४७।९)।
- ४ चित्तकोष-अजवज्रगीति (त० १७।११)।
- ५ डाकिनी-वज्र-गुह्यगीति (त० ४८।१०६)।
- ६ दोहा-कोष-उपदेश-गीति (त० ४७।५)।
- ७ दोहाकोषगीति (त० ४६।९)
- ८ दोहाकोषगीति। तत्त्वोपदेशशिखर—, (त० ४७।१७)।

^१ वज्रयानीय योगकी सहचरी योगिनी अथवा हेप्नाटिस्मका माध्यम।

^२ नहरल्ल-बडु (नागार्जुनीकोंडा, जिला गुंटूर)।

^३ त-से मतलब तन्-जूरके तन्त्र-खण्डसे है। विशेषके लिये देखिये Cordier का *Catalogue du fonds Tibetain*; द्वितीय और तृतीय खण्ड।

- ९ दोहा-कोष-गीतिका । भावनादृष्टि-चर्याफल—, (त० ४८।५) ।
 १० दोहाकोष । वसन्ततिलक—, (त० ४८।११) ।
 ११ दोहाकोष-चर्यागीति । (त० ४७।४) ।
 १२ दोहाकोष-महामुद्रोपदेश । (त० ४७।१३) ।
 १३ द्वादशोपदेश-गाथा (त० ४७।१५) ।
 १४ महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति । (त० ४८।१००) ।
 १५ वाक्-कोषरुचिरस्वरवज्रगीति । (त० ४७।१०) ।
 १६ सरहगीतिका (त० ४८।१४, १५) ।
 इनकी कुछ कविताओंका नमूना लीजिए—

- १ “जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह पवेश ।
 तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ॥”
 “पण्डिअ सअल सत्य बक्खाणइ
 बेहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ”
 “अमणागमण ण तेन विखण्डिअ ।
 तोवि णिलज्ज भणइ हेंउ पण्डिअ”
 “जो भबु सो निवा[?व्वाण] खलु,”
 भेषु न मण्णहु पण्ण ।”
 “एकसभावे विरहिअ, णिम्मलमइ पड़िवण्ण ॥”
 “घोरे न्धारें चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ ।
 परममहासुह एखुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ ॥”
 “जीवन्तह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ ।
 गुरु उपएसैं विमलमइ, सो पर धण्णा कोइ ॥”

१ “बौद्धगान-ओ-दोहा”—बंगीयसाहित्य-परिषद्, कलकत्ता, “सरोज वष्वेर दोहाकोष ।”

इनके कुछ गीति-पद्य—

राग द्वेशाख [३२]

“नाद न विन्दु न रवि न शशि-मण्डल ॥

चिअराअ सहाबे मूकल ॥ध्रु०॥

उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे बङ्क ।

निअहि बोहिमा जाहु रे लाङ्क ॥ध्रु०॥

हाथेरे कान्काण मा लोउ दापण ।

अपणे अपा बुझतु निअ-मण ॥ध्रु०॥

पार उआरे सोइ गजिइ ।

दुज्जण साङ्गे अवसरि जाइ ॥ध्रु०॥

वाम दाहिण जो खाल विखला ।

सरह भणइ बपा उजुवाट भाइला ॥ध्रु०॥”^१

राग भैरवी (३८)

‘काअ णावड़ि खण्टि मण केहुआल ।

सद्गुरु वअणे धर पतवाल ॥ध्रु०॥

चीअ थिर करि धहुरे नाही ।

अन उपाये पार ण जाई ॥ध्रु०॥

नौवाही नौका टागुअ गुणे ।

मेलि मेल सहजें जाउ ण आणें ॥ध्रु०॥

‘बौद्धगान-उ-दोहा’ “चर्याचर्यविनिश्चय” (“चर्या-गीति” नाम ठीक जँचता है) । पाठ बहुत अशुद्ध हैं । यहाँ कहीं मात्राके ह्रस्व-दीर्घ करनेसे, कहीं संयुक्त वर्णोंके घटाने-बढ़ानेसे तथा कहीं-कहीं एकाध अक्षर छोड़ देनेसे छन्दो-भंग दूर हो जायगा । जैसे पहली पंक्तिमें “रवि न शशि”के स्थानपर रवि-शशि; “चिअ-राअ”के स्थानपर “चीअ-राअ”; “कान्काण”के स्थानपर कङ्कण; “आपा”के स्थानपर अप्पा ।

वाट अभय खाण्टबि बलआ ।
 भव उलोलें षअबि बोलिआ ॥ध्रु०॥
 कुल लइ खरे सोन्ते उजाअ ।
 सरह^१ भणइ गणें पमाएँ ॥ध्रु०॥ ॥३८॥

२ शबरपा (सिद्ध ५)—यह सरहपादके शिष्य थे। गौडेश्वर महाराज धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)के कायस्थ (लेखक) लूइपा इन्हीके शिष्य थे। नागार्जुनको भी इनका गुरु कहा गया है; किन्तु यह शून्यवादके आचार्य नागार्जुन नहीं हो सकते। यह अक्सर श्रीपर्वतमें भी रहा करते थे। जान पड़ता है, शबरों या कोल-भीलों की भाँति रहन-सहन रखनेके कारण इन्हें शबरपाद कहा जाने लगा। तन्-जूरमें इनके अनुवादित ग्रन्थोंकी संख्या २६ है; (जो सभी छोटे-छोटे हैं); पीछे, दसवीं शताब्दीमें, भी एक शबरपा हुए थे जो मैत्रीपा या अवधूतीपाके गुरु थे। उनकी भी पुस्तकें इन्हींमें शामिल हैं। इनकी हिन्दी-कविताएँ ये हैं—

“चित्तगुह्यगम्भीरार्थ-गीति” (त० ४८।१०८)।

महामुद्रावज्रगीति (त० ४७।२९)।

शून्यतादृष्टि (त० ४८।३६)।

षडङ्गयोग^२ (त० ४।२२)।

सहजशंवरस्वाधिष्ठान^३ (त० १३।५)।

सहजोपदेश स्वाधिष्ठान^३ (त० १३।४)।

^१ सरहपाद संस्कृतके भी कवि थे।

“या सा संसारचक्रं विरचयति मनःसन्नियोगात्महेतोः।

सा धीर्यस्य प्रसादाद्दिशति निजभुवं स्वामिनो निष्प्रपञ्चम्)।

तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुदयति सुखं कल्पनाजालमुक्तम्।

कुर्यात् तस्याद्भिद्रयुग्मं शिरसि सधिनयं सद्गुरोः सर्वकाल (म्) ॥”

(“चर्याचर्यविनिश्चय,” पृष्ठ ३)

^२ ये ग्रन्थ संस्कृतमें थे या हिन्दीमें, इसमें सन्देह है।

चर्या-गीतोंमें इनके दो गीत मिलते हैं।

(राग बलाड्डि २८)

“ऊँच ऊँचा पावत तँहिँ बसइ सबरी बाली।

मोरङ्ग पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुञ्जरी माली ॥ध्रु०॥

उमत सबरो पागल शबरो मा कर गुली गुहाडा,

तोहौरि णिअ घरिणी णामे सहज सुन्दारी ॥ध्रु०॥

णाणा तरुवर मोलिल रे गअणत लागेली डाली।

एकेली सबरी ए वण हिण्डइ कर्णकुण्डलवज्रधारी ॥ध्रु०॥

तिअ धाउ खाट पडिला सबरो महासुखे सेजि छाइली

सबरो भुजङ्ग णइरामणि दारी पेट्टम राति पोहाइली ॥ध्रु०॥

हिअ ताँबोला महासूहे कापूर खाइ।

सून निरामणि कण्ठे लइआ महासूहे राति पोहाइ ॥ध्रु०॥

गुरुवाक पुञ्जआ बिन्ध णिअ मणे वाणें।

एके शर-सन्धानेँ बिन्धह-बिन्धह परम णिवाणेँ ॥ध्रु०॥

उमत सबरो गरुआ रोषे।

गिरिवर-सिहर-संधि पइसन्ते सबरो लोडिव कइसे ॥२८॥”

राग रामक्री (५०)

“गअणत गअणत तइला वाड्ही हेञ्चे कुराडी।

कण्ठे नैरामणि बालि जागन्ते उपाडी ॥ध्रु०॥

छाड़ छाड़ माआ मोहा विषमे दुन्दोली।

महासुहे विलसन्ति शबरो लइआ मुणमे हेली ॥ध्रु०॥

हेरि ये मेरि तइला बाडी खसमे समतुला।

षुकड़ए सेरे कपासु फुटिला ॥ध्रु०॥

तइला वाडिर पासैर जोह्हा वाडी ताएला।

फिटेलि अन्धारि रे अकाश फुलिआ ॥ध्रु०॥

कुडगुरि ना पाकेला रे शबराशबरि मातेला ।
 अणुविण शबरो किम्पि न चेवइ महासुहें भेला ॥ध्रु०॥
 चारिवासे भाइलारें दिआं चञ्चाली ।
 तेंहि तोलि शबरो हकएला कान्दश सगुण शिआली ॥ध्रु०॥
 मारिल भव-मत्तारे दह-दिहे विध लिवली ।
 हे रसे सबरो निरेवण भइला फिटिलि षबराली” ॥ध्रु०॥

३ कर्णारीपा या आर्यदेव (सिद्ध १८)—यह शून्यवादके आचार्य नागार्जुनके शिष्य आर्यदेव न थे। इनके गुरु वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन थे, जो कि, सरहपादके शिष्य थे। भिक्षु बनकर नालन्दा-बिहार गये। तन्-जूरके दर्शन-विभागमें आर्यदेवके ९ ग्रन्थों और तन्त्र-विभागमें २६ ग्रन्थोंका अनुवाद है, जिनमें दर्शनके नौ ग्रन्थ तो पुराने माध्यमिक आर्य-देवके हैं; किन्तु तन्त्रके प्रायः सभी ग्रन्थ इन्हीके हैं। इनमें हिन्दीमें सिर्फ “निर्विकल्प प्रकरण” (त० ४७।२०) ही मालूम होता है। इनकी एक कविताका नमूना लीजिये—

राग पटमञ्जरी (३१)

“जहि मण इन्दिअ (प) वण हो णठा ।]
 ण जाणमि अपा कॅहि गइ पइठा ॥ध्रु०॥
 अकट करुणा डमरुलि बाजअ ।
 आजदेव णिरासे राजइ ॥ध्रु०॥
 चान्दरे चान्दकान्ति जिम पतिभासअ ।
 चिअ विकरणे तहि टलि पइसइ ॥ध्रु०॥
 छाड़िअ भय घिण लोआचार ।
 चाहन्ते चाहन्ते सुण विआर ॥
 आजदेवें सअल विहरिउ ।
 भय घिण नुर णिवारिउ ॥ध्रु०॥”

४ लूइपाद (सिद्ध १७)—पहले राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०) के लेखक (=कायस्थ) थे। एक समय जब महाराज धर्मपाल अपने राज्यके प्रदेश वारेन्द्रमें थे, तब सिद्ध शबरपाद भी विचरते हुए उधर जा निकले। एक दिन शबरपाद राजाके महलमें भिक्षाके लिये गये। उसी समय लूइपासे उनकी भेंट हुई। वह बहुत ही प्रभावित हुए और विरक्त हो शबरपादके शिष्य बन गये। संख्यामें चौरासी सिद्धोंमें इनका नाम प्रथम होना ही बतलाता है कि, यह कितना प्रभाव रखते थे। इनके प्रधान शिष्योंमें सिद्ध वारिकपा और सिद्ध डेंगीपा थे, जो दोनों ही पूर्वाश्रममें क्रमशः उड़ीसाके राजा और मन्त्री थे^१। इन्होंने पुरानी मगही हिन्दीमें^२ बहुत सी कविताएँ की थीं। तन्-जूरमें इनके सात अनुवादित ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न पाँच हिन्दीमें थे—

अभिसमयविभङ्ग (त० १३।१८)।

तत्त्वस्वभावदोहाकोष (त० ४८।२)।

बुद्धोदय (त० ४७।४१; ७३।६२)।

भगवदभिसमय (त० १२।८)।

लूइपाद-गीतिका (त० ४८।२७)।

^१ स-स्वय-स्क-बुम्, ज, पृष्ठ २४२ख—२४५ख।

^२ डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य इनकी कविताके विषयमें कहते हैं—
“These songs written by a Bengali in the soil of Bengal, may appropriately be called Bengali” भोटिया-ग्रन्थोंमें बँगल या भंगल या भगल मिलता है, जिस नामसे कि, भोटिया लोग विक्रम-शिलावाले प्रदेशको पुकारते थे और जिसका चिन्ह भागलपुरके नाममें अब भी मौजूद है।

कवित्ताका नमूना

राग पटमंजरी (१)

“काआ तरुवर पञ्च वि डाल
 चञ्चल चीए पइठो काल
 विट करिअ महासुह परिमाण
 लुइ भणइ गुह पूच्छिअ जाण ॥ध्रु०॥
 सअल स (मा) हिअ काहि करिअइ
 सुख दुखेतें निचित मरिआइ ॥ध्रु०॥
 एड़िएउ छान्वक बान्ध करणक पाटेर आस
 सुनु पाख भिति लाहु रे पास ॥ध्रु०॥
 भणइ लुइ आम्हे साणे दिठा
 धमण चमण वेणि पाण्डि वइण ॥ध्रु०॥”

राग पटमंजरी (२९)

भाव न होइ अभाव ण जाइ,
 आइस संबोहे को पतिआइ ॥ध्रु०॥
 लुइ भणइ बट दुलक्ख विणाणा,
 तिअ धाए विलसइ उह लागे णा ॥ध्रु०॥
 जाहेर बान-चिह्ल, रुव ण जाणी,
 सो कइसे आगम बेएँ वखाणी ॥ध्रु०॥
 काहेरे किषभणि मइ दिवि पिच्छा,
 उवक चान्व जिमि साच न मिच्छा ॥ध्रु०॥
 लुइ भणइ भाइव कीम्,
 जालइ अच्छमता हेर उह ण दिस् ॥ध्रु०॥”

५ भूसुकु (सिद्ध ४१)—नालन्दाके पासके प्रदेशमें, एक क्षत्रिय-वंशमें, पैदा हुए थे। भिक्षु बनकर नालन्दामें रहने लगे। उस समय नालन्दाके

राजा (गौड़ेश्वर) देवपाल (ई० ८०९-८४९) थे। कहते हैं, भूसुकुका नाम शान्तिदेव भी था। इनकी विचित्र रहन-सहनको देखकर राजा देवपालने एक बार 'भूसुकु' कह दिया और तभीसे इनका नाम भूसुकु पड़ गया ! शान्तिदेवके दर्शन-सम्बन्धी छः ग्रन्थ तन्-जूरमें मिलते हैं और तंत्र-पर तीन। भूसुकुके नामसे दो ग्रन्थ हैं, जिनमें एक "चक्रसंवरतन्त्र"की टीका है। मागधी हिन्दीमें लिखी इनकी "सहजगीति" (त० ४८।१) भोटिया-भाषामें मिलती है।

कविताका नमूना :

राग कामोद (२७)

“अधराति भर कमल विकसउ,
 बतिस जोइणी तसु अङ्ग उह् णसिउ ॥ध्रु०॥
 चालिउअ षषहर मागे अवधूइ,
 रअणहु षहजे कहेइ ॥ध्रु०॥
 चालिअ षषहर गउ णिवाणे,
 कमलिनि कमल बहइ पणाले, ॥ध्रु०॥
 विरमानन्द बिलक्षण सुध ॥
 जो एथु बूझइ सो एथु बुध ॥ध्रु०॥
 भूसुकु भणइ मइ बूझिअ मेले,
 सहजानन्द महासुह लोले ॥ध्रु०॥

राग मल्लारी (४९)

“बाज णाव पाड़ी पँउआ खाले वाहिउ,
 अदअबङ्गाले^१ क्लेश लुड़िउ ॥ध्रु०॥

^१ डाक्टर भट्टाचार्यने लिखाहै—“The Pag--Sam-Jon-Zan it is said that Santideva was a native of Saurashtra,

आजि भूसु बङ्गाली^१ भइली,
 णिअ घरिणीं चण्डाली लेली ॥ध्रु०॥
 डहि जो पञ्चधाट णइ दिबि संज्ञा णठा,
 ण जानमि चिअ मोर कहिँ गइ पइठा ॥ध्रु०॥
 सोण तरुअ मोर किम्पि ण थाकिउ,
 निअ परिवारे महासुहे थाकिउ ॥ध्रु०॥
 चउकोड़ि भण्डार मोर लइआ सेस,
 जीवन्ते मइले^२ नाहि विशेष ॥ध्रु०॥”

६ वीणापा (सिद्ध १२)—गौड़देशमें^१ क्षत्रियवशमें इनका जन्म हुआ था। इनके गुरुका नाम भद्रपा (सि० २४) था। वीणा बजाकर यह अपने पदोंको गाया करते थे; इसीलिये इनका नाम वीणापा पड़ गया।

but I am inclined to think that he belonged to Bengal. It is evident from his song.” “आज भूसु बङ्गाली” (*ibid.*) गीतमें बंगाली शब्द खास तान्त्रिक परिभाषाके अर्थमें व्यवहृत हुआ है; जैसा कि, डाक्टर भट्टाचार्यके पिता प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय हर-प्रसाद शास्त्रीने अपने इसी ग्रन्थकी भूमिका (पृष्ठ १२) में लिखा है—
 “सहज-मते तीनटि पथ आछे, अवधूती, चाण्डाली, डोम्बी वा बँगाली। अवधूती ते द्वैतज्ञान थाके, चाण्डालीते द्वैतज्ञान आछे... बलिलेउ हय, किन्तु डोम्बीते केवल अद्वैत... एइ बार तुमि सत्य सत्यइ बंगाली हइले अर्थात् पूर्ण अद्वैत हइले।” और, यदि शब्दपर दौड़ना है, तब तो भूसुकु आज बंगाली हुए, मानो पहले न थे। फिर “भइली” शब्द बँगलामें कहाँ व्यवहृत होता है? किन्तु वह काशीसे मगह तक आज भी बहुत प्रचलित है।

^१ पालवंशीय राजा गौड़ेश्वर कहे जाते थे। उनकी राजधानी पटना जिलेका बिहारशरीफ स्थान थी। नालन्दाके पास होनेके कारण भोटिया-ग्रन्थोंमें अक्सर उन्हें नालन्दाका राजा भी कहा गया है।

तन्-जूरमें इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—१ गुह्याभिषेक-प्रक्रिया (त० २१। ५०)। २ महाभिषेकत्रिक्रम (त० २१।५१)। ३ वज्रडाकिनीनिष्पन्न-क्रम (त० ४८।५३)।

इसमें तीसरा ग्रन्थ उसी बेटनमें है, जिसमें हिन्दी कविताओंके दूसरे अनुवाद है; इसलिये मालूम पड़ता है, यह भी हिन्दीमें रहा है। “चर्यागीति”^१ में इनका एक गीत इस प्रकार है—

राग पटमञ्जरी (१७)

“सुज लाउ ससि लागेलि तान्ती,
अणहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती ॥ध्रु०॥
बाजइ अलो सहि हेरुअवीणा,
सुन तान्ति धनि विलसइ रुणा ॥ध्रु०॥
आलि कालि वेणि सारि सुणेआ,
गअवर समरस सान्धि गुणिआ ॥ध्रु०॥
जबे करहा करहक लेपि चिउ,
बतिश तान्ति धनि सएल विआपिउ ॥ध्रु०॥
नाचन्ति वाजिल गान्ति देवी,
बुद्ध नाटक विसमा होइ ॥ध्रु०॥”

७ विरूपा (सिद्ध ३)—महाराज देवपाल (८०९-४९ ई०)के देश “त्रिउर” (?)में इनका जन्म हुआ था। भिक्षु बनकर नालन्दा-विहारमें पढ़ने लगे और वहाँके अच्छे पण्डितोंमें हो गये। इन्होंने देवीकोट और श्रीपर्वत आदि सिद्ध स्थानोंकी यात्रा की। श्रीपर्वतमें इन्हें सिद्ध नाग-बोधि मिले। यह उनके शिष्य हो गये। पीछे नालन्दामें आकर जब इन्होंने देखा कि, विहारमें मद्य, स्त्री आदि, सहजचर्याके लिये अत्यावश्यक वस्तु-

^१ “बौद्धगान ओ बोहा”, पृष्ठ ३०

ओंका व्यवहार नहीं किया जा सकता, तब वहाँसे गङ्गाके घाटपर चले गये। वहाँसे फिर उड़ीसा गये। इनके शिष्योंमें डोम्बिपा (सि० ४) और कण्हपा थे। यमारितन्त्रके यह ऋषि थे। तन्-जूरमें इनके तन्त्र-सम्बन्धी अठारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—अमृतसिद्धि (त० ४७।२७)। दोहाकोष (त० ४७।२४)। दोहाकोषगीति-कर्म-चण्डालिका (त० ४८।४)। मार्गफलान्विताववादक (त० ४७।२५)। विरूपगीतिका (त० ४८।२९)। विरूपवज्रगीतिका (त० ४८।१६)। विरूपपदचतुरशीति (त० ४७।२३)। मुनिष्प्रपञ्चतत्त्वोपदेश (त० ४३।१००)।

कविताका नमूना

राग गबड़ा (३)

“एक से शुण्डिनि दुह घरे सान्धअ,
 चीअण वाकलअ वारुणी बान्धअ ॥ध्रु०॥
 सहजे थिर करी वारुणी सान्धे,
 जे अजरामर होइ दिट कान्ध ॥ध्रु०॥
 दशमि दुआरत चिह्न देखइआ,
 आइल गराहक अपणे बहिआ ॥ध्रु०॥
 चउशठी घड़िये देट पसारा,
 पइठेल गराहक नाहि निसारा ॥ध्रु०॥
 एक स डुली सरइ नाल,
 भणन्ति विरुआ थिर करि चाल” ॥ध्रु०॥

८ दारिकपा (सि० ७७)—यह “ओड़िसा”के^१ राजा थे। जब सिद्ध

^१ स-स्कय-स्क-बुम्, ज, पृष्ठ २४४ ख से २४५ ख०। डा० विनय-तोष भट्टाचार्यने लिखा है—“Luipa...belonged to an earlier

लूइपा उड़ीसा गये, तब यह और इनके ब्राह्मण मन्त्री, जिनका नाम पीछे डेंगीपा (डेंकीपा) पड़ा, राज्य छोड़कर उनके शिष्य बन गये। गुरुने आज्ञा दी कि, सिद्धि-प्राप्तिके लिये तुम कांचीपुरीमें जाकर गणिका-दारिका (=वेश्याकी कन्या)की सेवा करो। कई वर्षों तक यह उसकी सेवा करते रहे; इसीसे सिद्ध होनेपर इनका नाम दारिकपा पड़ गया ? सहज-योगिनी चिन्ता इनकी शिष्या थी; और, प्रसिद्ध सिद्ध वज्रघण्टापाद (५२) या घंटापा इनके प्रधान शिष्य थे। तन्-जूरमे इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमेंसे निम्न प्राचीन ओड़िया या मगही हिन्दीके मालूम होते हैं— १ओड़ियान-विनिर्गत-महागुह्यतत्त्वोपदेश (त० ४६।६)। २ तथतादृष्टि (त० ४८।४८)। ३ सप्तमसिद्धान्त (त० ४६।४६)।

कविताका नमूना

राग बराड़ा (३४)

“मुनकरुणरि अभिन वारे” काअ-वाक्-चिअ,
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुले ॥ध्रु०॥

अलक्ष-लख-चित्ता महासुहे,

विलसइ दारिक० ॥ध्रु०॥

किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे ज्ञाण बखाने,

अपइठानमहासुहलीणे दुलख परमनिवाणे ॥ध्रु०॥

age and as such any close connection between the two is hardly admissible. Lui was reputed to be the first Siddhacharya, and that may be the reason why Darikapa reverentially mentions his name.” लेकिन तिब्बतके सभी ग्रन्थ एक मतसे दारिकपाको लइपाका शिष्य कहते हैं। चौरासी सिद्धोंकी सूचीमें संख्याक्रम काल-क्रमसे नहीं है, यह अलग दिये वंश-वृक्ष और नाम-सूचीसे स्पष्ट हो जायगा।

दुःखें सुखें एकु करिआ भुञ्जइ इन्दीजानी,
स्वपरापर न चवइ दारिक सअलानुत्तरमाणी ॥ध्रु०॥
राआ राआ राआरे अवर राअ मोहेरा बाधा,
लुइ-पाअ-पए दारिक द्वादशभुअणें लघा" ॥ध्रु०॥

९ डोम्बिपा (सिद्ध ४)—मगधदेशमें क्षत्रिय-वंशमें पैदा हुए। वीणापा और विरूपा, दोनों ही इनके गुरु थे। लामा तारानाथने लिखा है कि, यह विरूपाके दस वर्ष बाद तथा वज्रघटापाके दस वर्ष पूर्व सिद्ध हुए। यह हेवज्र-तन्त्रके अनुयायी थे। सिद्ध कण्हपा (१७) इनके भी शिष्य थे। तन्-जूरमें २१ ग्रन्थ डोम्बिपादके नामसे मिलते हैं; किन्तु पीछे भी एक डोम्बिपा हुए हैं; इसलिये कौन ग्रन्थ किसका है, यह कहना कठिन है। इनके निम्न ग्रन्थ मगही हिन्दीमे थे—अक्षरद्विकोपदेश (त० ४८।६४)। डोम्बि-गीतिका (त० ४८।२८)। नाडीविदुद्वारे योगचर्या (त० ४८।६३)।

कविताका नमूना

राग देशाख (१०)

“नगर बारिहरे” डोम्बि तोहोरि कुड़िया,
छइछोइ याइ सो बाह्य नाड़िआ ॥ध्रु०॥
आलो डोम्बि तोए सम करिबे म साङ्ग,
निघिण काल्ह कापालि जोइ लाग ॥ध्रु०॥
एकसो पदमा चौषट्टी पाखुड़ी,
तहिं चड़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी ॥ध्रु०॥
हालो डोम्बि तो पुछमि सदभावे,
अइससि जासि डोम्बि काहरि नावें ॥ध्रु०॥
तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चङ्गता,
तोहोर अन्तरे छाड़िनइ एट्टा ॥ध्रु०॥
तु लो डोम्बी हाउं कपाली,
तोहोर अन्तरे मोए घलिलि होड़ेरि माली ॥ध्रु०॥

सरबर भाञ्जीअ डोम्बी खाअ मोलाण,
मारमि डोम्बी लेमि पराण” ॥ध्रु०॥

राग धनसी (१४)

“गंगा जउना माझेरे बहइ नाई,
तहिं बुड़िली मातङ्गि पोइआ लीले पार करेइ ॥ध्रु०॥
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी वाटत भइल उछारा,
सद्गुरु पाअ-पए जाइब पुणु जिणउरा ॥ध्रु०॥
पाञ्च केडुआल पड़न्ते माङ्गे पिटत काच्छी बान्धी,
गअणदुखोले सिञ्चहु पाणी न पइसइ सान्धि ॥ध्रु०॥
चन्द सूज्ज दुइ चका सिठिसंहार पुलिन्दा,
वाम दहिण दुइ माग न रेवइ बाहतु छन्दा ॥ध्रु०॥
कवडी न लेइ बोडी न लेइ सुच्छडे पार करेइ,
जो रथे चड़िला वाहवाण जाइ कुले कुल बुड़इ” ॥ध्रु०॥

भिक्षावृत्ति^१ में इनका यह दोहा मिलता है—

“भुञ्जइ मअण सहावर कमइ सो सइअल।
मोअ ओ धर्म करण्डिया, मारउ काम सहाउ।
अच्छउ अक्ख जे पुनइ, सो संसार-विमुक्क।
ब्रह्म महेसर णारायणा, सक्ख असुद्ध सहाव ॥”

१० कम्बलपाद (सिद्ध ३०)—ओडिविश (उड़ीसा) में, राजवंशमें, इनका जन्म हुआ। भिक्षु होकर त्रिपिटकके पण्डित बने। पीछे सिद्ध वज्र घंटापा (५२)के सत्संगमें पड़ उनके शिष्य हो गये। इनके गुरु सिद्धाचार्य वज्रघंटापाद या घंटापाद उड़ीसामें कई वर्ष रहे और उनके ही कारण उड़ीसा-

^१ तन्-जूर (त० २१।१६)। ल्हासाके मुरु-विहारकी हस्त-लिखित प्रतिका पाठ।

में वज्रयानका बहुत प्रचार हुआ। सिद्ध राजा इन्द्रभूति इनके शिष्य थे। कम्बलपाद बौद्ध दर्शनके भी पण्डित थे। प्रज्ञापारमिता-दर्शनपर इनके चार ग्रन्थ, भोटियामें, मिलते हैं। इनके तन्त्र-ग्रन्थोंकी संख्या ग्यारह है, जिनमें निम्न प्राचीन उड़िया या मगहीमें थे—असम्बन्ध-दृष्टि (त० ४८।३८)। असम्बन्ध-सर्गदृष्टि (त० ४८।३९)। कम्बलगीतिका (त० ४८।३०)।

कविताका नमूना

राग देवक्री (८)

“सोने भरिती करुणा नावी,
रूपा थोइ महिके ठावी ॥ध्रु०॥
वाहतु कामलि गअण उवेसें,
गैली जाम बहु उइ काइसें ॥ध्रु०॥
खुन्टि उपाड़ी मेलिलि काच्छि,
वाहतु कामलि सद्गुरु पुच्छि ॥ध्रु०॥
माङ्गत चन्हिले चउदिस चाहअ,
केडु आल नहि के कि बाहबके पारअ ॥ध्रु०॥
वामदाहिण चापो मिलि मिलि मागा,
वाटत मिलिलि महासुह सङ्गा ॥ध्रु०॥”

११ जालन्धरपाद (सिद्ध ४६)—नगर-भोग (?) देशमें, ब्राह्मण-कुलमें, इनका जन्म हुआ था। पीछे एक अच्छे पण्डित भिक्षु बने। किन्तु घंटापादके शिष्य, सिद्ध कूर्मपादकी संगतिमें आकर यह उनके शिष्य हो गये। मत्स्येन्द्रनाथ, कण्हपा और तंतिपा इनके शिष्योंमें थे। भोटिया-ग्रन्थोंमें इन्हें आदिनाथ भी कहा गया है। नाथपन्थकी परम्परामें भी आदिनाथसे इन्हींसे मतलब है। इस प्रकार चौरासी सिद्धोंमें जालन्धरपादकी परम्परा अब भी भारतमें कायम है। गोरक्षनाथ इनके शिष्य मत्स्येन्द्रके शिष्य

थे। तन्-जूरमें इनके सात ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न प्राचीन मण्हीके हैं—विमुक्तमंजरी-गीत (त० ७३।४९)। हूँकार-चित्त-बिंदु-भावनाक्रम (त० ४८।७२)।

कविताका नमूना

राग निवेद, ताल माठ, (७६)^१

“अख्य निरंजन अर्द्धय अनु
 पद्म गगन कमरंजे साधना,
 शून्यता विरासित राय श्री चिय,
 देव पान-बिन्दु समय जो विता ॥ध्रु०॥
 नमामि निरालम्ब निरक्षर,
 स्वभाव हेतु स्फुरन संप्रापिता,
 सरद-चन्द्रसमय तेज प्रकासित
 जरज-चन्द्र समय व्यापिता ॥ध्रु०॥
 खडग योगाम्बर सादिरे चक्रवर्ति
 मेरुमंडल भमलिता,
 निर्म्मल हृदयारे चक्रवर्ति ध्याविते
 अहितिसिक्खंजत्र मय साधना ॥ध्रु०॥
 आनंद परमानंद बिरमा
 चतुरानंद जे संभवा,
 परमा विरमा माँझे रे न छादिरे
 महासुख सुगत संप्रद प्रापिता ॥ध्रु०॥
 हे वज्रकार चक्र श्रीचक्रसंवर,
 अनन्त कोटि सिद्ध पारंगता,

^१ मैंने यह पाठ नेपालके बौद्धोंमें आज भी प्रचलित चर्यागीति (चचो) पुस्तकसे लिया है। भाषा बिल्कुल ही बिगड़ी हुई है।

श्री हतवदियाने पूर्ण गिरि,
जालन्धरि प्रभु महा सुख-जातहुँ ॥ध्रु०॥

१२ कुकुरिपा (सिद्ध ३४)—कपिल (वस्तु) वाले देशमें, एक ब्राह्मणकुलमें, इनका जन्म हुआ था। मीनपा (८) के गुरु चर्पटीपा इनके भी गुरु थे। इनकी शिष्या मणिभद्रा चौरासी सिद्धोंमेंसे एक (६५) है। पद्मवज्र भी इनके ही शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके १६ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न लिखित हिन्दीके मालूम होते हैं—तत्त्व-सुख-भावानानु-सारियोगभावनोपदेश (त० ४८।६५)। स्रवपरिच्छेदन (त० ४८।६६)।

कविताका नमूना

राग गबड़ा (२)

“दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ,
रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ ॥
आङ्गन घरपण सुन भो विआती,
कानेट चौरि निल अधराती ॥ध्रु०॥
सुसुरा निद गेल बहुडी जागअ,
कानेट चोरे निल का गइ मागअ ॥ध्रु०॥
दिवसइ बहुडी काइइ डरे भाअ,
राति भइले कामरु जाअ ॥ध्रु०॥
अइसन चर्या कुक्करी-पाएँ गाइइ,
कोड़ि मज्जे एकुड़ि अहिँ सनाइइ ॥ध्रु०॥

राग पटमञ्जरी (२०)

“हांउ निवासी खमण भतारे,
मोहोर विगोआ कहण न जाइ ॥ध्रु०॥
फेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि,
जा एथु बाहाम सो एथु नाहि ॥ध्रु०॥

पहिल विआण मोर वासन पूड़,
 नाड़ि विआरन्ते सेव वापूड़ा ॥ध्रु०॥
 जाण जौबण मोर भइलेसि पूरा,
 मूल] नखलि बाप संघारा ॥ध्रु०॥
 भणथि कुक्कुरीपाए भव थिरा,
 जो एथु बुझएँ सो एथु वीरा ॥ध्रु०॥”
 “हले सहि विअ सिअ कमल पवाहिउ वज्जे ।
 अलललल हो महामुहेण आरोहिउ नृत्ये ॥
 रविकिरणेण पफुल्लिअ कमलु महामुहेण ।
 (अल) आरोहिउ नृत्ये ॥”^१

१३ गुण्डरीपाद (सिद्ध ५५)—डिमुनगर देशमें कर्मकारोके कुलमें पैदा हुए थे। पीछे सिद्ध लीलापा (२) के शिष्य हो गये। इनके शिष्य घर्मपादके शिष्य सिद्ध हालिपाद (५०) थे। तन्-जूरमें इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। चर्यागीतोमें इनकी यह गीति मिलती है—

राग अरु (४)

“तिअड्डा चापी जोइनि दे अङ्कवाली,
 कमलकुलिशघाण्ट करहुँ विआली ॥ध्रु०॥
 जोइनि तँइ विनु खनहिँ न जीवमि,
 तो मुह चुम्बी कमल-रस पीवमि ॥ध्रु०॥
 खेँपहु जोइनि लेप न जाय,
 मणिकुले वहिआ ओड़िआणे सगाअ ॥ध्रु०॥
 सामु घरेँ घालि कोञ्चा ताल,
 चान्द-सुजवेणि पखा फाल ॥ध्रु०॥

^१ साधनमाला, (गायकवाड़-ओरियंटल सीरीज, बड़ोदा) पृष्ठ ४६६, ४६७।

भणइ गुडरी अहो कुन्दुरे वीरा,
नरअ नारी मझे उभिल चीरा ॥ध्रु०॥”

१४ मीनपा (सिद्ध ८)—कामरूप (आसाम) देशमें एक मछवेके कुलमें इनका जन्म हुआ था। इन्हींके पुत्र मत्स्येन्द्र थे, जिनके शिष्य गोरखनाथ हुए। पहले लौहित्य (ब्रह्मपुत्र)-नदीमें मछली मारते और ध्यानमार्गपर चलते थे। पीछे चर्पटीपाद (५९)के शिष्य हो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ “बाह्यान्तरबोधिचित्तवन्धोपदेश” (त० ४८।५०) मिलता है, जो कि, पुरानी आसामी या मगहीमें था। चर्यागीति (पृष्ठ ३८)की टीकामें परदर्शन कहकर इनका एक पद उद्धृत किया गया है—

“कहन्ति गुरु परमार्थे वाट,
कर्मकुरङ्ग समाधिक पाट ।
कमल विकसिल कहिह ण जमरा,
कमलमधु पिबिबि धोके न भमरा ॥”

१५ कण्ठपा (सिद्ध १७)—कर्णाटक-देशमें^१ ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था; इसीलिये इनको कर्णपा भी कहते हैं। शरीरका रंग काला होनेसे कृष्णपा या कण्ठपा कहते हैं। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समयमें यह एक पण्डित भिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी-विहार (पहाड़पुर, जि० राजशाही)में रहते थे। पीछे यह सिद्ध जालन्धर-पादके शिष्य हो गये। चौरासी सिद्धोंमें कवित्व और विद्या, दोनोंकी

^१ स-स्कय-बक-बुम्, ज, २६५ क—“युल्-ग्य-गर् कर्ण-र स्क्येस्-पस्-न्स्, कर्ण-बशेस् क्यडः ब्य । र्जान्-रिडः-पस् (लम्बे कानवाले होनेसे) क्यडः कर्ण-प-सेर् । ख-दोग् नग्-पस् कृष्ण-प शेस्-ब्य व ।” डाक्टर भट्टा चार्यने लिखा है—“Written in his own vernacular which was probably Uria, and showed great affinity towards the old Bengali language.”

दृष्टिसे यह सबसे बड़े सिद्धोंमेंसे हैं। इनके अपने सातसे अधिक शिष्य, चौरासी सिद्धोंमें, गिने गये हैं, जिनमें कनखला (६७) और मेखला (३६); दो योगिनियाँ भी हैं। धर्मपा (३६) कन्तलिपा (६९), महीपा (३७), उधलिपा (७१), भदेपा (३२) शिष्य और जवरिपा (६४) या अज-पालिपा प्रशिष्य थे। उस समय सिद्धोंका गढ़ बिहार-प्रदेश था। इन्होंने अपनी भाषा-कविताएँ तत्कालीन मगहीमे की हैं। तन्-जूरमें दर्शनपर छः और तन्त्रपर इनके ७४ ग्रन्थ मिलते हैं। पीछे भी एक कृष्णपाद हुए थे; इसलिये इस सूचीमें कुछ उनके ग्रन्थोंका भी होना सम्भव है। दर्शन-ग्रन्थोंमें इन्होंने शान्तिदेवके “बोधिचर्यावितार”पर “बोधिचर्यावितार-दुरवबोधपद-निर्णय”नामक टीका लिखी है। इनके निम्न कविता-ग्रन्थ मगहीमें थे, जिनके भोटिया-अनुवाद तन्-जूरमें मिलते हैं—

१ कान्हपाद-गीतिका (त० ४८।१७)।

२ महादुण्डन-मूल (त० ८५।३०)।

३ वसन्ततिलक (त० १२।३०)।

४ असम्बन्ध-दृष्टि (त० ४८।४७)।

५ वज्रगीति (त० ४७।३३)।

६ दोहाकोष ^१ (त० ४७। ४४)।

“बौद्धगान ओ दोहा”में इनका दोहाकोष संस्कृतटीका-सहित छपा है, जिसमें बत्तीस दोहे हैं। इनके दोहोंका नमूना देखिये—

“आगम-बेअ-पुराणे, पण्डित्त मान वहंति।

पक्क सिरिफल अलिअ जिम, वाहेरित भ्रमयन्ति ॥२॥”

“अह ण गमइ उह ण जाइ,

वेणि-रहिअ तसु निच्चल पाइ।

^१ तन्-जूर (त० २०।१०); स-स्वयं व्कं-बुम्, प ३६८ ख; फ १२८ क।

भणइ कहण मन कहबि न फुट्टइ,
निच्चल पवन धरिणि घर बत्तइ” ॥१३॥

“एक्क ण किज्जइ मन्त ण तन्त,
णिअ घरणि लइ केलि करन्त।
णिअधर धरिणी जाव ण मज्जइ,
ताव कि पंचवर्ण विहरिज्जइ ॥२८॥”

“जिमि लोण विलिज्जई पाणिएहि,
तिम घरणी लइ चित्त।
सम-रस जइ तक्खणे,
जइ पुणु ते सम णित्त ॥३२॥”

इनकी वज्रगीतिकाका नमूना देखिये—

“कोल्लअ^१ रे ठिअ बोल्ल, मुम्मणि रे कक्कोल ॥
घन किपीटह वज्जइ, करुणे किअइ णरोला।

^१ आजकल नेपालमें व्यवहृत चर्यागीत (च-चो)का पाठ इस प्रकार है—

“कोलायि रे थिय बोला, मुमुनिरे कंकोला।
घनकिया थीं होयि वज्जायि, करुणेकियायि न लोरा ॥ध्रु०॥
मलयजकुंदुरु वजायिले डिंडिम तहि ना वाजयि।
तहि भरु खाज गाध्या मय ना पीवयिययि ॥
हले कालिजर पंनययि दुंदुरु वजरययि।
चवु सम कस्तुरि सिल्हा, कर्पूर लावनययि ॥
गल या जइ धनसोलिजरे, तहि भरु खाज न यायी।
प्रेषु ह क्षेत्र करते सोधा सुद्ध न मूनयि।
निलमुह अंग चवावयि, तरि जस रा पनयायी” ॥१६॥

तहि पल खज्जइ, गाढ़ें मअ णा पिज्जइ ।
 हले कलिञ्जर पणिअइ, दुन्दुर वज्जिअइ ।
 चउसम कत्थुरि सिल्हा, कप्पुर लाइअइ ।
 मालइ घाण-सालि अइ, तहिं भलु खाइअइ ।
 पेंखण खेट करन्त, शुद्धाशुद्ध ण मणिअइ ।
 निरंशु अंग चडावि अइ, तहिं जस राव पणिअइ ।”
 मलअज्जे कुन्दुरु वापइ, डिण्डिम तहिन्न वज्जि अइ ॥

कण्हपाके कुछ गीत देखिये

राग पट मञ्जरी (११)

“नाडि शक्ति दिट धरिअ खट्टे,
 अनहा डमरु वाजए वीरनादे ॥
 काल्ल कापाली योगी पइठ अचारे,,
 देह नअरी विहरए एकारे ॥ध्रु०॥
 आलि कालि घण्टा नेउर चरणे,
 रवि-शशी-कुण्डल किउ आभरणे ॥ध्रु०॥
 राग-देश-मोह लाइअ छार,
 परम मोख लवए मुत्तिहार ॥ध्रु०॥
 मारिअ शासु नणन्द घरे शाली,
 माअ मारिआ काल्ल भइअ कबाली ॥ध्रु०॥

राग पटमञ्जरी (३६)

“मुण वाह तथता पहारी,
 मोहभण्डार लुइ सअला अहारी ॥ध्रु०॥
 घुमइ ण चेवइ सपरविभागा,
 सहज निदालु काल्लिला लाङ्गा ॥ध्रु०॥

चेअण ण वेअन भर निद गेला,
 सअल सुफल करि सुहे सुतेला ॥ध्रु०॥
 स्वपणे मइ देखिल तिभुवण सुण,
 घोरिअ अवणा गमण विहल ॥ध्रु०॥
 शाथि करिब जालन्धरि पात्र,
 पाखि ण राहअ मोरि पाण्डिआ चादे ॥ध्रु०॥”

१६ तन्तिपा (सिद्ध १३)—मालव-देशके अवन्तिनगर (उज्जैन)में कोरी (तन्तुवाय, तँतवा)के घर इनका जन्म हुआ था। घरमें रहते ही इनका मन सिद्धचर्याकी ओर लगा। जालन्धरपादका दर्शन कर उनके शिष्य हो गये। पीछे कण्हपासे भी उपदेश लिया। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ “चतुर्योगभावना” (त० ४८।५४) मिलता है, जो पुरानी मालवी या मगहीमें लिखा गया था। इनकी कोई कविता मूल भाषामें नहीं मिलती; किन्तु यदि “चर्यागीति”के “ढेण्ढनपाद”को तन्तिपाद मान लिया जाय; क्योंकि इस नामका कोई सिद्धाचार्य नहीं है, तो यह गीत उनका हो सकता है।

राग पटमञ्जरी (३३)

“ढालत मोर घर नाहि पड़वेषी।
 हाड़ीत भात नाँहि निति आवेशी ॥ध्रु०॥
 वेङ्गसंसार बड़हिल जाअ,
 दुहिल दुधु कि वेण्टे यामाय ॥
 बलद विआएल गविआ बाँझे।
 पिटा दुहिए ए तिना साँझे ॥
 जो सो बुधी सो धनि बुधी।
 जो षो चोर सोइ साधी ॥
 निते निते षिआला षिहे षम जुझअ,
 ढेण्ढण पाएर गीत बिरले बूझ अ ॥”

१७ मही (महिल)पा(सिद्ध ३७)—मगध-देशमें शूद्रकुलमें, इनका जन्म हुआ था। गृहस्थ होते भी इन्हें सत्संगकी बड़ी चाह थी। पीछे कण्हपाके शिष्य हो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ “वायुतत्त्वदोहा-गीतिका” (त० ८४।१०) मिलता है, जो पुरानी मगहीमे था। “चर्यागीति” में महीधरपादका एक गीत मिलता है, (यह महीपा और महीधरपाद एक ही मालूम होते हैं)।

राग भंरवी (१६)

“तिनि एँ पाटेँ लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ,
ता सुनि मार भयङ्कर रे सअ मण्डल सएल भाजइ ॥ध्रु०॥

मातेल चीअ-गअन्दा धावइ।

निरन्तर गअणन्त तुसेँ घोलइ ॥ध्रु०॥

पाप पुण्य वेणि तिड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भाठाणा,
गअण टाकलि लागिरे चित्ता पइठ णिवाना ॥ध्रु०॥

महारस पाने मातेल रे तिहुअन सएल उएखी,
पञ्च विषय रे नायकरे विपख को बी न देखी ॥ध्रु०॥

खररविकिरणसन्तापेरे गअणाङ्गण गइ पइठा,
भणन्ति महित्ता मइ एथु बुडन्ते किम्पि न दिठा ॥ध्रु०॥”

१८ भादेपा (सिद्ध ३२)—श्रावस्ती^१ में चित्रकार (ल्ह-ब्रिस्=देव-लेखक)-कुलमें इनका जन्म हुआ था। पीछे सिद्ध कण्हपाके शिष्य हुए। तन्-जूरमें इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता; किन्तु “चर्यागीति”में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (३५)

“एतकाल हाँउ अच्छिलेँ स्वमोहेँ।

एवेँ मइ बुझिल सदगुरुबोहेँ ॥ध्रु०॥

^१ सहेट-महेट (लि० गोंडा, युक्तप्रान्त)।

एवें चिअराअ मकुं ण ठा ।
 गण समुदे टलिआ पइठा ॥ध्रु०॥
 पेखमि दहदिह सव्वइ शून ।
 चिअ विहुन्ने पाप न पुण्ण ॥ध्रु०॥
 वाजुले दिल मोहकखु भणिआ,
 मइ अहारिल गअणत पणियाँ ॥ध्रु०॥
 भादे भणइ अभागे लइआ ।
 चिअराअ मइ अहार कएला” ॥ध्रु०॥

१९ कङ्कणपाद (सिद्ध ८९)—विष्णुनगर (?विहार) राजवंशमें इनका जन्म हुआ था। कंबलपाके परिवारके सिद्ध थे। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ “चर्यादोहाकोषगीतिका” (त० ४८।७) मिलता है। “चर्यागीति” में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (४४)

“सुने सुन मिलिआ जबे”,
 सअलधाम उइआ तबे ॥ध्रु०॥
 आच्छु हूँ चउखण संबोही,
 माअ निरोह अणुअर बोही ॥ध्रु०॥
 विदु-णाद णहिँ ए पइठा,
 अण चाहन्ते आण विणठा ॥ध्रु०॥
 जथाँ आइलेसि तथा जान,
 मासं, थाकी सअल विहाण ॥ध्रु०॥
 भणई कङ्कण कलएल सादे”,
 सव्वं विच्छरिल तधतानादे ॥ध्रु०॥

२० जयानन्त(जयनन्दी)पाद (सिद्ध ५८)—भंगल(भागलपुर) देशके राजाके मन्त्री थे। जन्म ब्राह्मण-वंशमें हुआ था। तन्-जूरमें जया-

नन्तके “तर्कमुद्गर-कारिका” (ल० २४।६) और “मध्यमकावतारटीका” (ल० २५), दो ग्रन्थ मिलते हैं; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि, यह कौन जयानन्त थे। इनके-गुरु-शिष्यके सम्बन्धमें भी नहीं मालूम हुआ है। “चर्यागीति”में इनकी यह गीति मिलती है—

राग शवरी (४६)

“पेखु सुअणे अदश जइसा,
अन्तराले मोह तइसा ॥ध्रु०॥
मोह-विमुक्का जइ माणा,
तबे तूटइ अवणा गमणा ॥ध्रु०॥
नौ वाटइ नौ तिमइ न चिछजइ,
पेख मोअ मोहे बलि बलि बासइ ॥ध्रु०॥
छाअ माआ काअ समाणा,
वेणि पाखे सोइ विणा ॥ध्रु०॥
चिअ तथतास्वभावे षोहिअ,
भणइ जअनन्दि फुडअण ण होइ ॥ध्रु०॥”

२१ तिलोपा (सिद्ध २२)—भगुनगर(?विहार)में इनका जन्म हुआ था। “स-स्वय-बक-बुम्” (ज, २४५ क)में इनको राजवंशिक कहा गया है। भिक्षु-नाम प्रज्ञाभद्र था; किन्तु सिद्धचर्यामें यह तिल कूटा करते थे; इसी लिये नाम तिलोपा पड़ गया। गुह्यपाके शिष्य और कण्हपाके प्रशिष्य विजयपाद (या अन्तरपाद) इनके गुरु थे। विक्रमशिलाके महापण्डित और सिद्धाचार्य नारोपा इनके प्रमुख शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही-हिन्दीमें थे—१ अन्तर्वाह्यविषय-निवृत्तिभावनाक्रम (त० ४८।८८)। २ करुणाभावनाधिष्ठान (त० ४८।५९)। ३ दोहाकोष (त० ४७।२२)। ४ महामुद्रोपदेश (त० ४७।२६)। “चर्यागीति” (पृष्ठ ६२)की टीका में इनका निम्नलिखित दोहा उद्धृत हुआ है, जो सम्भवतः इनके दोहाकोषका है—

“ससंवेअन तन्तफल, तिलोपाए भणन्ति ।

जो मण गोअर गोइया, सो परमथे न होन्ति ॥”

२२ नाड (नारो) पा (सिद्ध २०)—इनके पिता कश्मीरी ब्राह्मण थे और किसी कामसे मगधमें प्रवास करते थे। वही नाडपादका जन्म हुआ। भिक्षु होकर नालन्दा में पढ़ने लगे। असाधारण मेधावी होनेसे, सभी विद्याओंमें पराङ्गत हो, महाविद्वान् हो गये। पीछे विक्रमशिला-विहारमें पूर्व-द्वारके महापण्डित बनाये गये। इतना होनेपर भी यह पण्डिताईसे सन्तुष्ट न थे। अन्तमें सिद्ध तिलोपाके विष्णुनगरमें आनेकी खबर पाकर वहाँ गये और उनसे दीक्षा ली। शान्तिपाद (सि० १२), दीपङ्कर श्रीज्ञान आदिके यह गुरु थे। भोटका मर-वा^१लोचवा भी इन्हींका शिष्य था। नारोपाका देहान्त १०३९ ई० में हुआ था। तन्-जूरमें इनके तेईस ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—१ नाडपण्डितगीतिका (त० ४८।२६)। २ वच्चगीति (त० ४७।३०, ३१)। नाडपादके नामकी कोई मूल गीति नहीं मिलती, तो भी “चर्यागीति”में ताडकपादकी एक गीति मिलती है। यह ताडकपाद नाडकपाद ही मालूम होते हैं। नामका सादृश्य भी है और ताडक नामका कोई सिद्धाचार्य भी नहीं देखा जाता। गीतिका नमूना देखिये।

राग कामोद (३७)

“अपणे नाँहि सो काहेरि शङ्का,
ता महामुदेरी टूटि गेलि कथा ॥ध्रु०॥

अनुभव सहज मा भोलरे जोई,
चोकोट्टि विमुका जइसो तइसो होइ ॥ध्रु०॥

^१ तिब्बतके सर्वोत्तम कवि और सिद्ध जे-चुन् मि-ला रे-पा (दीक्षा १०७६ ई०; सिद्धिप्राप्ति १०९२ ई०; मृत्यु ११२२;) के यह गुरु थे, जिनको आज भी तिब्बतका बच्चा-बच्चा जानता और पूजता है।

जइसने अछिले स तइछन अच्छ।
 सहज पिथक जोइ भान्ति माहो वास ॥ध्रु०॥
 वाण्डकुरु सन्तारे जाणी।
 वाक्पथातीत काँहि बखाणी ॥ध्रु०॥
 भणइ ताड़क एथु नाहिँ अवकाश।
 जो बुझइ ता गलेँ गलपास ॥ध्रु०॥”

२३ शान्तिपा (रत्नाकरशान्ति) (सिद्ध १२)—मगधके एक शहर में, ब्राह्मणकुलमें, इनका जन्म हुआ था। पीछे उदन्तपुरी (बिहार-शरीफ) के बिहारमें सर्वास्तिवाद-सम्प्रदायमें प्रव्रजित हुए। श्रावक (हीनयान) त्रिपिटक तथा अन्यान्य ग्रन्थोंको समाप्त कर विक्रम-शिलामें महापण्डित जितारिके पास चले गये। वही सिद्ध नाडपादके भी सत्संगमे आये। विद्या समाप्त कर कुछ दिन सोमपुरी-बिहारके स्थविर (महन्त) रहे। फिर मालवा चले गये और उधर ही सात वर्षोंतक योगाभ्यासमें रहे। जिस वक्त यह लौटकर भंगल देशमें, विक्रम-शिला पहुँचे, उस समय सिंहलके राजदूतने अपने राजाका आग्रह-पूर्वक निमन्त्रण इनके सामने रखा। स्वीकृति देकर यह सिंहलकी ओर चल पड़े। रामेश्वरके पास इन्हें एक साथी मिला, जो पीछे सिद्ध होकर कुठालिपा (सि० ४४) के नामसे प्रसिद्ध हुआ। सिंहलमें जाकर इन्होंने ६ वर्ष धर्म-प्रचार किया। लौटकर घूमते-घामते जब विक्रम-शिला पहुँचे, तब महाराज महीपाल (९७४-१०२६)की प्रार्थना स्वीकार कर पूर्वद्वारके पण्डित बने। सिद्धोंमें ऐसा जबरदस्त पण्डित कोई नहीं हुआ। इन्हें “कलिकाल-सर्वज्ञ” भी कहा गया है। १०० वर्षसे अधिककी आयुमें इन्होंने शरीर छोड़ा। तन्-जूरमें दर्शन-विषयपर इनके नौसे अधिक ग्रन्थ है। इन्होंने छन्दःशास्त्र पर “छन्दोरत्नाकर” ग्रन्थ लिखा है। तन्त्रपर इनके २३ ग्रन्थ मिलते हैं। जिनमें सुख-दुःखद्वयपरित्यागदृष्टि (४८।३७) मगहीमें था। “चर्यागीति”में इनके निम्न दो गीत मिलते हैं

राग रामक्री (१५)

“सअ सम्ब्रेअण सरुअ विआरे”,
 ते अलक्खलक्खण न जाइ ।
 जे जे उजूवाटे गेला अनावाटा भइला सोई ॥ध्रु०॥
 कुले कुल मा होइरे मूढा उजूवाटे संसारा,
 वाल भिण एकु वाकु ण भूलह राजपथ कण्टारा ॥ध्रु०॥
 माआमोहासमुदारे अन्त न बुझसि थाहा,
 अगे नाव न भेला दीसअ भन्ति न पुच्छसि नाहा ॥ध्रु०॥
 सुनापान्तर उह न दिसइ भान्ति न वाससि जान्ते ।
 एषा अटमहासिद्धि सिज्झए उजूवाट जाअन्ते ॥ध्रु०॥
 बाम दाहिण दो वाटा च्छाडी,
 शान्ति बलथेउ संकेलिउ ।
 घाटनगुमाखइतडि नो होइ,
 आखि बुजिअ बाट जाइउ ॥ध्रु०॥”

राग शीवरी (२६)

“तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु,
 आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु ॥ध्रु०॥
 तउषे हेरुअ ण पाविअइ,
 सान्ति भणइ किण सभावि अइ ॥ध्रु०॥
 तुला धुणि धुणि सुने अहारिउ,
 पुन लइआँ अपना चटारिउ ॥ध्रु०॥
 बहल बट दुइ मार न दिशअ,
 शान्ति भणइ वालाग न पइसअ ॥ध्रु०॥
 काज न कारण जएहु जअति,
 सँएँ सँवेअण बोलथि सान्ति ॥ध्रु०॥”

अन्य सिद्धोंकी कुछ कविताएँ भी दी जा सकती थी; किन्तु विस्तार-भयसे उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है। भोटिया-ग्रन्थ-संग्रह तन्-जूरमें और भी बहुतसे भाषाकाव्यग्रन्थ अनुवादित हैं, जिनमें कुछको छोड़कर सभी मगही हिन्दीके हैं। इनमें कुछ ग्रन्थोंके अब भी दो देशोंसे मिलनेकी आशा है। एक तो नेपालसे, जहाँसे कि, महामहोपाध्याय स्व० पं० हर-प्रसाद शास्त्रीको बौद्ध-गान और दोहे मिले थे; और, दूसरे भोट (तिब्बत)से। सिद्धोंकी कितनी ही कविताएँ भोटके स-स्वयं-मठमें अनुवादित हुई थीं। यह मठ अबतक सुरक्षित है और आज भी इसके पुस्तकागारमें सैकड़ों तालपत्रकी पुस्तके राजकीय मुहरके अन्दर बन्द हैं। हो सकता है कि, किसी समय इस कोषके खुलनेपर कुछ ग्रन्थ मिल सकें। भोटमें और भी जहाँ-तहाँ कभी-कभी कोई-कोई पुराने भारतीय ग्रन्थ मिल जाते हैं। लेखक जिस समय तिब्बतमें था, उस समय टशील्हन्पोमें एक दूरके लामाने भारतीय लामा जान कर एक ताल-पोथी प्रदान की थी। पुस्तकका नाम “वज्रडाकतन्त्र” है और इसका अनुवाद भोटिया-कंजूरमें वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर)के कायस्थ पण्डित गयाधरने, ग्यारहवीं शताब्दीके मध्यमें, किया था। कई कारणोंसे मालूम होता है कि, यह अनुवादकी मूल प्रति है।

यहाँ तन्-जूरमें अनुवादित कुछ भाषा-काव्यों और उनके कर्ताओंकी सूची दी जाती है, जिससे हिन्दी-भाषा-भाषी समझेंगे कि, सिद्धोंने हिन्दीकी कितनी सेवा की है—

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें ^१
२४ अचिन्त	तीर्थिक चण्डालिका	त० ४८।६७
२५ अज्ञात कवि	गीतिका	त० ४८।२०, २३, २४

^१ यह पता Cordier के सूचीपत्रकी दूसरी-तीसरी जिल्दोंके तन्त्र-टीका-विभागका है।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
	डाकिनीतनुगीति	त० ४८।१११
	योगिनीप्रसरगीतिका	त० ४८।३२
	वज्रगीति	त० ४७।३२
	„	त० ८५-२०
	„ सिद्धयोगि-	त० ४८।१०९
२६ ^१ अद्वयवज्र (मैत्रीपा)	अबोध-बोधक	त० ४७।३९
	गुरुमैत्रीगीतिका	त० ४८।१३
	चतुर्मुद्रोपदेश	त० ४७।३७
	चित्तमात्रदृष्टि	त० ४८।४५
	दोहानिधितत्त्वोपदेश	त० ४६।३३
	वज्रगीतिका । चतुर्-	त० ४८।१२
२७ अयो(अजो) गिपा (सिद्ध २६) ^२ चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान	वायुस्थान-रोग-	त० ४८।६१
	परीक्षण	त० ४८।८१
	विषनिर्वहण-	
	भावनाक्रम	त० ४८।९५
२८ इन्द्रभूतिपा (सि० ४२)	तत्त्वाष्टक-दृष्टि	त० ४८।४२

^१ इनका नाम अवधूतीपा भी है; यह दीपंकर श्रीज्ञान (जन्म ई० ९८२-१०५४ मृ०) के गुरु थे।

^२ तिब्बती ग्रन्थोंमें अनुवाद-ग्रन्थकी मूल भाषाके लिये सिर्फ भारतीय भाषा लिखा रहता है, संस्कृत और भाषाका फर्क नहीं दिया जाता। दोहा, गीति, वृष्टिशब्दोंवाले नाम तो भाषा-ग्रन्थोंके हैं; किन्तु यहाँ उन ग्रन्थोंको भी भाषामें गिना गया है, जो कि, भाषा-ग्रन्थोंके वेष्टन (४८, ४७)में हैं या सिद्धोंसे सम्बन्ध रखते हैं।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
२९ कङ्कालमेखला (सि० ६६।६७)	सनातना- वर्तत्रयमुखागम	त० ४८।८९
३० कङ्कालिपाद (सि० ७)	सहजानन्तस्वभाव	त० ४८।९०
३१ कमरिपा (सि० ४५)	सोमसूर्यबन्धनोपाय	त० ४८।७१
३२ किलपाद (सि० ७३)	दोहाचर्यागी- तिकादृष्टि	त० ४८।३५
३३ कुट्टालिपाद (सि० ४४)	अचिन्त्यक्रमोपदेश चित्ततत्त्वोपदेश	त० ४६।१३ त० ४८।८२
	सर्वदेवतानिष्पन्न- क्रममार्ग	त० ४८।७०
३४ कुरुकुल्ला (?)	महामुद्राभिगीति	त० ४८।९९
३५ केरलिपा	तत्त्वसिद्धि	त० ४७।३; ८५।१५
३६ कोकलिपा (सि० ८०)	आयुः परीक्षा	त० ४८।९४
३७ गयाधर (कायस्थ पण्डित)	ज्ञानोदयोपदेश	त० १३।६५
३८ गोरक्षपा (सि० ९)	वायुतत्त्वभावनोपदेश	त० ४८।५१
३९ घंटापा (सि० ५२)	आलिकालिमन्त्रज्ञान	त० ४८।७८
४० चमरिपा (सि० १४)	प्रज्ञोपायविनिश्चय- समुदय	त० ४८।५५
४१ चम्पकपा (सि० ६०)	आत्मपरिज्ञानदृष्ट- युपदेश	त० ४८।८६
४२ चर्पटीपा (सि० ५९)	चतुर्भूतभवाभि- वासनक्रम	त० ४८।८५
४३ चेलुकपाद (सि० ५४)	षडङ्गयोगोपदेश	त० ४।२१
४४ चोरंगीपा (सि० १०)	वायुतत्त्वभाव- नोपदेश	त० ४८।५२

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
४५ छत्रपा (सि० २३)	शून्यताकरुणादृष्टि	त० ४८।४०
४६ जगन्मित्रानन्द (मित्रयोगी) ^१	पदरत्नमाला	त० ८४।९
	बन्धविमुक्त्युपदेश	त० ४८।१२६
	योगिस्वचिन्तनग्रन्थि	त० ४८।१२८
	विमोचकोपदेश	
४७ थगनपा (सि० १९)	दोहाकोपतत्त्व-	
	गीतिका	त० ४८।६
४८ दीपङ्कर श्रीज्ञान ^२	चर्यागति	त० १३।४४
	धर्मगीतिका	त० ४८।३४
	धर्मधातुदर्शनगीति	त० ४७।४७
	वज्रासनवज्रगीति	त० १३।४२
४९ दृष्टिज्ञान (?)	गीतिका	त० ४८।१९
	वज्रगीतिका	त० ४८।१८
५० दोखधिपा (सि० २५)	चतुरक्षरोपदेश	त० ८२।१७
	महायानावतार	त० ४८।६०
५१ धर्मपा (सि० ३६)	कालिभावनामार्ग	त० ४८।७९
	सुगनदृष्टिगीतिका	त० ४८।९
	हुकारचित्तत्रिन्दु-	
	भावनाक्रम	त० ४८।७४

^१ गहड़वार महाराज जयचन्द्रके गुरु थे। देखिये अन्यत्र “मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध”।

^२ वैशाली(बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर)के रहनेवाले तथा अवधूति-पाके शिष्य थे। दीपङ्करके कालमें यह भी भोट गये और वहाँ बहुतसे ग्रन्थोंका भोटिया-भाषामें अनुवाद कर कई वर्षों बाद तीन सौ तोला सोनेकी बिदाईके साथ भारत लौटे थे!

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
५२	घहुलि(=दजड़ि)पा [सि० ४०] शोकदृष्टि	त० ४८।४४
५३	धेतन चित्तरत्नदृष्टि ।	त० ४८।४१
५४	धोकरिपा (सि० ४९) प्रकृति-सिद्धि	त० ४८।७५
५५	नलिनपाद (सि० ४०) धानुवाद	त० ४८।६८
५६	नागबोधि (सि० ७६) आदियोगभावना	त० ४८।९१
५७	नागार्जुन (सि० १६) नागार्जुनगीतिका स्वसिध्युपदेश	त० ४८।३३ त० ४८।५६
५८	निर्गुणपा (सि० ५७) शरीरनाडिका-विन्दुसमता	त० ४८।४
५९	निष्कलंकवज्र बन्धविमुक्तिशास्त्र ^१	त० ४८।१२३
६०	नीलकण्ठ अद्वयनाडिकाभावनाक्रम	त० ४८।९६
६१	पङ्कज (सि० ५१) अनुत्तरसर्वशुद्धिक्रम स्थानमार्गफलमहामुद्राभावना	त० ४८।७७ त० ४८।६९
६२	पनहपा (सि० ७९) चर्यादृष्टानुत्पन्नतत्त्वभावना	त० ४८।९६
६३	परमस्वामी (नृसिंह) ^२ दोहाचित्तगुह्य महामुद्रारत्नाभिगीत्युपदेश वज्रडाकिनीगीति सकलसिद्धवज्रगीति	त० ४८।७३ त० ४८।१०५ त० ४८।१० त० ४८।११३
६४	पुनलीपा (सि० ७८) बोधिचित्तवायुच- रणभावनोपाय	त० ४८।९२

^१ भारतीय ग्रन्थोंका भोटिया-अनुवाद पण्डित और लोचवा (= भोटिया दुभाषिया) मिलकर किया करते थे। इस ग्रन्थके अनुवादमें पण्डित जगन्मित्रानन्द थे।

^२ यह भारतीय सिद्ध पण्डित थे। १०९१ ई० में भोट, ११०० ई० में चीन, १११२ ई० में अन्तिम बार भोटमें गये। भोटियामें इन्हें फा-दम्-पा (=सत्यता) भी कहते हैं। इनका देहान्त १११७ ई० में हुआ।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
६५ महासुखतावज्र (शान्तिगुप्त)	महासुखतागीतिका ^१ योगगीता	त० ४८।३१ त० ८६।८९
६६ मेकोपा (सि० ४३)	चित्तचैतन्यशमनोपाय	त० ४८।६९
६७ मेदिनीपा (सि० ५०)	सहजाम्नाय	त० ४८।७६
६८ राहुलभद्र (सि० ४७)	अचिन्त्यपरिभावना	त० ४८।७३
६९ ललित (वज्र)	महामुद्रारत्नगीति	त० ४८।११२
७० लीलावज्र (सि० २)	विकल्पपरिहारगीति	त० ४८।३
७१ लुचिकपा (सि० ५६)	चण्डालिकाविन्दुप्रस्फुरण	त० ४८।८३
७२ वज्रपाणि ^२	वज्रपद	त० ४६।४१
७३ वैरोचनवज्र	वीरवैरोचनगीतिका	त० ४८।२५
७४ शाक्यश्रीभद्र ^३	चित्तरत्न-विशोधन-मार्गफल	त० ४८।१२५

^१ इसका अनुवाद गुजरातके पण्डित पूर्णवज्र और लामा तारानाथने मिलकर किया। ग्रन्थकर्ता शान्तिगुप्त हुमायूँ और अकबरके समकालीन थे। इनका जन्म दक्षिण-देशके जलमण्डल (?) देशमें हुआ था।—“रत्नाकरजोपमकथा”।

^२ दीपङ्कर श्रीज्ञानके पीछे (१०६५ ई० में) यह तिब्बत गये और वहाँ बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद किया।

^३ शाक्यश्रीभद्र (जन्म ११२६ ई०) विक्रम-शिलाके अन्तिम प्रधान स्थविर थे। महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा विक्रमशिलाके नष्ट किये जानेपर यह जगत्तला चले गये और वहीं तीन वर्ष रहे। वहाँसे विचरते नेपाल गये। वहाँसे ख्यो-लोचवा (१२०३ ई० में) इन्हें तिब्बत ले गया। स-स्वय-बिहारका लामा इनका भिक्षु-शिष्य बना। बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद एवं धर्म-प्रचार कर सन् १२१२ ई० में यह अपनी जन्मभूमि कश्मीर लौट गये। वहाँ १२२४ ई० में इनका देहान्त हुआ।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूरमें
	वज्रपदगर्भसंग्रह	त० ५१३
	विशुद्धदर्शनचर्योपदेश	त० ४८११२४
७५ श्रृगालपाद (सि० २७ ?)	रत्नमाला	त० ४८१५८
७६ सर्वभक्ष (सि० ७५)	करुणाचर्याकपालदृष्टि	त० ४८१४६
७७ संवरभद्र	वज्रगीताववाद	त० ४४१२१
७८ सहजयोगिनीचिन्ता	व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि	त० ४६१७
७९ सागर (सि० ७४)	आलिकालिमहायोगभावना	त० ४८१८०
८० समुद्र (सि० ८३)	सूक्ष्मयोग	त० ४८१९७
८१ सुखवज्र	मूलप्रकृतिस्थभावना	त० ४७१३६

(११)

बौद्ध नैयायिक

(१) मंथिल नैयायिक

न्याय-शास्त्र और वाद-विवादमें बहुत सम्बन्ध है। यदि बौद्ध, ब्राह्मण तथा दूसरे सम्प्रदायोंका पूर्वकालमें आपसका वह विचार-संघर्ष और शास्त्रार्थ न होता रहता, तो भारतीय न्यायशास्त्रमें इतनी उन्नति न हुई होती। वाद या विचारोंके शाब्दिक संघर्षकी प्रथाके आरम्भ होते ही वादी-प्रति-वादीके भाषण आदिके नियम बनने लगते हैं। भारत में ऐसे शास्त्रोंका उल्लेख हम सर्वप्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थोंके उपनिषद्-भागमें पाते हैं।

वेदका सहिताभाग मंत्र और ऋचाओंके रूपमें होनेसे, वहाँ भिन्न-भिन्न ऋषियोंके विवादोंका वैसा उल्लेख नहीं हो सकता, तोभी वशिष्ठ और विश्वामित्रका आरम्भिक विवाद ही इसका कारण हो सकता है, जो कि वशिष्ठके वंशज, विश्वामित्र और उनकी संतानके बनाए ऋग्वेद के भागको पढ़ना निषिद्ध समझने थे और वही वान विश्वामित्रके वंशज वशिष्ठ-से सम्बन्ध रखने वाले मंत्र-भागके साथ करते थे। ये बतलाते हैं कि, मंत्र-काल और उसकी क्रीडा-भूमि सप्त-सिन्धु(पंजाब)में भी किसी प्रकारके वाद हुआ करते होंगे। उन वादोंमें भी कुछ नियम बतते जाते होंगे और उन्हीं नियमोंको भारतीय न्याय या तर्क शास्त्रका बीज कह सकते हैं।

तब कितनी ही शताब्दियों तक आर्य लोगोमें यज्ञ और कर्मकाण्डोंकी प्रधानता रही, युक्ति और तर्ककी श्रुतिके सामने उतनी चलती न थी। उस समय भी कुछ लोग स्वतन्त्र विचार रखने थे और उनका कर्मकाण्डियों-

के साथ विचार-संघर्ष होता था, इसी विचार-संघर्षका मुख्य फल हम उपनिषद्के रूपमें पाते हैं। उपनिषद्-कालमें तो नियमानुसार परिषदें थीं, जहाँ बड़े बड़े विद्वान् विवाद करते थे। इन परिषदोंके स्थापक राजा होते थे, और बादमें विजय पानेवालेको उनकी ओरसे उपहार भी मिलता था। विदेहों (तिर्हुत)की परिषद्में इसी प्रकार याज्ञवल्क्यको हम विजयी होते हुए पाते हैं और जनक उन्हें हजार गौवें प्रदान करते हैं।

सप्तसिन्धुसे इस वादप्रथाको तिर्हुत तक पहुँचनेमें उसे पंचाल (अन्तर्वेद और रूहेलखंड) और फिर काशी देश (बनारस, जौनपुर, मिर्जापुर, आजमगढ़के जिले)से होकर आना पड़ा था। इस प्रकार प्राचीन ढँगकी तर्क-प्रणाली सबसे पीछे तिर्हुतमें पहुँचती है। (यद्यपि आज कल मिथिला को तिर्हुतका पर्यायवाची शब्द मानते हैं, जैसे कि काशीका बनारसको, किन्तु प्राचीन समयमें 'मिथिला' एक नगरी थी, जो विदेह देशकी राजधानी थी। उसी तरह काशी देशका नाम था, नगरका नहीं; नगर तो वाराणसी थी, जिसका ही विगड़ा रूप बनारस है।)

यद्यपि तिर्हुतमें वादप्रथा वैदिक युगके अन्तमें (६०० ईसा पूर्वके आसपास) पहुँची, किन्तु आगे कुछ परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुईं कि भारतीय न्यायशास्त्रके निर्माणमें तिर्हुतने प्रधान भाग लिया। वस्तुतः, बौद्ध न्यायशास्त्रके जन्म एवं विकासकी भूमि यदि मगध है, तो ब्राह्मण-न्यायके बारेमें वही श्रेय तिर्हुतको प्राप्त है।

अक्षपाद, वात्स्यायन, और उद्योतकरकी जन्म-भूमि और कार्यभूमि तिर्हुत थी, यद्यपि इसका कोई इतना पुष्ट-प्रमाण नहीं मिलता। वेद तथा उसकी मान्यताओं पर प्रचण्ड प्रहार करनेमें मगध प्रधान केन्द्र था; साथ ही जब उपनिषद्के तत्त्वज्ञानकी अन्तिम निर्माणभूमि विदेहके होने पर भी स्थाल करते हैं; तो यह बात स्पष्ट सी जान पड़ने लगती है कि ब्राह्मण न्याय-शास्त्रकी जन्मभूमि गंगाके उत्तर तरफ तिर्हुत ही होना चाहिये।

“वादन्याय”की टीकामें आचार्य शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०)ने अबिद्धकर्ण, प्रीतिचंद दो नैयायिकोके नाम उद्धृत किए हैं। जिनमें प्रथमने वात्स्यायनभाष्य पर टीका लिखी थी। ये दोनों ही ग्रंथकार वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)से पहलेके हैं किन्तु उद्योतकर भारद्वाजसे पहलेके नहीं जान पड़ते। इनकी जन्म-भूमि के बारेमें भी हम निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कह सकते, किन्तु प्रतिद्वंदिता-केन्द्र नालंदा होनेसे बहुत कुछ सम्भावना उनके तिहुंतके ही होनेकी होती है।

त्रिलोचन और वाचस्पति मिश्रके बाद तो ब्राह्मण-न्यायशास्त्र पर तिहुंतका एकछत्र राज्य हो जाता है। वह उदयन और बर्द्धमान जैसे प्राचीन न्यायके आचार्यों को पैदा करता है, और गङ्गेश उपाध्यायके रूपमें तो उस नव्य-न्यायकी सृष्टि करता है, जो आगे चल कर इतना विद्वत्प्रिय हो जाता है कि प्राचीन न्याय शास्त्रकी पठन-पाठन-प्रणालीको ही एक तरहसे उठा देता है। यद्यपि नव्य-न्यायके विकासमें नवद्वीप (बंगाल)का भी हाथ है, तोभी हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)के बादसे मिथिला (देशके अर्थमें) न्याय-शास्त्र (प्राचीन और नव्य दोनों ही)का केन्द्र बन जाती है, और हर एक कालमें भारतके श्रेष्ठ नैयायिक बननेका सीभाग्य किसी मैथिल हीको मिलता है।

(२) बौद्ध नैयायिक

ब्राह्मण न्याय-शास्त्रके बारेमें इतने संक्षिप्त कथनके बाद हम अब अपने मुख्य विषय “बौद्ध-नैयायिक” पर आते हैं। बौद्ध धर्मके संस्थापक गौतम बुद्धका जन्म ईसापूर्व ५६३ सन्में, और निर्वाण ४८३में हुआ था। बुद्धके उपदेशोंके संग्रहको ‘त्रिपिटक’ कहा जाता है। यह पाली भाषामें अब भी मिलते हैं। यह विशाल साहित्य अप्रत्यक्षरूपेण ईसा पूर्व पाँचवीं छठी (कुछ स्थानों पर तीसरी तक) शताब्दीके उत्तर भारतके परिचय में अनमोल सहायता प्रदान करता है।

इनके देखनेसे मालूम होता है, कि उस समय 'तक्की' (तार्किक) "बी-मंसी" (मीमांसक) लोगोका बड़ा जोर था। विचार-स्वातंत्र्य उस काल की एक बड़ी विशेषता थी। हर एक पुरुष अपने विचारोको खुले-तौरसे प्रचार कर सकता था। न उसमें राज्यकी ओरसे कोई बाधा थी और न समाज कोई रुकावट डालता था। परलोक मानने वाले ईश्वर-अनीश्वर-वादी ही नहीं, जड़वादी (उच्छेदवादी, देहके अंतके साथ जीवनका अन्त मानने वाले) तक भी अपने मतका प्रचार करते, राजा-प्रजामें खूब सम्मानित होते थे। यही नहीं पायासी^१ जैमे कोसलके सामन्त राजाको तो अपने जड़वादको छोड़नेमें लोक-लज्जाका भय खाने भी पाते हैं। बुद्धके समकालीन ६ आचार्योंमें मक्खली गोसाल इसी मतके मानने वाले थे। शात्रार्थकी प्रथा तो उस समय इननी ज़रूरदस्त थी कि पुरुषोकी तो बात ही क्या, स्त्रियाँ तक जम्बूद्वीपमें अपनी प्रतिभाकी विजय-ध्वजा फहरानी-सी जम्बू-वृक्षकी शाखा लिये शास्त्रार्थ करनेके वास्ते देशमें विचरण किया करती थी। 'त्रिपिटक'में कितने ही ऐमे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें बुद्धसे वाद करनेकी घटनाओंका उल्लेख है।

कितने ही सिंहनाद सूत्र तो इन्हीं वादोंमें सम्बन्ध रखते हैं। वहीं पहले-पहल हमें निग्रह-स्थानकी झलक मिलती है और यद्यपि पीछे बौद्ध नैयायिक (दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि) पंचावयव वाक्यको न मान प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण-नीन ही अवयवोंको मानते हैं, किन्तु सूत्रपिटक (त्रिपिटकका एक भाग)में हम कमसे कम उपनयका साफ प्रयोग देखते हैं। इस प्रकार ईसा-पूर्व छठी शताब्दीमें चतुरवयव और निग्रहस्थानमें हम बौद्धन्यायका आरम्भ होते देखते हैं। ईसापूर्व तीसरी शताब्दीका ग्रन्थ 'कथावन्थु' (अभिधर्मपिटक) उमी प्राचीन गौलीका एक वाद ग्रन्थ है। उसके वाद "मिलिन्द-प्रश्न"मेंभी न्यायके कुछ पारिभाषिक शब्दोंका उल्लेख आता है और नीतिके

^१ दीघनिकाय, पायासिसुत्त ।

नामसे न्यायका भी नाम आता है। 'मिलिन्दप्रश्न'का मूल रूप चाहे सागल (स्यालकोट)के यवन राजा मिनान्दरके समय (ई० पू० दूसरी शताब्दी)में आरम्भ हुआ हो, किन्तु जिम रूपमें वह हमे मिलता है, उसमे वह ईस्वी पहिली दूसरी शताब्दीमें परिवर्द्धित हुआ मालूम होता है। ईस्वी चौथी शताब्दीमें चीन-भाषामे उसका अनुवाद होनेमे वह उसमे पीछे नहीं लाया जा सकता।

ईसाकी पहली शताब्दीमें हम कनिष्कके समकालीन मार्केतक (अयोध्या-जन्मा) आर्य सुवर्णाक्षीपुत्र भदन्त अश्वघोषके रूपमें एक अद्भुत प्रतिभाशाली बौद्ध विद्वान्को पाते हैं। अश्वघोषके बुद्धचरित और कुछ टीकाओमे तथा कुछ छोटे-छोटे अन्य ग्रन्थ तिब्बती और चीनी भाषामें अनुवादित हुए मिलते हैं। किन्तु उनके सारे ग्रन्थोंको अनुवाद होनेकी वान तो अलग, हमें उनके बहुतसे ग्रन्थोका नाम भी नहीं मालूम है। मध्यएशियाकी बालुका भूमिसे ईस्वी दूसरी शताब्दीका लिखा अश्वघोषका 'सारिपुत्रप्रकरण' नाटक मिला है। 'सौन्दरानन्द' काव्यका चीनी या तिब्बती भाषामे अनुवाद नहीं हुआ था, किन्तु सौभाग्यसे वह हमे संस्कृतमे मिल गया। वादन्यायकी टीकामें आचार्य शातरक्षितने अश्वघोषकी एक दूसरी कृति 'राष्ट्रपाल नाटक'का जिक्र किया था। अश्वघोष महान् कविही न थे, बल्कि बौद्ध-दर्शनकी अपूर्वताने उन्हें ब्राह्मणधर्मसे बौद्धधर्मकी ओर खींचा था। उनके ग्रन्थोंमे यद्यपि न्यायपर कोई नहीं मिला है, किन्तु उनमे अन्य सांख्य आदि दर्शनोंका नाम ही नहीं, बल्कि विवाद रोपा गया है और उससे अनुमान होता है, कि अश्वघोषने कोई खडनात्मक दर्शन-ग्रंथ जरूर लिखा होगा। ईसाकं. दूसरी शताब्दीके अक्षपादके न्याय सूत्रोमे हम आत्मा, शब्द प्रमाण, सामान्य, अवयवी आदि पर बौद्धोकी ओरसे किये आक्षेपोका उत्तर दिया जाते देखते हैं, उसमे भी उसके पहले किसी ऐसे बौद्ध आचार्यका होना जरूरी मालूम होता है।

नागार्जुन

बौद्ध न्यायपर सबसे पुराने जो ग्रन्थ मिलते हैं, नागार्जुनके ही हैं। नागार्जुनका जन्म वरार (विदर्भ)में हुआ था, किन्तु वह अधिकतर आन्ध्र-देशके धान्यकटक और श्रीपर्वत स्थानोंमें रहते थे। वह बौद्धोंके माध्यमिक दर्शन (शून्यता या सापेक्षतावाद)के आचार्य थे। उनके तीन छोटे-छोटे न्याय निबन्ध अब चीनी भाषाहीमें मिलते हैं, जिनमेंसे एक विग्रहव्यावर्त्तनी तिब्बत से मुझे मिला। वात्स्यायन-भाष्यमें कितनी ही जगहोंपर हम स्पष्ट बौद्धोंके आक्षेपोंके खंडन पाते हैं। वात्स्यायनके पूर्व किस बौद्धने ये आक्षेप किये होंगे? नागार्जुनके उक्त ग्रन्थके देखने से स्पष्ट मालूम होता, कि प्रमाण स्थापना प्रकरणमें वात्स्यायनने जिस ग्रन्थ का खंडन किया है, वह नागार्जुन ही हैं। सिर्फ न्याय या प्रमाण शास्त्र पर विस्तृत ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य दिङ्नाग हैं इसीलिये उन्हें मध्यकालीन भारतीय तर्कशास्त्रका पिता कहा जाता है। जैसे, गंगेशोपाध्यायकी तत्त्वचिन्तामणि न्यायशास्त्रमें एक नये युगका आरंभ करती है, जो कि अब तक चला जा रहा है, उसी प्रकार दिङ्नागका “प्रमाणसमुच्चय” एक नया युग आरंभ करता है, जो कि गंगेशके काल (१२०० ई०) तक रहता है।

वसुबन्धु

नागार्जुनके बादकी डेढ़ शताब्दियोंमें भी बौद्ध नैयायिक हुये होंगे, किन्तु उनकी कृतियोंका हमें कोई पता नहीं। अन्तमें हम वसुबन्धु (४०० ई०)को “वादविधि” या “वादविधान” लिखते पाते हैं। यह ग्रंथ अब तक न संस्कृतहीमें मिला है, और न इसका चीनी या तिब्बती भाषाओंमें ही अनुवाद हुआ था। किन्तु इस ग्रंथका नाम धर्मकीर्ति (६०० ई०)के ‘वादन्याय’ ग्रन्थ में मिलता है। “वादन्यायः परहितरतैरेष सद्भिः प्रणीतः” पर व्याख्या करते शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०)ने लिखा है—“अयं वादन्यायमार्गः सकललोकानिबन्धनबन्धुना वादविधानादी आर्यवसुबन्धुना

महाराजपथीकृतः। क्षुण्णश्च तदनुमहत्यां न्यायपरीक्षायां कुमतिमतमत्त मातङ्ग-शिरःपीठपाटनपट्टभिराचार्यदिङ्गनागपादैः।” इस वाक्यसे मालूम होता है, कि वसुबन्धुने न्यायशास्त्र पर वादविधान नामक ग्रंथ लिखा था। न्यायवार्तिककार^१ उद्योतकर भारद्वाजने भी कितनी ही जगहोंपर इस ग्रन्थ-का नामोल्लेख किया है, और कितनी ही जगहों पर विना नाम दिये भी खण्डन किया है, किन्तु वहाँ व्याख्या करते वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)ने नाम दिया है—

“यद्यपि वादविधौ साध्याभिधानं प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञालक्षणमुक्तं, तदप्युभयथा दोषान्न युक्तम्।”

“यद्यपि वादविधानटीकायां साधयतीति शब्दस्य स्वयंपरेण च तुल्यत्वात् स्वयमिति विशेषणम्।”

(न्या० वा० पृ० ११७)

पिछले उदाहरणमें ‘वादविधान’ नाम समानार्थक होनेसे वह ‘वादविधि’के लिये ही प्रयुक्त हुआ मालूम होता है। वाद विधानकी जिस टीका-का यहाँ जिक्र आया है, उसके रचयिता शायद दिङ्गनाग थे। क्योंकि दिङ्गनाग वसुबन्धुके शिष्य थे। और हो सकता है, जिसे शान्तरक्षितने, ऊपरके जिस उद्धरणमें “तदनु महत्यां न्यायपरीक्षायां” लिखा है, वह न्याय-परीक्षा वसुबन्धुके वादविधानकी टीका हो अथवा उसीका कोई पोषक ग्रन्थ हो।

न्यायवार्तिकके निम्न उद्धरणोंमें यद्यपि वादविधिका नाम नहीं आया है, किन्तु वे वसुबन्धुके इसी प्रसिद्ध ग्रन्थके मालूम होते हैं।

“अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति।”

(पृ० ४०)

इस पर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्रने लिखा है—

^१ बौद्धभासंस्कृतसीरीज, बनारस १९१६ ई०।

“तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थं वासुबन्धवं तत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितु-
मुपन्यस्यति । अपरे पुनरिति ।”

“एतेन साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष इति प्रत्युक्तम् ।”

(न्याय वा० ११६)

इस पर वाचस्पति कहते हैं।

“अत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे विरुद्धार्यनिराकृतग्रहण न कर्तव्यम् ।”

(ता० टी० पृ० २७३)

एक जगह उद्योतकरने वसुबन्धुके वादलक्षणको इस प्रकार उद्धृत
किया है—

“अपरे तु स्वपरपक्षयोः सिद्धयमिद्वयर्थं वचनं वाद इति वादलक्षणं
वर्णयन्ति ।”

(न्या० वा० १५०)

यहां पर टीका^१ करते वाचस्पतिने पूर्वपक्षीका नाम वसुबन्धु दिया
है—

“तदेवं स्वाभिमतवादलक्षणं व्याख्याय वामुबन्धवं लक्षणं दूषयितुमु-
पन्यस्यति । अपरे त्विति ।”

(ता० टी० ३१७)

इन उद्धरणोंसे यह भी मालूम होता है कि वसुबन्धुने अपने ग्रन्थमें
प्रत्यक्ष आदिके लक्षण भी लिखे थे और वह धर्मकीतिके वादन्यायकी भाँति
सिर्फ निग्रहस्थान ही पर नहीं था।

वसुबन्धुके एक ग्रन्थ तर्कशास्त्रको चीनी भाषामें परमार्थ (५५०
ई०)ने अनुवाद किया था। तर्कशास्त्र ग्रन्थका नाम न हो, कर विषय
मालूम होता है।

^१ न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका, “चीखम्भासंस्कृत सीरीज”, बनारस
(१९२५ ई०)।

वसुबन्धुके समयके बारेमें बहुत मतभेद हैं, किन्तु ही पंडित उन्हें तीसरी शताब्दीमें ले जाना चाहते हैं और जापानके विद्वान् डा० तकाकुसू ५०० ई०में लाना चाहते हैं। डा० तकाकुसूने वसुबन्धुका समय निर्धारण करनेमें बहुत परिश्रम किया है, किन्तु उनके समयके माननेमें बहुतमी कठिनाइयाँ दीख पड़ती हैं। (१) वसुबन्धुके ज्येष्ठ सहोदर अमंगके ग्रन्थोंका धर्म-रक्षाने चीनी भाषामें अनुवाद किया था। धर्मरक्षा ४०० ई०में चीनमें थे। (२) वसुबन्धुके शिष्य दिङ्गनागका नाम कालिदास ने "मेघदूत"के प्रसिद्ध श्लोक 'दिङ्गनागानां पथि परिहरन्'में किया है। वहाँ 'दिङ्गनागानां'से बौद्ध विद्वान् दिङ्गनागमें ही अभिप्राय है, इसकी पुष्टि मल्लिनाथकी टीका ही नहीं करती; बल्कि प्राचीन टीकाकार दक्षिणावर्त्तनाथ भी करते हैं। कुमारगुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०)के समकालीन कालिदासमें पूर्व दिङ्गनागका होना माननेपर वसुबन्धुका समय ४०० ई० के पास हो सकता है।

(३) चीनी भाषामें अनुवादित परमार्थ-कृत वसुबन्धुकी जीवनीमें वसुबन्धुको अयोध्याके राजाका गुरु कहा है। उधर वसुबन्धुके नामसे उद्धृत एक श्लोक "सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा" को मिलानेपर जान पड़ता है कि वसुबन्धु चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१२) के समकालीन थे।

(४) ३१९ ई० में ४९५ ई० तकका गुप्त काल उत्तरी भारतमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण समय है। इस समयकी पत्थर की मूर्तियाँ भारतीय मूर्ति-कालके अत्यन्त सुन्दर नमूने समझी जाती हैं। अजन्ता और वाग् के कितने ही इस कालके चित्र उस समयकी चित्रकलाको उन्नतिके शिखर पर पहुँचा प्रदर्शित करते हैं। समुद्रगुप्त (३४०-३७५ ई०)के प्रयाग वाले अशोक स्तम्भपर खुदे श्लोक संगीत और काव्यके कौशलकी सूचना ही नहीं देते हैं, बल्कि कविकुलगुरु कालिदासकी कविताएँ बतलाती हैं कि वह संस्कृत-कविताका मध्याह्न काल था। समुद्रगुप्त (३४०-७५ ई०)

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०-४१५ ई०) कुमारगुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०) जैसे पराक्रमी शासकोंको लगातार चार पीढ़ियों तक पैदा करते रहना भी उस कालकी खास महत्ताहीको प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि यह भी बतलाता है, कि उस कालमें राष्ट्रीय प्रगति सर्वतो-मुखीन थी। ऐसे समयमें दर्शन क्षेत्रमें भी कितनी ही नई विभूतियाँ जरूर हुई होंगी और वसुवन्धु और दिङ्नागको हम इन्हीं विभूतियोंमें समझते हैं। इस तरहसे भी वसुवन्धुका समय ४०० ई० ठीक जँचता है।

दिङ्नाग

दिङ्नाग (४२५ ई०) वसुवन्धुके शिष्य थे, यह तिब्बतकी परम्परासे मालूम होता है। और तिब्बतमें इस सम्बन्धकी यह परम्परायें आठवीं शताब्दीमें भारतसे गई थी, इसलिये इन्हे भारतीय परम्परा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीनकी परम्परामें दिङ्नागको वसुवन्धुका शिष्य होना नहीं लिखा है, तोभी वहाँ इसके विरुद्ध भी कुछ नहीं पाया जाता। दिङ्नागका काल वसुवन्धु और कालिदामके बीचमें हो सकता है, और इस प्रकार उन्हे ४२५ ई० के आम पास माना जा सकता है। दिङ्नागका मुख्य ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय है, जो सिर्फ तिब्बती भाषाहीमें मिलता है। उसी भाषामें प्रमाणसमुच्चयपर महावैयाकरणकाशिकात्रिवरणपञ्जिका (न्यास) के कर्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०)की टीका भी अनूदित मिलती है। दिङ्नाग भारतके अद्भुत प्रतिभाशाली नैयायिकोंमें थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं।

चीनी परम्परासे मालूम होता है, कि शङ्कर स्वामी दिङ्नागके शिष्य थे। इसकी पुष्टि मनोरथनन्दीकी प्रमाणवार्त्तिकवृत्तिकी टिप्पणीसे होती है। तिब्बती परम्परा हमें बतलाती है कि दिङ्नागके एक शिष्य ईश्वर-सेन थे, जो धर्मकीर्तिके गुरु थे किन्तु यहाँ तिब्बती परम्परामें कुछ भूल मालूम होती है, जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। शङ्कर स्वामीका

न्यायपर एक ग्रन्थ 'न्यायप्रवेश' मिलता है, तिब्बती परम्पराने ईश्वर-सेनको धर्मकीर्ति (६०० ई०) का न्यायमें गुरु माना है, और इसमें सन्देहका कोई कारण नहीं मालूम होता किन्तु वहीं ईश्वरसेनको दिङ्नागका शिष्य कहा गया है। आगे हम बतलायेंगे कि धर्मकीर्ति ६२५ ई०के आस पास थे। ऐसी हालतमें धर्मकीर्ति और दिङ्नागके बीचके दो सौ वर्षोंमें सिर्फ एक व्यक्ति नहीं हो सकता। अक्सर परम्परामें अप्रधान व्यक्ति छोड़ दिये जाते हैं। मालूम होता है यहाँ भी दिङ्नाग और ईश्वरसेनके बीचकी परम्परा छूट गयी है। ईश्वरसेनका कोई ग्रन्थ किमी भाषामें नहीं मिलता; किन्तु उनकी कुछ बातोंका खण्डन धर्मकीर्तिने प्रमाण वार्तिकके प्रथम परिच्छेदमें किया है। दुर्वेकमिश्र (११०० ई०)ने भी अपने हेतु विन्दुकी धर्माकरदन्तीय टीकापर व्याख्या करते हुए ईश्वरसेनके मतको उद्धृत किया है, इससे मालूम होता है कि ईश्वरसेनने कोई ग्रन्थ लिखा था।

तिब्बती परम्परा बतलाती है, कि धर्मकीर्तिने जब ईश्वरसेनके पास दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयको पढ़ा तब कितने ही स्थल उनके गुरुको भी स्पष्ट न लगते थे। इसके बाद धर्मकीर्तिने स्वयं दूसरी बार उसे अपने आप पढ़ा। जब उन्होंने अपने अर्थको अपने गुरुको सुनाया तो उन्होंने शाबाशी दी, और प्रमाणसमुच्चयके अर्थ समझनेमें धर्मकीर्तिको उन्होंने दिङ्नागके बराबर बतलाया। फिर धर्मकीर्तिने तीसरी बार पढ़ा और उन्हें उस में त्रुटियाँ मालूम हुईं। इसीलिये धर्मकीर्तिने दिङ्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' पर टीका लिखनेकी अपेक्षा वार्तिक (प्रमाणवार्तिक) लिखा जिसमें खंडन करनेमें स्वतंत्रता रहे।

धर्मकीर्ति

धर्मकीर्तिका काल (६०० ई०)—चीनी पर्यटक इचिङ्गने धर्मकीर्ति-का वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है। इसलिये धर्मकीर्ति ६७९ ई० से पहले हुए।

किन्तु, युन्-च्चेङ्कने धर्मकीर्तिका नाम नहीं लिया है, इसलिये ऐतिहासिकों-का अनुमान है कि ६३५ ई०में जब युन्-च्चेङ्क नालंदा पहुँचे, धर्मकीर्तिकी आयु कम रही होगी, इसलिये धर्मकीर्तिका काल ३३५-५० ई० माना है। लेकिन युन्-च्चेङ्कके मतसे धर्मकीर्तिको पीछे लाना ठीक नहीं जँचता। हमारी समझमें धर्मकीर्ति युन्-च्चेङ्कसे पहले ही नालंदामें थे, क्योंकि--(१) धर्मकीर्ति नालंदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। युन्-च्चेङ्कके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य शीलभद्र नालंदाके प्रधान आचार्य थे जिनकी आयु उस समय १०६ वर्ष की थी। ऐसी अवस्थामें धर्मपालके शिष्य धर्मकीर्ति ६३५ ई० में वच्चे नहीं हो सकते थे। धर्मकीर्ति सुदूर-दक्षिण तिरुमलय (द्रविड़ देश)के प्रतिभाशाली ब्राह्मण थे। ब्राह्मण शास्त्रोंको उन्होंने खूब पढ़ा था, और पीछे बौद्ध सिद्धान्तोंको अपनी स्वतन्त्र बुद्धिके अधिक अनुकूल पा वह बौद्ध हुए थे।

इस प्रकार नालंदाके प्रधान आचार्यके शिष्य होते समय वह वच्चे नहीं हो सकते थे। नालंदाके विश्वविद्यालयमें प्रवेश पानेके लिये द्वार-पण्डितोंकी कितनी कठिन परीक्षासे विद्यार्थियोंको गुजरना पड़ता था, यह हमें मालूम है; इससे भी धर्मकीर्ति काफी पढ़े लिखे होनेपर ही प्रवेशके अधिकारी हो सकते थे। शीलभद्रके प्रधान आचार्य होनेसे पूर्व ही धर्मकीर्ति विद्या समाप्त कर चुके थे, अन्यथा छोटे होनेपर उन्हें शीलभद्रके पास भी पढ़ना पड़ता। और वैसा कोई उल्लेख नहीं है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे धर्मकीर्तिकी आयु कितनी भी कम मानते युन्-च्चेङ्कके समय हम उसे ३०, ३५ वर्षसे कम नहीं मान सकते? फिर धर्मकीर्तिकी प्रतिभा बौद्ध दार्शनिकोंमें अद्वितीय मानी जाती है, बल्कि उनके प्रतिद्वंद्वी ब्राह्मण नैयायिक भी उनकी प्रतिभाकी दाद देने हैं। ऐसा अद्भुत् प्रतिभा-शाली पुरुष २५ वर्षकी उम्रमें भी नालंदामें विना ख्याति पाये नहीं रह सकता। युन्-च्चेङ्ककी चुप्पीका कारण हो सकता है (१) युन्-च्चेङ्कके नालंदा निवासके समयसे पूर्व ही धर्मकीर्तिका देहान्त हो चुका था और

न्यायपर अधिक अनुराग न होनेके कारण धर्मकीर्तिकी कृतियों और व्यक्तित्वके प्रति उतना सम्मान भाव न होनेसे उन्होंने उनका जिक्र नहीं किया। युन्-च्वेङ्क न्यायके पण्डित न थे; यह तो इमीसे मालूम होता है कि उन्होंने दिङ्कनागके प्रमाणसमुच्चय जैसे प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका चीनी अनुवाद न कर असंग, वसुबंधु और शंकरस्वामीके तीन छोटे छोटे न्याय निबन्धोंका ही अनुवाद कर संतोष कर लिया।

(२) यह कहा जा सकता है कि युन्-च्वेङ्ककी जीवनीके सम्पादक उनके शिष्योंने जान-बूझकर धर्मकीर्तिका जिक्र नहीं आने दिया है। युन्-च्वेङ्क विद्वान् थे, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु कितनी ही जगहों पर जीवनी-लेखकोंने बहुत अतिशयोक्तिकी है। उदाहरणार्थ, यदि उड़ीसामें कोई अबौद्ध पण्डित बौद्धोंको शास्त्रार्थ करनेके लिये ललकारता है, और उसका सन्देश नालंदा आता है, तो नालंदा युन्-च्वेङ्कको अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजता है। आजकलके पण्डितोंके शास्त्रार्थकी भाँति सातवीं सदीमें भी शास्त्रार्थ संस्कृतमें हुआ करते थे। और आजकलकी भाँति उस समय भी वादी प्रतिवादी खूब कठिन दार्शनिक संस्कृतका प्रयोग करते थे। संस्कृत भाषाका व्याकरण ऐसे भी जटिल है और फिर उक्त प्रकारकी संस्कृतमें शास्त्रार्थ करना आसान काम न था। युन्-च्वेङ्क प्रौढ़ अवस्थामें भारत आये थे। पढ़ते पढ़ते दार्शनिक संस्कृतका समझना इनके लिये आसान हो सकता था किन्तु इतनी दक्षता प्राप्त करना संभव न था। इस जगहपर जरूर अत्युक्तिसे काम लिया गया है। ऐसी हालतमें यदि धर्मकीर्ति युन्-च्वेङ्कके समय मौजूद थे तो उन्हें चित्रपर चित्रित करना हानिकारक समझा गया। और इसलिये उन्हें जान बूझकर वहाँ आने नहीं दिया गया। हमारी समझमें तो धर्मकीर्ति युन्-च्वेङ्कके नालन्दा पहुँचनेसे पूर्व ही गुजर चुके थे।

धर्मकीर्तिकी शिष्य-परम्परा तिब्बती ग्रन्थोंमें इस प्रकार मिलती है—

धर्मकीर्तिकी शिष्य-परम्परा

१ धर्मकीर्ति (६०० ई०), २ देवेन्द्रमति (६५० ई०), ३ शाक्यमति (६७५ ई०), ४ प्रज्ञाकरगुप्त (७०० ई०), ५ धर्मोत्तर (७२५ ई०), ६ यमारि (७५० ई०), ७ विनीतदेव (७७५ ई०), ८ शंकरानन्द (८०० ई०), ९ बंकुपण्डित (११५० ई०), १० शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०)। शाक्य श्रीभद्र विक्रमशिला विहार (भागलपुर)के अन्तिम प्रधान आचार्य थे। विक्रम-शिलाके तुर्कों द्वारा जलाये जानेपर १२०३ ई० में वह विभूतिचन्द्र (जगतला बंगाल) दानशील, संघश्री (नेपाल) आदि बौद्ध पंडितोंके साथ तिब्बत गये। शाक्यश्रीभद्रके भोटवासी शिष्य स-स्क्य-पण्-छेन् आनन्दध्वज अपने ग्रन्थमें अपने गुस्की परम्परा देते हैं, जिसमें बंकु पण्डितको शंकरानन्दका शिष्य बतलाया गया है। यहाँ भी जान पड़ता है, बीचके कितने ही अप्रधान व्यक्तियोंको छोड़ दिया गया है। शाक्य श्रीभद्रका काल (जन्म ११२७ ई०, मृत्यु १२२५ ई०) हीमें निश्चित है।

इनके अतिरिक्त जिनेन्द्रबुद्धि, (७०० ई०) धर्माकरदत्त (७०० ई०) कल्याणरक्षित (७०० ई०), रविगुप्त (७२५ ई०), अर्चट (८२५ ई०) शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०), कमलशील (८५० ई०), जिनमित्र (८५० ई०), जयानन्त (९५० ई०) कर्णकगोमी, मनोरथनन्दी, जितारि (१००० ई०), रत्नकीर्त्ति (१००० ई०) आदि कितने ही और विद्वानोंने न्यायपर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि वही हैं, जिन्होंने काशिकाविवरणपंजिका या न्यासको लिखा है। शान्तरक्षितके तत्वसंग्रह (संस्कृत-मूल)के प्रकाशित हो जानेसे वह और उनके शिष्य कमलशील (तत्व संग्रह-पंजिकाकार) विद्वानोंके सामने आ चुके हैं।

(१२)

मागधी हिन्दीका विकास

भाषा भावका शरीर है। जिस समय एक ही देशमें अनेक भाषाओंका राज्य स्थापित नहीं था, लोग अपनी उसी एक भाषामें अपने हृदयके साधारण या कोमल भावों (काव्य)को प्रकट किया करते थे। चार सहस्र वर्ष पूर्वके हमारे कितने ही पूर्वजोंके भाव हमें उन्हीकी भाषामें, वेदके रूपमें मिलते हैं। “छान्दस्” या वेदकी भाषा उनकी भाषा थी।

नदीके प्रवाहकी तरह भाषाका प्रवाह गतिशील है। जितनी ही भाषा बदलती गयी, उतनी ही हमारे परवर्ती पूर्वजोंको, अपने पूर्वजोंकी भाषा और कृतियोंमें अधिक लोकोत्तर श्रद्धा बढ़ती गयी (और आज भी वह अपने विराट् आकार में हमारे संस्कृत-प्रेमके रूपमें मौजूद है)। समय बीतनेके साथ वह इस फिक्रमें पड़े कि, कैसे हम उसको सुरक्षित और सजीव रखें। इसके लिये उन्होंने (वेद) मन्त्रोंको जहाँ संहिता, पद, जटा, घन आदि नाना क्रमसे, उच्चारण और कण्ठस्थ करके, सुरक्षित किया; वहाँ उस भाषाकी भीतरी बनावटके लिये अपनी-अपनी शाखाके “प्रातिशाख्य” (व्याकरण) बनाये। जब बोल-चालकी भाषामें बहुत अन्तर हो चुका था, तब ईसा पूर्व छठी शताब्दीमें, गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए। कोई “भाषा”पर विशेष दया करके नहीं—वल्कि वही प्रचलित और उपयुक्त होनेसे उन्होंने लोक-भाषामें लोगोंको धर्मोपदेश किया। हाँ, जब मगध, कोसल, कुरु, अवन्ती, गन्धारके शिष्य, बुद्धके दिये उपदेशों (सूक्तों=सुत्तों) का अपनी-अपनी भाषा (=निरुक्ति) में पाठ करने लगे, तो कुछ शिष्योंको सूक्तोंकी भाषाका फेर-बदल खटकने लगा और उन्होंने

चाहा कि, उसे हजार वर्षकी पुरानी भाषामें करके सुरक्षित कर दिया जाय। बुद्धने उसे मना ही नहीं किया; बल्कि ऐसा करनेको हल्के दण्डसे दण्डनीय एक अपराध करार दिया। जिस प्रकार नित्य बदलता सिक्का और तोलमान आदमीको खटकता तथा व्यवहारमें परेशानीका कारण होता है, वैसे ही बुद्धके निर्वाणकी तीनचार शताब्दियों बाद, यह आये दिनकी अदल-बदल धर्मधरोको अरुचिकर मालूम होने लगी। तब उनमेंसे कुछने तो लकीरका फकीर बन, पुरानी भाषाको (जिसे वह समझते थे कि, वह उसी रूपमें बुद्धके मुखसे निकली थी) ही अपनाये रखा और आगेसे अपनी शक्तिभर फेरबदल न होने देनेके लिये बाँध बाँधा। दूसरोंने उसे मृत—किन्तु अधिक स्थायी संस्कृतमें—कर दिया। तथापि इस भाषामें पहली भाषाकी कितनी ही बातें रख छोड़ी। तीसरे, कुछ लोग और कितनी ही शताब्दियोंतक धक्के खाकर, कुछ और फेर-बदल हो जाने-पर परवर्ती किसी भाषामें उसे सुरक्षित करनेपर मजबूर हुए। पहले वाले धर्मधर सिंहलके स्थविरवादी है, जो मागधीकी सबसे बड़ी विशेषताएँ—“स” की जगह “श”, “न” की जगह “ण” और “र”की जगह “ल” को सहस्राब्दियों पहले छोड़ चुके हैं; तो भी कहते हैं, “हमारे धर्म-ग्रन्थ मूल मागधी भाषामें है।” हाँ, यदि उच्चारणकी विशेषताको कोई नगण्य समझे, तो उनका कथन बहुत कुछ सच निकलेगा। सर्वास्तिवाद, महासांघिक आदिने अपने धर्म-ग्रन्थ संस्कृतमें कर दिये तथा महीशासक आदि कुछ निकायोंने प्राकृतमें।

शताब्दियोंसे ब्राह्मण, कोसीकी भाँति, मर्यादा तोड़ भागनेवाली संस्कृत-भाषाको, व्याकरणके नियमोंसे बाँध-बाँधकर स्थायी करते रहे; परन्तु उन्हें पूरी सफलता न मिली। अन्तमें जनपदोंकी सीमाएँ तोड़कर साम्राज्य स्थापित करनेवाले युगके प्रतापी शासक नन्दोंके कालमें पाणिनि^१ वह बाँध-

^१ मंजूश्रीमूलकल्पने पाणिनिको नन्दके समयमें माना है।

बाँधनेमें सफल हुए, जिसे तोड़नेकी शक्ति संस्कृतमें नहीं रही। तो भी इस बाँधसे संस्कृतके प्रचारमें अधिक फल तत्रतक नहीं हुआ, जबतक कि, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यमें शुंगोंके गुरु गोनर्दीय^१ पतञ्जलि अपनी कलम, ज्ञान और जवानकी शुंगोंके^२ प्रभुत्वके साथ मिलाकर इसकी वकालतमें न खड़े हो गये। शुंगोंके बाद गति कभी कुछ मन्द और कभी कुछ तेज होनी रही; किन्तु गुप्तोंके समयसे पाणिनिकी संस्कृतको वह स्थान प्राप्त हो गया, जो उसे कभी न मिला था (वह स्थान, ईसाकी बारहवीं शताब्दीतक वैसे ही रहकर, आज भी हमारे सामने कुछ कम विशाल रूपमें नहीं दिखायी पड़ता है)।

यद्यपि शुंगकालमें संस्कृतके प्रबल पक्षपाती उठे। और उन्होंने तथा उनके परवर्ती लोगोंने संस्कृतके पक्षमें ऐसा वायुमण्डल तैयार कर दिया कि, कीर्त्ति, मान तथा शिक्षित जनतातक पहुँचनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् साहित्यमें संस्कृतको ही व्यवहृत करनेपर मजबूर हो गये; तथापि बोलचालकी भाषाओंने^३ चुपचाप अपने अधिकारको अपहृत नहीं होने दिया। किन्तु जहाँ संस्कृतने एक स्थायी-अचल-रूप पा लिया था, वहाँ यह बेचारी

देखिये ५३ पटल, पृष्ठ ६१२-

“नन्दोऽपि नृपतिः श्रीमान् पूर्वकर्मापराधतः।

विरागयामास। मन्त्रीणां नगरे पाटलाह्वये।।

..... आयुस्तस्य च वै राज्ञः षट् षष्ठीवर्षातथाः।

..... तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम माणवः।।’

^१ मालवामें, विदिशा और उज्जैनके बीच, भोपालके पासमें गोनर्द कोई स्थान था।

^२ सबसे पुराने संस्कृत शिलालेख शुंगोंके समयमें मिलते हैं।

^३ गुणाढ्यकी बृहत्कथा, हालकी गाथासप्तशती आदि इसके उदाहरण हैं।

प्राकृतों जबतक लड़-भिड़कर अपने लिये कुछ स्थान बनाती थीं, तबतक वह स्वयं मृत्युका ग्रास हो, मृतभाषा बन, अपने सबसे प्रबल शस्त्र—बोल-चालकी भाषा होनेको—खो बैठतीं। उन्हें इस जद्दो-जिहदका पुरस्कार यही मिलता था कि, कभी-कभी, लोग उनमें भी कुछ लिख दिया करते थे।

पाणिनिके समयमें संस्कृत स्वाभाविक रूपसे बोल-चालकी भाषा न थी; तोभी उस समयकी बोल-चालकी भाषा, उससे इतनी समीप थी कि, कुछ दर्जन नियमोंके साथ उसे पाणिनीय संस्कृतमें बदला जा सकता था। पाणिनिके “भाषा” शब्दसे मतलब है इसी उच्चारणादिके परिवर्तनसे बनी कृत्रिम या “संस्कृत” भाषासे। उदीची (पंजाब), प्राची (युक्त-प्रान्त, बिहार) तथा व्यास-नदीके उत्तर-दक्षिण किनारोंतकके रूप और स्वरतकके भेदोंको दिखलानेसे लोग सिर्फ यही नहीं कह उठते हैं—“मह-तीयं सूक्ष्मैक्षिकाचार्यस्य” (काशिका ४।२।७४); वल्कि साथ ही यह भी कहते हैं कि, पाणिनिके समय वह (पाणिनीय) संस्कृत बोली जाती थी; और, इसी लिये वह उनके कालको, नन्दोंके समयमें न रखकर, बहुत पूर्व खींचना चाहते हैं। पाणिनिने, अपने व्याकरणके लिये, दो स्रोतोंसे मसाला जमा किया। (क) मन्त्र, ब्राह्मण आदि छान्दस् वाङ्मय, (ख) कल्प, शिशुक्रन्द, यमसभ, अग्निकाश्यप आदिके वृत्तोंको लेकर बने ग्रन्थ आदि से। इनमें भी शिशुक्रन्दीय आदि ग्रन्थ संस्कृतमें थे या प्राकृतमें, इसमें सन्देह ही समझना चाहिये। दूसरा स्रोत था, उदीची और प्राचीकी उस समयकी बोल-चालकी “भाषा”का। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि, उन्होंने अपने समयतकके इस विषयमें हुए प्रयत्नों (अपिशलि, शाकटायन आदिके व्याकरणों) से भी फायदा उठाया।

पाणिनीय संस्कृतका प्रादुर्भाव यद्यपि ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें हुआ; तथापि पतञ्जलिके समय अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यतक उसका बहुत कम प्रचार रहा। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीसे ईसाकी तीसरी

शताब्दीतक वह क्रमशः अपने क्षेत्र और प्रभावको बढ़ाती गयी; और, चौथी शताब्दीसे उसका एकछत्र राज्य स्थापित हुआ। प्राकृत और अपभ्रंशके समयतक—जबतक कि, संस्कृत और भाषाके क्रियापद और प्रत्यय भी बहुत थोड़े ही फर्कसे संस्कृत किये जा सकते थे, संस्कृतभाषामें, बहुत ही प्राञ्जल, सर्वभावसम्पन्न, प्रसादयुक्त ग्रन्थ लिखे जाते थे। जब “देशीय” (आधुनिक भाषाओंका प्राचीनतम रूप)का प्रादुर्भाव हुआ और संस्कृतसे अधिक फर्क पड़ गया, तब जीवित स्रोतसे वञ्चित हो, संस्कृत-ग्रन्थ, भाषाकी दृष्टिसे, बिलकुल ही कृत्रिम तथा शब्द-दारिद्र्यसे पूर्ण बनने लगे।

यह तो हुआ देश-कालके भेदसे न प्रभावित होनेवाली कृत्रिम या “संस्कृत” भाषाके वारेमें। अब जीवित भाषाओके स्रोतको लें। शताब्दियोंके परिवर्तनकी छाप रखते हुए भी वेद, ब्राह्मण आदि वैदिक साहित्यकी भाषाको पाणिनिने “छान्दस्” कहा है। वह अपने समयमें एक जीवित-भाषा थी। उस समय उसका क्षेत्र अधिकतर गङ्गा और सिन्धुकी उपत्यकाओंतक संकुचित तथा बोलनेवालोंकी संख्या कम होनेके कारण देश-भेदसे भी भाषाभेद कम हुआ था। पाणिनिके समयमें, और छोड़, सिर्फ प्राची (युक्तप्रान्त, बिहार) ही, पांचाली, कोसली और मागधीके तीन क्षेत्रोंमें विभक्त मालूम होती है। विन्ध्य-हिमालयको सबकी सामान्य सीमा मानकर, उनमेंसे, पाञ्चाली, घग्घर (शरावती=सरस्वती)से रामगङ्गातक, कोसली रामगङ्गासे मही (गण्डक)तक एवं मागधी गण्डकसे कोसी तथा कर्मनाशासे कर्लिगतक फैली हुई थी। इनमें पांचाली तथा उदीची (पंजाब)की भाषाओंमें अधिक समानता थी; इसलिये शक्तिशाली राज्योंका केन्द्र उदीची (सिन्धु-तट)से उठकर प्राचीमें पाञ्चाल तथा कोसलमें चला आया; तोभी पाञ्चालीने स्थानीय भाषाओंमें विशेष भेद न होनेके कारण कोई विशेष स्थान न प्राप्त किया। उस समयतक तक्षशिलाका विद्या-केन्द्र बना रहना भी इसीका साधक और द्योतक है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें जब मगधका विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ और लक्ष्मीके साथ सरस्वतीने

भी मगधमें पधारकर उसे शक्ति और सभ्यताका केन्द्र बना दिया, तब अवस्था बिलकुल बदल गयी। इसमें मगधमें उत्पन्न बौद्ध, जैन जैसे महान् दार्शनिक सम्प्रदाय (जो कि, सिन्धुकी ओरतक फैलते जा रहे थे) और भी सहायक हुए। फलतः मगध, सभ्यताका केन्द्र बननेके साथ, अपनी भाषाको सारे भारतमें सम्मानित करानेमें सफल हुआ। उपयुक्त प्रकारसे सम्राटोंकी भाषा होनेसे मागधीने सारे भारतमें यहाँतक सम्मान पाया कि, पीछे नाटककारोंको, राजपुत्रो तथा दूसरे कितने ही उच्च पात्रोंकी भाषा मागधी रखनेका निर्देश करना पड़ा। मागधीका प्राचीनतम उपलब्ध रूप उड़ीसा, विहार और युक्तप्रान्तमें मिलने वाले सम्राट् अशोकके शिलालेख हैं। पाली (दक्षिणी बौद्ध-त्रिपिटककी भाषा)ने यदि “श”का बाय-काट तथा “र”के स्थानपर भरसक “ल” नहीं आने देनेकी कसम न खायी होती, तो शायद उसे ही मागधीका प्राचीनतम रूप होनेका सौभाग्य प्राप्त होता; किन्तु सिंहलके पुराने गुजराती (सौरसेनी-महाराष्ट्री भाषी) शताब्दियोंतक मागधीके उच्चारणको कैसे बनाये रखते? तोभी हम पालीके पुरातन सुत्तोंमें “ल”, “श”की भरमार कर उसे मागधीके पासतक पहुँचा सकते हैं। उसके बाद दूसरी मागधी नाटकोंकी मागधी है। हाँ, जैनमूल-ग्रन्थोंकी भाषा भी मागधी है। किन्तु शुंगोंके समयसे ही जैन-धर्मका केन्द्र पूर्वसे पश्चिमकी ओर हटने लगा; और उज्जैन आदिकी सैर करते ईसाकी चौथी—पाँचवीं शताब्दियोंमें गुजरात पहुँच गया था, जहाँ पाँचवीं शताब्दीमें (पाली-त्रिपिटकके लेख-बद्ध होनेसे पाँच सौ वर्ष बाद) जैन-ग्रन्थ लेखबद्ध हुए। जैन मागधीमें सौरसेनी, महाराष्ट्रीकी पुट पड़ जानेसे वह आधी ही मागधी रह गयी थी; इसीलिये अर्द्धमागधी भी उसे कहा गया। लेकिन अशोकके बाद (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे) ईसाकी पहली शताब्दीतककी मागधी भाषाका रूप, रामगढ़ पहाड़की गुहाएँ (सरगुजा-राज्य) और बोधगया आदिके कुछ थोड़ेसे और अधिकांश आधे दर्जन शब्दोंवाले लेखोंको छोड़कर और नहीं मिलता।

ईसाकी दूसरी शताब्दीसे पाँचवीं शताब्दी तककी मागधी हमें नाटकोंमें मिलती है। पाँचवीसे अपभ्रंश मागधीका जमाना शुरू होता है। लेकिन महाराष्ट्री-अपभ्रंशकी^१ भाँति मागधी-अपभ्रंशमें कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। संस्कृतका बोलवाला होनेसे शिलालेखों-ताम्रलेखोंसे तो आशा ही नहीं। अपभ्रंशका समय पाँचवीसे सातवी सदीतक था। आठवीं शताब्दीमें “देशीय” या हिन्दीका समय शुरू होता है। यहाँ स्मरण रहे कि, प्राकृत, अपभ्रंश, देशीय, सभीका एक एक सन्धि-काल है, जिसमें पूर्व और परकी भाषाओंका सम्मिश्रण रहा है। प्राचीन देशीय-मागधी या “मगही” आठवीं शताब्दीसे बारहवीं शताब्दीतक रही। उसके बाद सोलहवी शताब्दीतक मध्यकालीन मगही और तबसे आधुनिक मगही हुई। इस प्रकार मागधीके निम्न रूप होते हैं—

- १ अशोकसे पूर्वकी मागधी ई० पू० ६००—३०० अनुपलभ्य
- २ अशोककी मागधी ई० पू० ३००—२०० सुलभ
- ३ अशोकसे पीछेकी मागधी ई० पू० २००—२०० ई० दुर्लभ
- ४ प्राकृत मागधी ई० २००—५०० ई० सुलभ
- ५ अपभ्रंश मागधी ई० ५००—७०० ई० अनुपलभ्य
- ६ मगही प्राचीन ई० ८००—१२०० ई० सुलभ
- ७ मगही मध्यकालीन ई० १२००—१६०० ई० दुर्लभ
- ८ मगही आधुनिक ई० १६००से, जीवित

पहले बतलाया जा चुका है कि, चौथी शताब्दीमें ही मगहीका अपना क्षेत्र गण्डकसे कोसी तथा कर्मनाशासे कलिगतक था। समय पाकर फिर भाषामें परिवर्तन होता गया। मागधीभाषा-भाषी आस-पासके प्रदेशोंमें

^१ अपभ्रंश प्राकृत और प्राचीन “देशीय” भाषाके बीचकी भाषाके लिये यहाँ प्रयोग किया गया है। पतञ्जलिनने तो आजकल “प्राकृत” कही जानेवाली भाषाओंसे भी पूर्वकी भाषाके लिये अपभ्रंशका प्रयोग किया है।

जाकर बस गये। इस प्रकार आधुनिक उड़िया, बँगला, आसामी, मैथिली और मगही, प्राचीन मागधीके ही कालान्तरमें विकृत रूप हैं। बनारसी भाषाको भोजपुरी और कोसली या अवधीकी सीमान्त भाषा समझना चाहिये; तथापि प्राकृत ओर अपभ्रंशके समय इनका भेद बहुत कम था। प्राचीन मगहीकालमें वह बढ़ने लगा। अपभ्रंशतककी मगहीको पूरी तरहसे, तथा प्राचीन मगहीको किसी अंशमें, उक्त सभी भाषा-भाषी अपना कहनेके अधिकारी होते हैं, तो भी मागधी न कह, उसे आसामी, बगाली^१ या उड़ियाका नाम देना उनना ही अक्षम्य होगा, जितना चामर, शेक्सपियर, मिन्टन तथा उनकी भाषाको अमेरिकन या आस्ट्रेलियन कहना।

ऊपर जिस मागधीको हमने “मगही प्राचीन” कहकर उसका काल

^१ प्रादेशिक पक्षपातका उदाहरण कितने ही बँगाली इतिहास-अन्वेषकोंके लेखोंमें भी मिलता है। सौ वर्ष पहले प्रिन्सेप्ने सिंहल-वासियोंको बँगालसे आया कहा। उसके लिये आधार यही था कि, सिंहल उपनिवेश-स्थापक विजयकी दादी वंगराजकी लड़की थी और उनका पिता “लाल” देशका शासक था। “लाल” “राढ़” (पच्छिमी बँगाल)का अपभ्रंश रूप मान लिया गया। “महावंस” और “दीपवंस” में स्पष्ट लिखा है कि विजय अपनी राजधानीसे नावपर चढ़कर पहले भरुकच्छ (भड़ोच) फिर सुप्पारक (सोपारा, जि० ठाणा) गया; वहाँसे चलकर ताम्रपर्णीद्वीप। राढ़से सीलोन जानेका यह रास्ता (भूल जानेपर, तो ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दीके लिये और भी) कठिन है। तोभी वह बातें अब भी बहुतसे बँगाली ऐतिहासिकोंके ग्रन्थोंमें लिखी मिलेंगी। मैथिल-कोकिल विद्यापति बहुत दिनोंतक बंग-भाषाके ही आविष्कवि रहे हैं; और, यही बात हम बिहारके दो बड़े धर्म-प्रचारकों (शान्तरक्षित और दीपंकरश्रीज्ञान-जिन्होंने आठवीं और ग्यारहवीं शताब्दियोंमें, तिब्बतमें, धर्म-प्रचार किया था) के बारेमें देखते हैं।

आठवींसे बारहवीं शताब्दी बतलाया है, उसीमें हिन्दीकी सबसे प्राचीन कविता है। लेकिन, चूँकि उसे बंगाली विद्वानोंने बँगला साबित किया है और अभीतक हिन्दीवाले उसपर चुप थे; इसलिये उसके हिन्दी होनेके बारेमें कुछ कहना आवश्यक है। पहले तो यह सवाल होता है कि, हिन्दी वालोंने इस मागधीको बँगला बनाये जाने वक्त क्यों नहीं आपत्ति की? यदि इसमें उपेक्षा मात्र ही होती, तो और वान थी; लेकिन यहाँ हिन्दीवालोंकी यह उपेक्षा एक बड़े कारणपर निर्भर है। वह कारण हमें विद्यापतिकी वानसे भी मालूम होता है। वान यह है कि, हिन्दी-भाषामे लोग सिर्फ गद्यकी भाषा खड़ीबोली और पद्यकी भाषा ब्रजभाषा लेते हैं। तुलसीकी भाषाका अवधी (कोसली) होना भी कितनोंको पहले नया ही मालूम होगा। खड़ीबोली उत्तर पाञ्चाल (या वदायूँ, मृगशवाद ओर विजनोरके जिलों) की बोल-चालकी भाषाका साहित्यिक रूप है। वदायूँ आदिके लोग, मालूम होता है, दिल्लीमे मुसलमानी शासन स्थापित होनेके आरम्भिक समयमें ही किसी प्रकार पहुँच गये। धर्म-परिवर्तन तथा अपने वृद्धि-विद्या-बलसे वह वहाँ अधिक प्रभावशाली बन गये। उनके सम्बन्धमे बहुतमे और भी वदायूनी, विजनोरी दिल्ली पहुँचे। उनका और उनकी दास-दासियोंका दिल्लीमें एक अच्छा खासा उपनिवेश बस गया। इस उपनिवेशके सभी लोगोका, यूरेशियनोंकी भाँति, अपनी भाषा भूलकर फारसी ही बोलने लगना उस समय सम्भव नहीं था—विशेषतः जब कि, राज-काज चलानेके लिये ओर लोगोसे काम पड़ता था। (इस उत्तर-पाञ्चाली जमायतको, एक तरहसे, कम्पनीके आरम्भिक दिनोंके बँगालीकी रानियोंमे उपना दे सकते हैं। फर्क इतना ही था कि, अंग्रेजोंका वर्गभेद रंगपर था, जिसका बदलना असम्भव था; ओर, उत्तर पाञ्चालियों तथा उनके शासकोका फर्क धर्मपर था, जो धर्मपरिवर्तनसे बहुत-कुछ हट-सा जाता था)। मातृभाषाका प्रेम भी एक बड़ी चीज है; इसको वही अच्छी तरह जानेंगे, जो गुजरातके करोड़-पनि मेमनों, बोरो साहुकारोंको, केपटाउन, कोलम्बो और नैरोबीतकमें

अपनी गुजराती भाषामें; एवम्, कोंकणी मुसलमान साहुकारोंको तामिल, मालावार, कुर्गके प्रदेशोंमें रहते हुए भी कोंकणीमें अपना निजी काम चलाते देखेंगे। अवधकी तरफसे विहारमें जानेवाले कायस्थ, मुसलमान जैसे अपने साथ अपनी अवधी भाषा लेते गये (उनके प्रभावके साथ उनकी भाषाका प्रभाव इतना बढ़ा कि, आज भी विहारकी कचहरियोंके शिक्षित लोगोंको, आप इसी अवधीको, कुछ मगही, मैथिली तथा भोजपुरीके पुटके साथ बोलते पायेंगे) — ठीक इसी प्रकार उत्तर पाञ्चालियोंकी अपनी भाषा दिल्लीमें अपना प्रभाव बढ़ाती रही। यह लॉग आरम्भिक मुसलमान हुए लोगों (या हिन्दी मुसलमानों)में अधिक प्रभावशाली थे; इसलिये पीछेके मुसलमानोंके लिये यह सभी बातोंमें उनके आदर्श बने। इस प्रकार भाषाके खयालसे दिल्लीके शासन-सूत्रधार दो भागोंमें विभक्त थे; एक फारसीखुवाँ अहिन्दी मुसलमान शासक थे और दूसरे हिन्दी वजीर, अमीर तथा फकीर (धर्म-प्रचारक), जो राज-काजके लिये फारसी सीखते-पढ़ते थे; तोभी अपनी मातृ-भाषाके हामी थे। अन्तर्जातीय विवाहोंसे (जोकि आजकी तरह उस समय भी मुसलमानोंमें अधिक होते थे) जैसे ही जैसे हिन्दी-रुधिर शासकोंमें अधिक प्रवेश करता जाता था और इस्लामके प्रचारसे जैसे ही जैसे हिन्दी मुसलमानोंकी जमायत बढ़ती जाती थी, वैसे ही वैसे उत्तर पाञ्चाली भाषा उन्नतिके पथपर अधिक अग्रसर होती गयी—प्रादेशिकमें सार्वत्रिक भाषा बनती गयी। रक्त-सम्मिश्रणके साथ भाषाका सम्मिश्रण सभी जगह देखा जाता है। इसी प्रकार उत्तरपांचालीमें भी फारसी-अरबीके बहुतसे शब्द मिल गये। शाहजहाँसे बहुत दिनों पहले ही यह भाषा वहमनियोंके साथ दक्खिनमें पहुँच गयी थी; और, क्रमशः हिन्दीसे जिन देशोंकी भाषाओंका जितना ही अधिक फर्क था, उनमें यह उतनी ही अधिक साधारण लोगोंके लिये माध्यम और मुसलमानोंके लिये मातृभाषा बनी। उत्तरमें अकबरके हिन्दू-मुसलमान-विवाहोंने इस भाषाको अधिक भीतर तक घुसने दिया और सभी शाहजादे जन्मसे ही दोभाषिये होने लगे। यद्यपि अंग्रेजोंके आनेतक फारसी ही कच-

हरियों की भाषा थी; तोभी वह वैसे ही, जैसे बारहवीं शताब्दीके गहड़वार राजाओंके शिलालेखोंमें आप संस्कृतको देखने हैं। वान-चीततक सभी काम बादशाही कचहरियोंतकमें भी हिन्दीमें ही होते थे; सिर्फ कागज लिखने वक्त फारसी आ जाती थी।

उक्त हिन्दी यद्यपि उत्तर पाञ्चालकी भाषा थी और उसमें अरबी-फारसीके शब्द उधार मात्र ले लिये गये थे; तोभी चौदहवींसे अठारहवीं शताब्दीतक मुसलमानोंका ही इसमें घनिष्ट सम्बन्ध था। इसीलिये लोग इसमें मुसलमानियतकी बू पाते थे। फलतः साहित्यकी भाषाका जब प्रश्न-उठा, तब हिन्दुओंने रेखता (उर्दू-अरबी-फारसी-मिश्रित खड़ीबोली)को न ले, ब्रजभाषा, अवधी आदिको अपनाया। रेखतामें उनका कभीकभी कविता करना, फारसीकी ही तरह था। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दीमें सारे हिन्दुस्तान-प्रदेशमें सिवा रेखताके कोई दूसरी सर्वत्र प्रचलित भाषा नहीं थी। यद्यपि इसमें अरबी-फारसीके शब्द अधिक थे; तो भी खत्री आदि कितने ही नागरिक कुलोंमें यह मातृ-भाषा थी; और, उनमें अरबी-फारसीके शब्द नाम मात्र थे (उतने संस्कृत-शब्द भी न थे)। तो भी कृष्णके नामसे और दिल्लीके पास होनेसे जैसे ब्रजभाषा अनायास हिन्दीकी काव्य-भाषा बन गयी, उतनी आसानीसे खड़ीबोलीको सफलता नहीं मिली। उसे चौदहवीं शताब्दीसे अठारहवीं शताब्दीतक जगह-जगहकी ग्वाक छाननी पड़ी, अपमान सहना पड़ा; और, इतनी तपस्याके बाद इस एक कोनेकी उत्तर पाञ्चाली भाषाको सारे हिन्दकी हिन्दीभाषा बननेका सीभाग्य प्राप्त हुआ।

इस प्रकार सूर, बिहारी आदिकी धार्मिक, शृङ्गारिक कविताओंके कारण लोग ब्रजभाषाको कविताकी भाषा समझते हैं; और, उपर्युक्त क्रमसे सर्वत्र प्रचलित खड़ीबोलीको आधुनिक व्यवहारकी भाषा। सहस्राब्दियोंसे हिन्दुस्तान-प्रदेशमें जो भाषाएँ विकसित होती रही हैं, वह भी कभी अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगी, इसका लोगोंको कुछ खयाल

भी न था। यही कारण है, जो भोजपुरी, मगही, मैथिली आदिकी ओर ध्यान नहीं गया। इस प्रकार मैथिलीके विद्यापति कितने ही वर्षोंतक बँगाली ही बने रहे ! जिस समय खड़ीबोलीने पटरानी होकर कविताके सिंहासनपर भी पैर बढ़ाना चाहा, उस समय ब्रजभाषाने लांग बाँध और डंडे मारकर ब्रजकी होली शुरू कर दी। यह होली बहुत दिनोंतक गम्भीरताके साथ होनी रही, किन्तु जब कविताके दरवारमें खड़ीबोलीकी तूती बोलने लगी, तब बेचारी ब्रजभाषाको यही कहकर सन्तोष करना पड़ा—“असली पेठा तो मेरी ही दुकानपर बनता है”। लेकिन बेचारी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी आदि भाषाएँ, सती-माध्वी कुलाङ्गनाओंकी भाँति, चुपचाप ही बैठी रहीं। फिर आजकल तो जद्दो-जहदके बिना किसीको कुछ मिलता नहीं। इसीलिये इनकी ओर किसीने ध्यान न दिया। इन मूक भाषाओंका भी अस्तित्व है; इस विषयमें डा० ग्रियर्सन और दूसरे सज्जनोंने जो किया, उसके लिये यह अवश्य उनकी आभारी हैं। इधर ग्रामीण गीतोंके प्रकाशनने यह भी बतला दिया कि, यह स्वभावसुन्दरी भी है।

अब सवाल यह है कि, इन भाषाओंके लिये भी कोई स्थान मिलना चाहिये या नहीं ? यह न समझें कि, खड़ीबोलीको अपना राजपाट वाँटकर गद्दीसे दस्त-बरदार हो जाना चाहिये। खड़ीबोलीके कारण आज भारतका दो तिहाई भाग एकताके घनिष्ट सूत्रमें बँध गया है। इस बीसवीं शताब्दीमें उस एकताको तोड़नेकी बात वही करेगा, जिमका समूह-शक्तिपर विश्वास नहीं है। तो फिर इनके लिये क्या होना चाहिये ? बस, वही, जो ब्रजभाषाके लिये इस वक्त और भविष्यमें रहेगा। ब्रजभाषाको तो कोई गुजराती बनानेका साहस नहीं रखता, फिर मैथिली और मगहीके बारेमें ऐसा क्यों ? यदि ब्रजभाषाकी नवी दसवीं शताब्दियोंकी कविता मिलती, तो उसके सादृश्यको देखकर गुजराती भी वही कहते, जो उस समयकी मगहीको देखकर आज बँगाली कहते हैं। कहा जा सकता है कि, खड़ी-

बोली तो मागधीकी उत्तराधिकारिणी नहीं है, साहित्यिक क्षेत्रमें उसकी उत्तराधिकारिणी तो बँगला ही है। लेकिन यहाँ पूछना है, अधिकार भी तो सापेक्ष शब्द है? मगही, मैथिली, उड़िया, आसामी—इन चारोंको खड़ी करनेपर सर्वप्रथम किसको हक मिलना चाहिये? मगहीको ही न? और बात भी है। यदि बँगला कहे कि, मैं पुरानी मगहीकी पुत्री हूँ, सो ठीक है; लेकिन यदि बँगला पुरानी मगहीका नाम मिटाकर उसे पुरानी बँगला कहने लगे, तो उसे मगहीमें ही लोहा नहीं लेना पड़ेगा; बल्कि उड़िया आदिको भी अपनी ज्येष्ठ भगिनीकी सहायता करनेपर वाध्य होना पड़ेगा। यद्यपि मगहीमें आज अखबार नहीं निकलते, लेख नहीं लिखे जाते, लेकिन तीस लाख बोलने वाले उसके घरमें ही जिन्दा है! यदि कहे, उसमें हमें उज्र नहीं; लेकिन मगहीको हिन्दी कैसे कहेंगे? हिन्दी तो पच्छाही भाषा है, उसका मगहीसे क्या सम्बन्ध? उत्तर यह है कि, हिन्दी शब्द सिर्फ खड़ी-बोलीके ही लिये कोई व्यवहार नहीं करता। ब्रजभाषा और अवधीके हिन्दी न होनेका किसीने आप्रह नहीं किया। ब्रजभाषा और अवधी भी तो खड़ी-बोलीसे, मगहीकी तरह, भिन्न है? हम पुरानी मगहीको खड़ीबोली नहीं कहते, हम उसे प्राचीन हिन्दी कहते हैं; जैसे ब्रजभाषा और अवधीको।

हिन्दी क्या है, पहले इसे आपको समझना चाहिये। सूबा हिन्दुस्तान (हिमालय पहाड़ तथा पजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तेलगू, ओड़िया, बँगला भाषाओंके प्रदेशोंसे घिरे प्रदेश)की आठवीं शताब्दीके बादकी भाषाओंको हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूपको प्राचीन मगही, मैथिली, ब्रजभाषा आदि कहते हैं; और, आजकलके रूप (आधुनिक हिन्दी)को सार्वदेशिक और स्थानीय, दो भागोंमें विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक हिन्दीको खड़ीबोली (जिसे ही फारसी-लिपि तथा अरबी-फारसी शब्दोंकी भरमारपर उर्दू कहते हैं) तथा आजकल भिन्न-भिन्न स्थानोंमें बोली जानेवाली मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी, कन्नौजी, ब्रजमण्डली आदिको आधुनिक स्थानीय हिन्दी-भाषाएँ कहते हैं।

यदि आप कहें कि, दोहाकोष आदिकी भाषाको मगही कौन मानता है, वह तो ठेठ बँगला है। इसका उत्तर तो उन कवियोंके निवास-देश देंगे, जिन्हें मैंने उनके नाम आदिके साथ अपने दूसरे लेख (हिन्दीके प्राचीनतम कवि और उनकी कविता) में दिया है। यहाँ सिर्फ इतना कह देना है कि, यदि (१) उन कवियोंका सम्बन्ध नालन्दा और विक्रमशिलासे रहा है, यदि (२) यह दोनों विद्यापीठ मगही-मैथिली-क्षेत्रोंसे बाहर नहीं रहे हैं, यदि (३) उन सभी कवियोंकी भाषा एक समान रही है; और, यदि (४) उनमें प्रयुक्त हुए शब्द मगही-मैथिली-भाषाओंमें, काल-सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तनके साथ अब भी सबसे अधिक मिलते हैं, तो उन्हें हिन्दीसे बाहर नहीं ले जाया जा सकता।

हिन्दी-स्थानीय भाषाओंके बृहत् संग्रहकी आवश्यकता

परिवर्तनका अटल नियम जैसे संसारकी सभी वस्तुओंपर अधिकार रखता है, वैसे ही भाषापर भी। लेकिन यह परिवर्तन हमेशा कार्य-कारण सम्बन्ध लिये हुए काम करता है, जिससे अपरवर्ती वस्तु (कार्य) पूर्ववर्ती वस्तु (कारण)से बहुत सादृश्य रखती है। यही कारण है कि, बाज वक्त हम वस्तुओंकी परिवर्तनशीलताके विषयमें सन्देहयुक्त हो जाते हैं। इस कार्य-कारण-सहित परिवर्तनका अच्छा उदाहरण हमारा अपना शरीर है। एक ही आदमीके १,२०,४०,५० और ६० वर्षकी अवस्थाओंके चित्र आप उठा लीजिये; सादृश्य और परिवर्तन आपको स्पष्ट मालूम होंगे। मनुष्यके भीतरी (आत्मिक) परिवर्तनको देखना हो, तो किसी चिन्तन-शील पुरुषकी चौदहसे पचास वर्षकी उम्रतककी डायरियाँ पढ़ डालिये। मनुष्यके इस आत्मिक और बाह्य परिवर्तनकी भाँति ही मनुष्यकी भाषाओंमें परिवर्तन होता जा रहा है। किसी जीवित भाषाके कितने ही छोटे-छोटे परिवर्तन तो कोई भी पचास वर्षका समझदार पुरुष आसानीसे बता सकता है। लेकिन सहस्राब्दियोंके परिवर्तनोंके सामने यह परिवर्तन नगण्य है। उस समय तो इतना परिवर्तन हो गया रहता है कि, पहचानना भी असम्भवसा हो जाता है। उदाहरणार्थ आधुनिक मगही (मागधी)को ले लीजिये। इसके आजकलके तथा अठारह सौ वर्ष पूर्व और बाईस सौ वर्ष पूर्वके रूपको ले लीजिये। कितना आमूल परिवर्तन मालूम होगा! चाहे वह परिवर्तन कितना ही आमूल हो, तोभी इसपर सादृश्यका नियम

लागू रहता है। यदि हमें हर शताब्दीकी भाषाओंका नमूना मिल जाय तो इनकी परस्पर समीपता हमें वैसे ही मालूम होगी, जैसे सौ मील जाने-वाले यात्रीके लिये पहले कदमसे दूसरे कदमका फासला। दर-असल भाषा-प्रवाहको भी तो एक यात्रीकी ही भाँति सहस्राब्दियोंका सफर करना पड़ा है। इन्हीं परिवर्तनके नियमोंको भाषातत्त्व कहा जाता है।

भाषा मनुष्यके अन्दर और बाहरके भावोंके प्रकाशन करनेका प्रधान साधन है। इसीलिये इसमें मनुष्यकी अपनी आकृति झलकती है। ऋग्वेदके शब्दोंको सामयिक पेशों तथा गार्हस्थ्य, धार्मिक, सामरिक, खान-पान आदि विभागोमें संग्रह कर डालिये; आपको मालूम हो जायगा कि, ऋग्वेदीय मनुष्य समाजका क्या रूप था। यद्यपि इस प्रकारके साहित्यमें समाजके सारे अङ्गोंका रूप चित्रित नहीं होता, इसलिये इसमें शक नहीं कि, यह चित्र पूर्ण न होगा।

भाषा मनुष्यके समझनेका साधन है, इसमें तो किसीको विवाद नहीं हो सकता। मानव-तत्त्व (*Anthropology*) भी मनुष्यके समझनेका साधन है। आजकल तो इन दोनों साधनोंका परस्पर अविरोधी परिणाम देखकर और भी विद्वानोंका विश्वास इनपर बढ़ चला है। भारतकी आर्य तथा द्रविड़-जातियोंकी भाषाओंमें जैगी अपनी विशेषताएँ हैं, वैसे ही इनकी नासामितियोंमें भी। जहाँ दोनों जातियोंका सम्मिश्रण हुआ है, वहाँ हम भाषा और नासामितियोंका भी वैसे ही सम्मिश्रण देखते हैं। उदाहरणार्थ कन्नड और तेलगू—दो द्रविड़-जातियोंको ले लीजिये। इनकी भाषाओंमें आपको संस्कृतके शब्दोंकी बहुलता मिलेगी; और, नासामिति भी आपको उसी परिमाणमें इनमें आर्य और द्रविड़-नासाओंका मिश्रण बतलायेगी। आर्य-भारतसे मालावारका सीधा सम्बन्ध नहीं है, बीचमें कन्नड तथा दूसरी जातियाँ आ जाती हैं, तोभी मलयालम् भाषामें आपको कन्नड और तेलगूकी अपेक्षा भी अधिक संस्कृत-शब्द मिलेंगे। मलावारियोंकी नासामितिमें आर्य-नासाओंका बहुत अधिक प्रभाव देखकर पहले-पहल मानव-तत्त्वशास्त्रियोंको

भी बड़ा आश्चर्य हुआ; किन्तु आश्चर्यकी कोई बात नहीं। मालावारमें तो ब्राह्मण (प्रवासी आर्य) आजतक भी नायर-स्त्रियोंके साथ, बिना रोक-टोक, सम्बन्ध रखते हैं। हजारों वर्षोंसे नम्बूदरी ब्राह्मणोंके छोटे भाई इस नासामितिको बदलनेके ही लिये नियुक्त हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त कथनसे पाठकोंको मालूम हो जायगा कि, भाषाओंका परिवर्तन अपने अन्दर खास रहस्य रखता है। इसके रहस्यके उद्घाटनके लिये मनुष्य वैसे ही व्यग्र है, जैसे गौरी-शकर-शिखर, ध्रुव-प्रदेश, भूगर्भ आदिकी जिज्ञासामें। इस रहस्यके खुलनेसे मनुष्यके इतिहासपर भी बहुत प्रकाश पड़ता है। भाषा-सम्बन्धी अन्वेषणने ही तो यूरोप, ईरान तथा उत्तरी भारतकी जातियोका एकवंशीय होना सिद्ध किया। इसीने तो बिलोचिस्तानके वहुई तथा मद्रासके द्राविड़ोंका एक होना बतलाया। इसीने तिब्बती, नेवार और बर्मावालोंका एक खान्दान सिद्ध किया।

इसके ऊपर यूरोपकी सभ्य जातियोने बहुत परिश्रम किया है।

इंगलैंडने *English Dialect Society* (इंगलिश स्थानीय भाषा-सभा) कायम की थी, जिसने उपर्युक्त सामग्री संग्रह करनेमें बड़ी सहायता की। इसने *East Yorkshire, East Norfolk, Vale of Gloucester, Midland, West Reading of Yorkshire, West Devonshire, Derbyshire* आदि खास इंगलैंडके ही छोटे-छोटे भागोंकी भाषाओंके सम्बन्धमें बहुत ज्ञातव्य बातोंकी खोज की। स्काच और वेल्स भाषाओंपर भी वहाँ बहुत परिश्रम किया गया है। स्थानीय भाषाओंके व्याकरण और कोष तैयार किये गये हैं। उदाहरणार्थ—

1. W. Barnes, *A Grammar and Glossary of the Dorset dialect, with the history outspreading and bearing of South English.* 2. L. L. Bonaparte, *On the Dialects of Monmouthshire, Hertfordshire, Worcestershire, Gloucestershire, Berkshire* 3. E. Kruisigas, *A*

Grammar of the Dialect of West Somerset descriptive and historical. 4. B. A. Mackenzie, *The early London Dialect.* 5. J. Wright, *The English Dialect Grammar.* 6. J. Wright, *The English Dialect Dictionary.*

अन्य विषयोंकी भाँति फ्रांसने इस विषयमें भी बहुत काम किया है। वहाँ स्थानीय भाषाओंके कितने ही एटलस बने हैं; बहुतसे व्याकरण और कोष लिखे गये हैं; कहावतों और कहानियोंका भी संग्रह किया गया है। *Ch. Bruneau* ने वालों, शम्पेन्वा, लोरेनकी स्थानीय भाषाओंकी सीमा-निर्धारण करनेपर ही (*La limite des dialects Wallon, Champenois et Lorrain on Ardennee*) पुस्तक लिखी है। १८५२-५३ में ही *Escallier* ने स्थानीय भाषाओंके सम्बन्धमें अपनी पुस्तक *Remarque sur le patois* (स्थानीय भाषाओं पर टिप्पणी); *Letters sur le patois* लिखी थी। *Ch. de Tourtoulon* ने *Des dialectes de leur classification et de leur delimitation géographique* लिखी। १९०३-१९१२ में, १९२० चित्रों सहित कई खण्डोंमें *Atlas linguistique de la France* छपा, जिसका मूल्य प्रायः १५० रु० है। दो वर्ष बाद *Atlas linguistique de la corse*, एक सहस्र चित्रोंके साथ, प्रकाशित हुआ। नार्मंडी भाषाका अलग ही *Atlas dialectologique de Normandie* है। इसी प्रकार और भी कितने ही एटलस छपे हैं। Wallon, Doubs, Bearn, Ardenne, Vinzellhs, Blonay आदिकी स्थानीय भाषाओंपर तो कितने ही अलग-अलग व्याकरण और शब्द-कोष लिखे गये हैं।

जर्मनी, रूसी आदि भाषाओंके सम्बन्धमें भी यही बात है। यहाँ एक बात और भी स्मरण रखनी चाहिये। फ्रांस और इंगलैंडकी वह भाषाएँ वस्तुतः स्थानीय उपभाषाओंसी हैं, यदि उनके प्रचारके प्रदेश, बोलनेवालों तथा सर्वमान्य इंगलिश या फ्रेंचसे उनके भेदपर ध्यान दिया जाय। किन्तु

हिन्दीकी स्थानीय भाषाओंमें कुछ तो परिस्थितिके ही फेरमें पड़कर स्थानीय भाषाएँ रह गयीं; अन्यथा मैथिली, ब्रजभाषा तथा राजस्थानीको एक स्वतन्त्र भाषा बननेकी उतनी ही योग्यता है, जितनी गुजराती और बँगलाको। यद्यपि इन भाषाओंका साहित्यिक भाषासे सम्बन्ध सैकड़ों वर्षोंसे छूटा हुआ है; तोभी मनुष्यकी आवश्यकताओंके अनुसार इन भाषाओंने भी विचार प्रकट करनेमें बराबर उन्नति की है। अवतक इनको अलग रहकर अपने अस्तित्वको कायम रखने तथा वृद्धि करनेका मौका रहा है; किन्तु अब वह समय आ पहुँचा है, जब कि, इनकी अवस्था संकटापन्न हो गई है। अन्य बातोंके अति रिक्त दो बातें और हैं, जिनके लिये इन भाषाओंके सग्रहकी बड़ी भारी आवश्यकता है। पहली बात तो यह है कि, खड़ी हिन्दीके सार्वत्रिक व्यवहार और उसी के द्वारा शिक्षा-प्रचार होनेके कारण शिक्षित समाज खड़ीबोलीमें ही लिखने बोलने लगा है। जो लिख-बोल नहीं सकते, वे भी उसे संस्कृति और भद्रताका चिन्ह समझ, बिना संकोच, उसके शब्दों और मुहाविरोंको अपना रहे हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप उनकी अपनी स्थानीय भाषा विगड़ती जा रही है! इसकी सत्यताके लिये आप पटनाकी मगही और कायस्थोंकी भोजपुरीको लेकर देख सकते हैं। जिस तरह यह परिवर्तन हो रहा है, उससे तो यदि यह भाषाएँ नष्ट न हो जायँ, तो कम-से-कम थोड़े ही समयमें इनके इतना विगड़ जानेका डर तो जरूर है, जिससे कि, इनका वैज्ञानिक मूल्य बहुत कम रह जाय और आनेवाली पीढ़ियाँ मानव-तत्त्वकी इस महत्त्वपूर्ण कड़ीको खो देने का इलजाम हमपर लगावें। दूसरी बात यह है कि, खड़ीबोली यद्यपि मूलतः उत्तर-पाञ्चाल या बिजनोर जिलेके आसपासकी भाषा है, तो भी वहाँके भाषा-भाषियोंकी प्रामाणिकताको स्वीकार नहीं किया गया है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि, घरू काम-काज, जीवनकी साधारण अवस्थाओंके उपयोगके शब्दोंकी, हिन्दीमें, बड़ी कमी है। कभी-कभी कोई-कोई हिम्मतवाले लेखक, ऐसे समय किसी स्थानीय भाषाके शब्दका प्रयोग कर देते हैं; किन्तु, तोभी लोग स्थानीयताका दोष लगाते हैं; और,

उस शब्दके प्रचारमें रुकावट होती है। लोग यह भी खयाल करते रहते हैं कि, शायद ये शब्द हमारी ही स्थानीय भाषामें हों; यद्यपि बहुतसे शब्दोंको, एक ही रूपमें, पटना और अम्बालामें प्रचलित पाया जाता है। यदि हम स्थानीय भाषाओके शब्द आदि संग्रह कर सकें, तो जहाँ हम उनका एक सुरक्षित भाण्डार रख देंगे, वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानीय भाषाओंमें कितने ही सर्वसाधारण शब्दोंको भी जमा कर पायेंगे, जिनको खड़ीबोलीमें लेनेमें फिर हिचकिचाहट न रहेगी; और, इस प्रकार, खड़ीबोलीका एक बड़ा दोष दूर हो जायगा। इस वक्त खड़ीबोलीमें इन कामोंके पूरा करनेका एक मात्र साधन संस्कृत है, जिसके कारण हो वाज वक्त लेखकोको अनावश्यक संस्कृत भरनेका दोषभागी बनना पड़ता है। यदि हमने इन भाषाओंको बिगड़ने या नष्ट होने दिया, तो इसका परिणाम यही नहीं होगा कि, हमें अपनी भाषाकी आवश्यकताओको अस्वाभाविक रूपसे पूर्ण करना पड़ेगा; बल्कि वेद, ब्राह्मणसे लेकर, पाली, प्राकृतके ग्रन्थोंतकमें प्रयुक्त होनेवाले उन कितने ही शब्दोंके, परम्परामें चले आये अर्थोंको भी, हम भूल जायेंगे, जिनका प्रयोग आजकल केवल इन्हीं भाषाओंमें पाया जाता है।

उपर्युक्त कथनसे स्थानीय भाषाओंको लेखबद्ध करके सुरक्षित कर देनेकी कितनी आवश्यकता है, यह स्पष्ट ही है। इन विषयमें ग्रियर्सनकी *Linguistic Survey of India* ने बहुत अच्छा काम किया है। शब्द-कोष, व्याकरण तथा कहानियोंपर भी उसमें लिखा गया है; तोभी वहाँ भाषाओके सम्बन्धका स्थूल चित्र ही वाञ्छित था, उनका लक्ष्य सारी भाषाको सुरक्षित कर देनेका नहीं था और न साहित्यिक हिन्दीके कोषको पूर्ण करनेके ही खयालमें वह काम किया गया था। इसलिये वह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। हमें अपनी आवश्यकताके लिये चाहिये हर एक भाषाकी हजारों (१) कहानियाँ, (२) कहावतें, (३) गीत, (४) शिल्प और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्द तथा उन्हींपर अवलम्बित (५) विस्तृत कोष और (६) व्याकरण। कहा-नियोंमें हमें सजीव भाषा मिलेगी। अर्थहीन, किन्तु भाषामें ओज

पैदा करनेवाले निपातोंका व्यवहार, हमें वही मालूम हो सकेगा। भाषामें भाव-चित्रणकी शक्तिका भी परिचय उन्हींमें मिलेगा। इसके अतिरिक्त इतिहास मानस-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदिकी दृष्टिमें महत्त्वपूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिके बारेमें तो कहना ही क्या है। कुछ हदतक इन बातोंकी पूर्ति गीतोसे होगी; किन्तु गीत अपना दूसरा ही महत्त्व रखते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें ऋषि, वर्षा, नक्षत्रों, तारों आदिके सम्बन्धमें तथा दूसरी शिक्षाओसे भरी कितनी ही गद्य-पद्य-मयी कथावते प्रचलित हैं। इन कथावतोंमें, वाज वक्त, मनुष्यके शताब्दियोंके अनुभवका सार बन्द रहता है। यह भी समय पाकर नष्ट होती जा रही है। पुराने लोगोंमें अब भी ऐसे आदर्मी मिलेंगे, जिन्हें यह कथावते मैकड़ोकी मंख्यामें याद हैं। इनके बलपर वह वर्षके भिन्न-भिन्न मासोंमें नक्षत्र देखकर रात्रिके घंटों ओर कृषि-वर्षाके समयका निश्चय कर लिया करते थे। किन्तु यान्त्रिक साधनोंकी सुलभतासे अब लोगो की प्रवृत्ति उधरसे उदासीन होती जा रही है; इसलिये इनके सर्वथा ही विस्मृत हो जानेकी सम्भावना है।

शिल्प-व्यवसाय-सम्बन्धी संग्रहकी तो सबसे अधिक आवश्यकता है; क्योंकि इस विषयपर तो कुछ भी नहीं किया गया है। खड़ी हिन्दीमें इस विषयके शब्दोंकी बड़ी कमी है। इस अपूर्णताके कारण कभी-कभी हमारे उपन्यास-लेखकोंको समाजका अधूरा चित्रही खींचनेपर मजबूर होना पड़ता है! मल्लाहको ही ले लीजिये। क्या उसको अपने काममें नाव, पतवार, पाल—इन तीन ही शब्दोंका व्यवहार करना पड़ता है? नावके सिर, पूँछ, पेट, बारी, पतवार आदिकी नाना किस्मोंके बारेमें तो कहना ही क्या; खोजनेपर आपको नावके ऊपरकी ओर, नीचेकी ओर, जल्दी या तिरछी चलने, चक्कर काटने तथा रस्सीपर चलने आदिके लिये भी कितने ही शब्द मिलेंगे। और, फिर, समुद्रकी नावोंके बारेमें तो कहना ही क्या है। वह तो एक पूरा संसार है, जिसके ज्ञान और आनन्दसे वञ्चित रहना या परोप-

जीवी होना हमारे लिये अच्छी बात नहीं है (हिन्दी-स्थानीय भाषाओंकी सीमा समुद्रसे नहीं मिलती, यह सही है; किन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि, स्थानीय भाषाएँ, गुजराती, मराठी, बँगला, ओड़ियातकके साथ बाज वक्त गजबकी समानता रखती हैं)। यह तो सिर्फ मल्लाही व्यवसायकी बात हुई। अब इसमें आप उन सैकड़ों व्यवसायोंको जोड़ लीजिये, जिनमेंसे कुछके नाम आगे दिये जायँगे। तब इस बातके महत्त्वको आप उपेक्षाकी दृष्टिसे न देख सकेंगे। जब हमारे पास कहानियों, कहावतों, गीतों और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्दोंका एक पूरा भाण्डार जमा हो जायगा, तब उससे उस स्थानीय भाषाका एक अच्छा व्याकरण और कोष तैयार किया जा सकेगा।

अब हमें विचार करना है कि, यह काम कहाँतक साध्य है; और, इसे किस प्रकार करना चाहिये। साध्य होनेके विषयमें तो इतना ही कहना है कि, जो बातें दूसरे देशोने पचासो वर्ष पूर्व ही कर डाली, वह यहाँ आज क्यों नहीं हो सकती? और जगहोंपर भी, सरकारकी अपेक्षा, लोगोंने, इसके बारेमें, बहुत काम किया है। साध्य और असाध्य तो हम कार्यके ढँगको देखकर अच्छी तरह बतला सकेंगे। हमारे कामके दो भाग होंगे; एक तो संग्रहका काम, अर्थात् ढूँढ-ढूँढकर शब्दोंको जमा करना और दूसरा, व्याकरण, कोषका निर्माण करना। यद्यपि दूसरे काममें बड़ी दक्षताकी आवश्यकता है, तोभी यह संगृहीत सामग्री लेकर एक जगह बैठे-बैठे किया जा सकता है; और, इस कामके लिये ऐसे हिन्दी-भाषी योग्य विद्वान् दुर्लभ न होंगे, जो कि, बड़े उत्साहपूर्वक, जल्दी, उसे समाप्त कर देंगे। सबसे परिश्रमसाध्य और यदि उस तरह किया जाय, तो व्यय-साध्य कार्य है संग्रहका। इसके लिये हमें अपने जिलेको स्थानीय भाषा-विभागोंमें बाँट देना होगा। आप कहेंगे, जिलेको बाँटकर क्या स्थानीय भाषाओंमें भी उप-विभाग करेंगे? ऐसे तो एक गाँव से दूसरेगाँवमें भी भाषामें कुछ अन्तर पड़ने लगता है? नहीं, मेरा मतलब यहाँ हर जगहके लिये नहीं है। यदि कहीं समझा जाय कि, वहाँ भाषामें वैसा कोई खास भेद नहीं है, तो उसे छोड़ दिया जाय;

किन्तु कितनी ही जगहोंपर ऐसा करना जरूरी होगा। उदाहरणार्थ भोजपुरीको ले लीजिये। सम्पूर्ण आरा, छपरा और चम्पारनके जिले तथा गोरखपुर, बलिया और गाजीपुर जिलोंके अधिकांश भाग एवम् आजमगढ़के कुछ परगने असल भोजपुरीके क्षेत्र में आते हैं। बनारस आदिकी भाषा काशिका वस्तुतः सीमान्त-भाषा है; और, उसमें स्वर तो भोजपुरीका विलकुल ही नहीं, जो कि, भाषाके लिये, व्याकरणके अन्य अङ्गोंकी अपेक्षा, कम महत्त्वका नहीं है। यदि छपरा (सारन) जिलावाले अपने जिलेमें इस कामको करना चाहें, तो उन्हें अपने जिलेको तीन भागोंमें बाँटना होगा। पहले भागमें गोरखपुर जिला, सरयूनदी, गण्डक-नदी, दाहा-नदी (पीछे सीवानतक), मीरगंज और गोपालगंज-थानोंसे घिरा खण्ड होगा। इसमें सारा कुआड़ीका परगना तथा कितने ही दूसरे भाग आ जायेंगे। (इस तरहके उप-भाषाओंके क्षेत्र-विभागमें परगने बाज वक्त बड़ा महत्त्वपूर्ण फैसला देते हैं। स्मरण रहे, परगने प्रायः इसी रूपमें मुसलमानी शासनके पहलेसे चले आ रहे हैं)। दूसरे हिस्सेमें हम मिर्जापुर, दिघवारा, परसा और सोनपुर-थानोंको रख सकते हैं। बाकी हिस्सेको तीसरे भागमें रखा जा सकता है। यद्यपि पहले और तीसरे हिस्सोंमें “गउवै” (गये), “अउवै” (आये) तथा “गइलै”, “अइलै” जैसे कितने ही भेद मिलेंगे, तो भी इनको छोड़ दिया जा सकता है; किन्तु बाकी चार थानोंके लिये तो विशेष ध्यान देना ही पड़ेगा; क्योंकि वहाँके सिर्फ “नः” (ह्रस्व ए नहीं)को ही ले लीजिये; जो कि, आसपासके किसी स्थानसे न मिलकर गण्डकपारके मुजफ्फरपुर-जिलेके अपने पड़ोसी भागसे मिलता है। ईसासे पाँच शताब्दियाँ पूर्व यह भाग वस्तुतः उस पारसे मिला हुआ था; किन्तु मुसलमानोंके आनेसे पूर्व—सम्भवतः युन्-च्चेड के आनेसे भी पूर्व—मही अपनी पुरानी धारको छोड़कर गण्डक बन चुकी थी। ऐसे उदाहरण, और जिलोंमें भी, मिल सकते हैं।

इस प्रकार पहला काम तो हमें जिलोंका ऐसा विभाग करना है। यह अवश्य ही है कि, यह विभाग करना सबके बसका काम नहीं है। भाषा-

विज्ञानके अतिरिक्त इसमें जिलेके भाषा-विज्ञानकी भी काफी जानकारी आवश्यक होगी। लेकिन इस दिक्कतको हम बहुत कम कर सकें यदि हम पहले एक ही भाषाके एक ऐसे जिलेको ले लें, जहाँके लिये ऐसे विशेषज्ञ मिल सकें। यदि वह जिला अपने सारे कामको खतम कर पावे, तो उसके अनुभवसे दूसरी जगहवाले बहुत फायदा उठा सकते हैं। विभाग कर चुकनेपर हमें संग्रह करनेवालोंकी एक काफी संख्या चाहिये। फिर, जिस किसीको भी तो यह काम, सिर्फ लिखा-पढ़ा होनेसे, सौंपा नहीं जा सकता। इसके लिये, चोट-फोटकी आरम्भिक सहायताकी भाँति, एक तीन-चार सप्ताहका कोर्स रखना होगा; और, सिखलाना होगा कि, सामग्री-सञ्चयके लिये निम्न बातोंका खयाल रखें—

(१) स्थान ऐसा ढूँढें, जहाँकी भाषा बाहरी प्रभावसे कम प्रभावित हुई हो।

(२) बोलनेवाला यथासम्भव अपठित, व्यवहारकुशल तथा रूप खड़ाकर बंधड़क बोलनेवाला हो। यदि वह स्त्री हो, तो और अच्छा।

(३) जब उपर्युक्त दोनो बातें मिल गईं, तो लिखनेवाले संग्राहकको अपनेको निर्जीव ग्रामोफोन मशीन मान लेना चाहिये। वक्ताके किसी उच्चारण आदिको शुद्ध करके लिखनेका खयाल भी कभी मनमें न आने देना चाहिये।

(४) लम्बी कथाओंसे परहेज न करना चाहिये।

(५) वीरता, उदारता, प्रेम, माता-पिताकी भक्ति, साहसपूर्ण कार्य, वाणिज्य, शिक्षा, देवाराधन, तीर्थाटन, वैराग्य, जन्म, मरण आदि सभी विषयोंके गद्य, पद्य और गीतिमय वर्णन इकट्ठे करने चाहिये।

(६) निपात आदिके शब्द तथा शब्दानुकरणोंको न छोड़ना चाहिये।

लेकिन यहाँ एक बात और कहनी होगी। यद्यपि नागरी वर्णमाला वैसे देखनेमें पूर्ण मालूम होती है, किन्तु कुछ आवाजोंको जाहिर करनेके लिये इसमें अक्षर नहीं हैं। उनके लिये अलग स्पष्ट चिन्ह निश्चित करने होंगे।

उदाहरणार्थ हमारी भाषाओंमें ह्रस्व ए और ओ का उच्चारण भी बहुत देखा जाता है। खड़ी बोलीतकमें “एक” कितनी ही बार ह्रस्व ए के साथ उच्चारित होता है। इस दिक्कतके कारण कितनी ही बार एके स्थानमें इ और ओके स्थानमें उका व्यवहार होने लग पड़ा है। अ का भी एक विशेष उच्चारण है, जिसे पश्चिमी युक्तप्रान्तके शहरोके लोग “कहना” के कके अको उच्चारण करते हुए करते हैं; उस वक्त इसका उच्चारण कुछ एकी ओर झुक जाता है, तोभी ह्रस्व ए नहीं हो जाता। इसका उच्चारण जर्मन भाषामें ä द्वारा प्रकट किया जाता है। हिन्दीमें अके ऊपर दो बिन्दी (अं) रखकर उसे किया जा सकता है। इसी प्रकार उके इकी ओर झुकते उच्चारणको उपर दो बिन्दी (उं) तथा ओके इकी तरफ झुकते उच्चारणको ओपर दो बिन्दी (ओं) देकर जाहिर किया जा सकता है। युक्तप्रान्त, बिहार और मध्यप्रदेशमें इतनेसे काम चल जायगा, किन्तु राजपूताना और दिल्ली प्रान्तमें घ, च, ड आदिके विशेष उच्चारणोंके लिये अलग चिन्ह करने होंगे। नये चिन्हों और विशेष सावधानियोंको समझानेके लिये ३, ४ सप्ताहका विशेष कोर्स काफी होगा। यदि जिला बोर्डों, म्युनिसिपलिटियोंके शिक्षा-विभाग तथा कुछ दूसरे भी उत्साही सज्जन इसके लिये तैयार हो जायें, तो संग्राहकोंका मिलना कठिन न होगा; न व्ययके ही लिये बहुत तरद्दुद करना पड़ेगा।

कथाओं, कहावतों तथा गीतोंकी अपेक्षा, नाना व्यवसायोंमें उपयुक्त होनेवाले शब्दोंके लिये, कहीं-कहीं कुछ विशेष परिश्रम करना पड़ेगा। इसका अन्दाज़ यहाँ दिये गये कुछ पेशोंसे मालूम हो जायेगा—

१ लोहार	६ सोनार	११ मेहतर	१६ कसेरा
२ बढ़ई	७ चमार	१२ हलवाई	१७ चिड़ीमार
३ धोबी	८ जुलाहा	१३ कोइरी	१८ तेली
४ मल्लाह	९ पटवा	१४ ग्वाला	१९ कलाल
५ हजाम	१० मछुआ	१५ गँडेरिया	२० हलवाहा

२१ माली	३२ भड़भूँजा	४३ पहननेकी चीजें	५४ भेड़-वकरी सम्बन्धी शब्द
२२ ओझा	३३ तम्बोली	४४ घरके बर्तन	५५ ऊसर आदि भूमिके भेद
२३ कुम्हार	३४ पासी	४५ कालवाची शब्द	५६ वृक्ष-भेद
२४ चूड़ीवाला	३५ दर्जी	४६ नक्षत्रवाची शब्द	५७ जलचर
२५ संगतराश	३६ चोर	४७ भूतवाची शब्द	५८ थलचर
२६ रंगरेज	३७ वेश्या	४८ स्थानीय परगना, तप्पा(टप्पा)आदि के नाम	
२७ कसाई	३८ जुआरी	४९ नाप और मान	५९ नभचर
२८ धुनिया	३९ नशाखोर	५० घोड़े-सम्बन्धीशब्द	६० विपधर जन्तु
२९ पहलवान	४० साधुओंके शब्द	५१ हाथी ,, ,,	६१ हिमक जन्तु
३० राजगीर	४१ खानेकी चीजें	५२ बैल ,, ,,	६२ अनाजोंके नाम
३१ नुनिया	४२ सोनेकी चीजें	५३ गदहा ,, ,,	६३ वही-खाता ६४ आभूषण

सभी कामको मुचारु रूपसे करनेके लिये एक प्रबन्धक समिति तथा एक सम्पादक-मण्डलकी आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त एक संग्राहकोंका मण्डल रहेगा। सम्पादक-मण्डलमें उच्च कोटिके प्रामाणिक पुरुषोंकी अनेक जगह कमी रहेगी; किन्तु उसमें बाहरके मर्मजोंसे सहायता ली जा सकती है। हाँ, हल्के दिलसे यह काम नहीं किया जा सकता। विशेषतः व्याकरण और शब्द-कोषका काम तो बहुत ही सावधानीका है।

व्याकरण—हर एक उपस्थानीय भाषाका अलग व्याकरण न बनाकर किसी जगह की भाषा—जो दूसरी भाषाओं द्वारा अधिक अप्रभावित हो, या अधिक प्रचलित हो, या केन्द्रमे हो—को मध्यस्थ बनाकर बाकी भेदोंको उसके द्वारा बतलाना।

कोष—इसमें खड़ीबोलीमें प्रचलित पर्यायवाची शब्दोंके अतिरिक्त

संस्कृत के विगड़े तथा "देशी" शब्दोंके लिये प्राकृत तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओंके पर्याय भी देने चाहियें।

यह काम अच्छा है, यह तो सभी कहेंगे; किन्तु इसकी दिक्कतोंका लोगोको बहुत खयाल होगा। यह भय तबतक दूर न होगा, जबतक किसी एक भाषाका संग्रह पूरा न हो जाय। एकके तैयार हो जानेपर दूसरोंको उस तजर्बेसे बहुत फायदा होगा और दिक्कतोंका खयाल भी कम हो जायगा। यदि पहले ऐसे स्थानमें काम किया जाय जिसमें निम्न विशेषताएँ हों, तो काम आदर्श रूपमें, कम व्यय और कम समयमें, समाप्त हो जायगा; और, इससे दूसरे भी जल्दी उत्साहित हो सकेंगे—

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो। (२) जिस भाषाके (कई शताब्दियोंके अन्तरसे) अनेक रूप उपलब्ध हों जिससे कि, तुलनात्मक अध्ययनमें पूरी मदद मिल सके। (३) जहाँ भाषातत्त्वज्ञ तथा उस भाषाके मर्मज्ञ भी मिल सकें। (४) जहाँकी स्थानीय संस्थाएँ इसके लिये तैयार हों। (५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्ता सुलभ हों। (६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।

मेरे खयालमें ऐसी भाषा मगही है। इसका क्षेत्र पटना और गयाके जिले हैं, जिनका क्षेत्र-फल ६,७७६ वर्गमील है; और, १९२१ ई० की जन-गणनामें जनसंख्या २७,२७,२१७ थी। मगही-भाषाके कितने ही रूप उपलब्ध हैं, जिनका जिक्र मैंने अपने दूसरे लेखमें किया है।

तिब्बतमें भारतीय साहित्य और कला

तिब्बतकी यात्रा और दृष्टियोंसे भी अत्यन्त मनोरंजक है, लेकिन मैं तो तीन बार तिब्बत सिर्फ साहित्यिक खोजके लिए ही गया हूँ। पहली बार (तिब्बत जानेसे पहले और जानेके बाद भी) मेरी यही धारणा रही कि भारतीय ग्रन्थोंके तिब्बती भाषान्तर ही वहाँ मिल सकते हैं। भारतसे गये मूल-संस्कृत-ग्रन्थोंके मिलनेकी बहुत कम संभावना है। पहली बार जिन लोगोंसे मैंने संस्कृत-ग्रन्थोंके बारेमें पूछा, उन्हें उनका पता नहीं था, और उनके ऊटपटाँग उत्तरसे ही मेरी वह धारणा हुई थी। लेकिन जब मैं २२ खच्चर पोथियोंको लेकर पहली बार तिब्बतसे लौटा और अपनी छोटी पुस्तक 'तिब्बतमें बौद्धधर्म'के लिखनेके लिये उसकी ऐतिहासिक सामग्रीकी देखभाल करने लगा, तो मालूम हुआ कि भारतसे गये हजारों संस्कृत-ग्रन्थ तिब्बतमें भले ही न प्राप्त हों, किन्तु वहाँ कुछ संस्कृत-ग्रन्थ जरूर मिलेंगे। पहली बार तिब्बतसे लौटनेके बाद महान् बौद्ध नैयायिक धर्म-कीर्ति-जिन्हे पश्चिमके सर्वश्रेष्ठ जीवित भारत-तत्त्वज्ञ आचार्य शेरवात्स्की (लेनिनग्रेड) भारतका काण्ट कहते हैं—के प्रधान ग्रन्थ प्रमाण-नार्तिनको तिब्बती भाषासे संस्कृतमें अनुवाद भां करने लगा था, लेकिन उसी समय मेरे मित्र श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार नेपाल गये थे और उन्होंने राजगुरु प० हेमराज शर्माके पास उसकी संस्कृत प्रति देखी। संस्कृत प्रति खंडित थी, तो भी उस समय मुझे जान पड़ा कि संस्कृत प्रतियोंकी पूरी खोज किये बिना तिब्बती भाषासे संस्कृत करनेका काम हाथमें न लेना चाहिये। कहीं ऐसा

न हो कि तिब्बती भाषासे संस्कृत कर देनेके बाद मूल संस्कृत मिल जाय और फिर सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाय।

१९३४ ई० की दूसरी तिब्बत-यात्रा मैंने खास इसी मतलबसे की थी और १९३६ ई०में तीसरी बार भी संस्कृत-ग्रन्थोंकी खोजमें ही गया था। दूसरी यात्रामें मैंने ४० के करीब संस्कृतकी ताल-पोथियोंके बंडल देखे और तीसरी बार ८०के करीब नयी पोथियाँ देखीं। एक पोथीसे मतलब एक पुस्तक नहीं। पोथी मैं यहाँ वेष्टनके अर्थमें ले रहा हूँ और एक पोथीमें अपूर्ण पुस्तक भी हो सकती है और अनेक पुस्तके भी। इस प्रकार दूसरी यात्रामें खंडित और अखंडित १८४ ग्रन्थ देखे थे और तीसरी बार खंडित और अखंडित १५१ ग्रन्थ देखे। पिछली यात्रामें कुछ दार्शनिक ग्रन्थ मिले थे। लेकिन उस समय फोटोका सामान पूरा न होनेसे तथा लिखनेके लिये समयका अभाव रहनेसे मैं धर्मकीर्तिके वादन्याय (सटीक) और प्रमाणवार्तिकके आधे अध्यायके भाष्यको ही लिख कर ला सका। अन्य ग्रन्थोंकी सिर्फ सूची बना सका था जो, १९३५के बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीके जर्नलमें छपी है। इस बार विशेषकर उन्ही दार्शनिक धर्मकीर्ति तथा दूसरे बौद्ध दार्शनिकोंके ग्रन्थोंकी खोजमें ही वहाँ जाना पड़ा था और उसमें इतनी सफलता हुई है कि जितनी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। वस्तुतः तिब्बत जाते समय एक दिन मुझे स्वप्न भी आया था। जिसमें मैंने देखा कि कोई आदमी तालकी पोथियोंका एक बंडल बाँधकर मुझे दे गया। बंडलको खोलनेपर उसमें दिङ्नागका प्रमाण-समुच्चय, धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्तिक तथा इसी तरहकी कुछ और न्यायकी पुस्तकें थी। यद्यपि इस यात्रामें भी बौद्ध न्यायका मूल ग्रन्थ दिङ्नागका प्रमाणसमुच्चय नहीं मिल सका, और जबतक वह नहीं मिल जाता तब तक मैं अपने कामको अधूरा ही समझूँगा, तो भी उस स्वप्नमें मुझे जितनी पुस्तकें मिली थीं उनसे कही अधिक मिली हैं। न्याय ग्रन्थोंमें मुझे निम्न ग्रंथ मिले हैं।

१—**नागार्जुन**की विग्रहव्यावर्तनी-कारिका (स्ववृत्ति-सहित) । इस ग्रंथका विषय यद्यपि दर्शन है तो भी उसमें न्याय-सम्बन्धी बातें भी आती हैं और एक प्रकारसे अबतक किसी भाषामें उपलभ्य बोद्ध न्याय ग्रंथोंमें यह सबसे प्राचीन है । वात्सायनने न्याय भाष्यमें इसका खंडन किया है, और जान तो पड़ता है कि न्याय-सूत्रकार दूसरे अध्यायमें इस ग्रंथके कुछ मतोंका खंडन करते हैं ।

२—**धर्मकीर्ति**—प्रमाणवार्तिक तीन परिच्छेद मूल ।

३—**प्रमाण-वार्तिक-वृत्ति** (आचार्य मनोरथनन्दी कृत) चारों परिच्छेदपर सम्पूर्ण । प्रमाणवार्तिक बहुत ही कठिन ग्रन्थ है और उसकी यह वृत्ति आशासे अधिक सरल है ।

४—**प्रमाणवार्तिक** (स्ववृत्ति) । धर्मकीर्तिने अपने मुख्य ग्रन्थके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर स्वयं वृत्ति लिखी थी । इस वृत्तिका एक चतुर्थांश इस यात्रामें मिला ।

५—**स्ववृत्ति-टीका**—(आचार्य कर्णकगोमी कृत) । यह धर्मकीर्तिकी स्ववृत्तिपर एक अच्छी टीका है जो आठ हजार श्लोकोंके बराबर है । यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मिल गया है ।

६—**प्रमाणवार्तिक-भाष्य** (प्रज्ञाकरगुप्त कृत) । प्रज्ञाकरने स्वार्थानुमान परिच्छेद छोड़कर बाकी तीन परिच्छेदोंपर विस्तृत भाष्य लिखा है । प्रज्ञाकर नैयायिक और कवि थे । उनका १।२ ग्रन्थ पद्यमें है और कितने ही पद्योंमें काव्यका आनन्द आता है । संस्कृत दार्शनिकोंमें गद्यपद्यमिश्रित ग्रन्थ लिखनेकी प्रणाली चलानेवाले प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं । ये नालंदाके आचार्य थे । इनकी शैलीका अनुकरण पिछली शताब्दियोंमें उदयनाचार्य और पार्थसारथिमिश्रने किया है । प्रज्ञाकर महान् बौद्ध नैयायिकोंमेंसे एक हैं । पिछली यात्रामें मुझे प्रज्ञाकरके इस ग्रन्थके डेढ़ही अध्याय मिल सके थे, और आधा अध्याय मैं लिखकर लाया था जो बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसा-

स्टीके त्रैमासिकमें निकल भी चुका है। इस यात्रामें इस सम्पूर्ण ग्रन्थका एक दूसरा तालपत्र मिल गया।

७—**दुर्वेकमिश्र**। धर्मोत्तर-प्रदीप। धर्मकीर्तिके 'न्याय विन्दु'पर आचार्य धर्मोत्तरकी पंजिका संस्कृतमें छप चुकी है, उसी पंजिकाकी यह टीका है और संभवतः मगधके किसी ब्राह्मण बौद्ध पण्डितने यह टीका लिखी है।

८—**धर्मकीर्तिके ग्रन्थ** 'हेतुविन्दु'पर धर्माकरदत्तकी टीका थी जो अब अनुपलब्ध है। उसी ग्रन्थपर दुर्वेकमिश्रने यह टीका लिखी है।

९—**रत्नकीर्ति**। इनके न्यायपर छोटे छोटे नौ निबंध (सर्वज्ञसिद्धि, अपोहसिद्धि, क्षणभंगसिद्धि, प्रमाणान्तर्भाव-प्रकरण, व्याप्तिनिर्णय, स्थिर-सिद्धिदूषण, चित्ताद्वैतप्रकरण, अवयविनिराकरण, सामान्यनिराकरण) इनमेंसे तीनको छोड़कर बाकी सब अनुपलब्ध थे। रत्नकीर्ति १०वीं शताब्दीके चतुर्थ पादमें विक्रमशिलाके प्रधान आचार्य थे।

१०—**ज्ञानश्री**। क्षणभंगाध्याय। बौद्धोंके मुख्य सिद्धान्त, कि दुनिया की सभी वस्तुयें क्षणिक हैं, इसका इसमें प्रतिपादन किया गया है और त्रिलोचन (वाचस्पतिमिश्रके गुरु) शंकर आदि प्राचीन ब्राह्मण नैयायिकोंके मतका खंडन किया गया है। इसी ग्रन्थके आक्षेपोंके उत्तरमें उदयनाचार्यने अपने आत्मतत्त्व-विवेक (या बौद्धाधिकार)को लिखा है।

११—किसी अज्ञात आचार्यने '**तर्क-रहस्य**' नामक न्यायका एक ग्रन्थ लिखा है।

१२—शायद उसी अज्ञात आचार्यने '**बाबरहस्य**' नामक दूसरा ग्रन्थ लिखा है; जिसका कि प्रथम अध्याय उदयनके आत्मतत्त्वविवेकके खंडनमें लिखा गया है।

इस यात्रामें उपलब्ध हुए दार्शनिक ग्रन्थोंमें निम्नलिखित ग्रन्थ बड़े महत्वपूर्ण हैं—

१—**असंग** (४ थीं शताब्दीका अन्त)। योगाचारभूमि। योगाचार-के सिद्धान्त आचार्य शंकरके वेदान्तसे बहुत मिलते हैं, इसी कारण प्रति-

द्वन्द्वियोंने शंकरको प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। आचार्य असंग बौद्ध विज्ञान-वादियोंके प्रधान आचार्य हैं और उनके इसी ग्रन्थके नामपर पीछे सम्प्रदायका नाम ही योगाचार पड़ गया। इस ग्रन्थके अनुवाद तिब्बत और चीनकी भाषाओंमें हो चुके हैं।

२—**वसुबन्धु**। अभिधर्म-कोष-भाष्य। बौद्ध दर्शनके जाननेके लिए यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। चीनी और तिब्बती दोनों भाषाओंमें इसके अनुवाद मिलते हैं। चीनी भाषासे फ्रेंचमें भी इसका अनुवाद हो चुका है, किन्तु ऐसी आशा नहीं थी कि वसुबन्धुका भाष्य मूल संस्कृतमें मिल जायगा।

३—**भाष्य**। तर्कज्वाला (या मध्यमकहृदय)। योगाचार-माध्यमिक सम्प्रदायका यह एक बड़ा ही प्रौढ़ ग्रन्थ है, जिसमें अनेक बौद्ध-वाह्य भारतीय दर्शनोंकी खूब आलोचना की गई है।

इनके अतिरिक्त अभिधर्म-समुच्चय, महायानोत्तर-तन्त्र मध्यमकविभंग-भाष्य (वसुबन्धु) आदि ग्रन्थोंके भी खंडित अंश मिले हैं। कनिष्कके समकालीन कवि मातृचेतके अध्यक्ष-शतककी भी एक पूरी प्रति मिली है जिसमें बुद्ध और उनके सिद्धान्तोंका स्तुतिरूपमें वर्णन किया गया है। यह चीनी परिव्राजकोंके भारत आनेके समय नालंदा आदि विद्यापीठोंमें बहुत प्रचलित था।

तीसरी बार मैंने प्रायः ४० हजार श्लोकों (१ श्लोक=३२ अक्षर)के बराबर ग्रन्थोंको लिखा तथा १ लाख ६० हजार श्लोकोंके बराबर फोटो लिये। फोटोकी सामग्रीकी कमीसे सभी आवश्यक ग्रन्थोंका फोटो नहीं लिया जा सका। फिर भी जो दो लाख श्लोकोंकी सामग्री मैं अपने साथ लाया हूँ वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और जिसके सुचारु रूपसे सम्पादन करनेमें दर्जनों विद्वानोंको अगले बारह वरस लगाने होंगे। ग्रन्थोंकी सूचना पाते ही कितने ही भारतीय और भारतसे बाहरके विद्वानोंने पत्रों-द्वारा हर्ष प्रकट किया है और इस काममें सहायता देनेकी इच्छा भी प्रकट की है। इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिये कितनी ही भारतीय और अभारतीय संस्थाएँ

सहर्ष तैयार हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूँ कि इनमें अधिकांश ग्रन्थोंका प्रकाशन बिहारसे ही होना चाहिए, क्योंकि इनके रचयिताओंमें अधिक बिहारके नालंदा और विक्रमशिला विद्यालयोंके विद्वान् थे और तालपत्र-ग्रन्थ भी प्रायः सभी बिहारमें ही लिखे गये थे।

इन ग्रन्थोंमें हिन्दीके आदि-काव्य सिद्ध सरहपाके दोहाकोष तथा कुछ और हिन्दी पद्य हैं। अबतक हिन्दी कविता-कालका आरंभ ग्यारहवीं शताब्दीसे माना जाता था और उसके माननेका भी कोई वैसा प्रमाण नहीं था। ८४ सिद्धोंके कालपर मैं अलग लिख चुका हूँ जो फ्रांसीसी भाषाकी अति सम्मानित अन्वेषण-पत्रिका जूर्नाल-आसियातिकमें अनूदित होकर छप चुका है, और ग्रियर्सन जैसे भाषा-तत्त्वके विद्वानोंने भी इस कालको स्वीकार कर लिया है। सरहपा ८०० ईस्वीमें मौजूद थे, क्योंकि तिब्बती भाषामें अनूदित ग्रन्थ उन्हें पालवंशी महाराज धर्मपाल (७७०-८२५ ई०)का समसामयिक मानते हैं। मैं चाहता हूँ कि सरहपाके सभी हिन्दी काव्यग्रन्थ मूल हिन्दीमें या तिब्बती अनुवादके रूपमें आधुनिक भाषान्तरके साथ सरह-ग्रन्थावलीके नामसे प्रकाशित किये जायँ जिसमें इस महान् हिन्दी कविके चरित और व्यक्तित्वपर भी प्रकाश डाला जाय।

पिछली यात्रामें ही तिब्बतमें मैंने बोध-गया-मन्दिरके पत्थरके तीन और लकड़ीका एक नमूना देखा था। इनमें पत्थरवाले नमूने गयाके पत्थरके हैं। शायद बारहवीं शताब्दीसे पहले यामें ऐसे नमूने बनकर बिका करते थे। तिब्बतके यात्री अपने साथ इन नमूनोंको ले गये थे और आजकल वे नर्थङ्ग तथा स्-क्याके मठोंमें रखे हुए हैं। उनके देखनेसे मालूम होता है कि बोधगयाके प्रधान मंदिर (जिसके पूरब तरफ तीन दरवाजे थे)के पश्चिमकी ओर बोधिवृक्षके पास भी एक दरवाजा-सा था। उसके आसपास, बहुतसे स्तूप और मंदिर थे और सभी एक चहारदिवारीसे घिरे थे; जिसमें दक्षिण, पूर्व, उत्तरकी ओर तीन विशाल द्वार भिन्न भिन्न आकारके थे। वर्तमान बोधगया मंदिरका, जब पिछली शताब्दीमें जीर्णोद्धार हुआ तो

उसके कितने ही भाग गिर गये थे और जीर्णोद्धारकोंके सामने पुराने मंदिर-का कोई नमूना नहीं था, इसीलिये तिब्बतमें प्राप्य नमूनेसे वर्तमान मंदिरमें कही कही विभिन्नता पाई जाती है।

तिब्बतके कुछ विहारोंमें कितने ही भारतीय चित्रपट भी मिलते हैं, जिनका अजन्ताकी कलासे सीधा सम्बन्ध है। इन चित्रोंके फोटो लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी, लेकिन उनके फोटोके लिए खास प्लेटकी जरूरत थी जो मेरे पास मौजूद न थे।

सा-सूक्य मठके ग्य-ल्ह-खड्गमें छोटी छोटी कई सौ पीतलकी मूर्तियाँ हैं जिनमें सौ से अधिक भारतसे गई हुई हैं। इनके बननेका समय ५वीसे १२वीं शताब्दी तक हो सकता है। इनमें ढाई दर्जनसे अधिक मूर्तियाँ तो कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त सुन्दर हैं। कुछ मूर्तियोंपर लेख भी हैं! मैंने कितनी ही मूर्तियोंका इस बार फोटो लिया है।

पहली यात्राओंकी अपेक्षा मेरी इस बारकी यात्रा ग्यांची, टशीलुम्पो, सा-सूक्या इस छोटेसे त्रिकोण—जिसकी प्रत्येक भुजा ६०-६५ मीलसे अधिक नहीं होती—तक ही परिसीमित रही है। यह त्रिकोण वस्तुतः भारतसे सम्बन्ध रखनेवाली साहित्य और कलाकी अनमोल सामग्रियोंका अच्छा संग्रह रखता है। मैं कमसे कम एक बार और मध्य-तिब्बतकी यात्रा करना चाहता हूँ और अच्छी तैयारीके साथ, जिसमें कि तिब्बतके जिन जिन भागोंमें भारतीय वस्तुओंके होनेकी संभावना पाई जाती है वहाँ वहाँ जाकर सभी चीजोंकी प्रतिलिपि या फोटो लिया जा सके।

(१५)

सारन (बिहार)

विस्तार और सीमा

‘सारन’ बिहारकी तिहुंत कमिश्नरीका एक जिला है। इसका क्षेत्र-फल २६७४ वर्गमील है। यह गोरखपुर, बलिया, आरा, पटना, मुजफ्फरपुर और चम्पारन जिलेसे घिरा हुआ है। इसकी उत्तरी और पूर्वी सीमा, गंडक, पश्चिमी सीमा घाघरा (सरयू) और दक्षिणी सीमा गंगा है।

इतिहास

प्राचीन समयमें कुछ दक्षिणपूर्वी भागके अतिरिक्त, सभी सारन जिला प्राचीन मल्ल देशमें था, जिन मल्लोकी एक शाखाके गणतंत्रकी राजधानी ‘कुसीनारा’ (वर्तमान कसया, जि० गोरखपुर) थी। बुद्धके समयमें ‘गंडक’का नाम “मही” पाली-ग्रन्थोंमें मिलता है; और उसीको मध्यदेशकी यमुना, गंगा, सरयू, अचिरवती (राप्ती) और ‘मही’ में से एक कहा गया है। आज भी महरौड़ा फैक्टरीसे होकर बहनेवाली नदीका निचला भाग ‘मही’के नामसे ही प्रसिद्ध है। यह ‘मही’ शीतलपुर स्टेशनके पास आकर पूरब तरफ भूम जाती है और सोनपुरमें हरिहरनाथ महादेवके पास जाकर गंडकसे मिल जाती है। बुद्धके समय गंडक इसी धारासे बहा करती थी और शीतलपुर या दिघवाराके पास कहींपर गंगासे मिलती थी। उस समय ‘मही’के पूर्वका भाग—जिसमें आजकल दिघवारा, मिर्जापुर, परसा और सोनपुरके थाने हैं—गंडक-पारके देशसे मिला था। यह भाग

इस प्रकार वैशालीके शक्तिशाली प्रजातंत्रके अधीन था। आज भी इस भागकी भाषा सारनके और भागोंकी भाषासे कुछ भेद रखती है, और मुजफ्फरपुर जिलेके गंडकके किनारेवाले भागकी भाषासे मेल रखती है। उदाहरणार्थ जहाँ सारनके और भागोंमें “न” (नही) कहते हैं, वहाँ, यहाँके लोग “नँ” (नहीं) कहते हैं। वस्तुतः यह बोली आसपासकी भोजपुरी, मगही और मैथिली बोलियोंसे भिन्नता रखती है। यह भाग, जो पहले वैशालीके लिच्छवी क्षत्रियोंके वज्जी-गणतंत्र (पंचायती राज्य) में था, गंडककी धाराके बदल जानेसे ‘सारन’ में चला आया। आज भी “मही” के पूर्वकी भूमि अधिकतर “बलुवा” (वालुका-मिश्रित) है, और साथ ही हरदिया आदिके ‘चौर’ (झील) भी इसी भागमें पड़ते हैं, जो बतला रहे हैं कि, किसी समय गंडककी धार इन्हीं जगहोंसे बहती थी। लोग भी कहते हैं कि, यह सारी भूमि गंडककी चाली हुई है।

इस प्रकार वर्तमान ‘सारन’ जिला प्राचीन मल्ल और वज्जी देशोंके भागसे बना है। उक्त दोनों ही देश स्वतन्त्रताप्रिय और प्रजातंत्रवादी थे। कौन कह सकता है कि, आज सारन-वासियोंमें जो निर्भीकता, जो स्वातंत्र्य-प्रियता जो उद्योगिता, जो साहसिकता पाई जाती है; उसको उन्होंने अपने सहस्रों वर्ष पूर्वके पूर्वजोंसे वरासतमें नहीं पाया है? गणतंत्र जब आगे जाकर मगध-साम्राज्यमें मिल गये, उसी समय सारनका भी मगध-साम्राज्यमें मिल जाना संभव है। मौर्योंके समयकी यद्यपि कोई चीज सारनमें नहीं मिली है, तोभी इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा कि, उस समयकी कोई सामग्री यहाँ है ही नहीं। बात यह है कि, सारनमें चिराँद, माझी, घूरापाली, दोन, सिवान, कल्याणपुर, बड़या, दिघवा-दुबौली, अमनौर, सारन, पपउर, सोनपुर आदि कितने ही स्थान प्राचीन ध्वंसावशेषोंसे पूर्ण हैं; लेकिन आजतक उनकी खुदाई की ही नहीं गई। सोनपुरमें, गंडकके किनारे कालीजीके मंदिरके पीछेवाली ठाकुरबाड़ीके आँगनमें, तुलसी-चौतरेसे जड़ा हुआ, शुङ्गकालीन (ईसा-पूर्व दूसरी सदीका) एक

स्तम्भ है। यह स्तम्भ उस समयके और स्तम्भोंकी तरह चुनारके पत्थरका बना हुआ है। यह बुद्ध-गयामें प्राप्त कठघरे (Railing) के खम्भे जैसा है। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे पत्थर उसी जगह निकले हैं, यद्यपि उनका समय नहीं कहा जा सकता। उक्त स्थानसे उत्तर तरफ मध्य-कालीन कुछ मूर्तियाँ भी मिलती हैं। दिघवा-दुवौलीमें एक ताम्रपत्र भी मिला है, जिसमें कन्नौजके गुर्जर-प्रतिहार-वंशीय राजा महेन्द्रपालने 'सावर्ण-गोत्री भट्ट पद्मसर'को एक गाँव दान किया था। उससे यह भी मालूम होता है कि, उस समय ताम्रपत्रमें दिया गया गाँव श्रावस्ती-मण्डलके 'खालसिका' विषय (जिला)में था। आज भी वह ताम्रपत्र दिघवाँके पाँड़े लोगोंके घरमें है। मालूम होता है कि, सातवी-आठवी शताब्दीमें 'सारन' कन्नौजके अधीन था, इसलिये कन्नौज-राज्यके भीतर बसनेवाले अन्य ब्राह्मणोंकी तरह सारन जिलेके ब्राह्मण भी कन्नौजिया कहे जाते हैं। सरयू-पारके होनेसे इन्हें 'सरयूपारी' या 'सरवरिया' भी कहते हैं। ब्राह्मणोंके अतिरिक्त हजाम, कोइरी, अहीर आदि जातियोंमें भी कन्नौजिया काफी मिलते हैं। यही नहीं कि गुर्जर-प्रतिहारोंसे पहले, जिस समय (७ वीं शताब्दीमें) कन्नौजके सिंहासनपर सम्राट् हर्षवर्द्धन विराजमान थे—उस समय, यह जिला कान्य-कुब्ज-साम्राज्यके अन्तर्गत था; बल्कि उनके स्वजातीय बैस-क्षत्रियोंने, मालूम होता है, इस जिलेके 'इकमा' थानेके 'धूरापाली' गाँवमें एक गढ़ भी बनवाया था। आज भी बैसोंका यह गढ़ सड़कसे थोड़ा दक्षिण हटकर 'दिजोर'के नामसे प्रसिद्ध है। समयान्तरमें जब बैसोंकी शक्ति क्षीण हो गई, तब वे लोग अपने गढ़को छोड़कर और स्थानोंमें—अतरसन, कोठियाँ-नराँव आदि—चले गये। उनके वंशधर आज भी इन जगहोंमें मौजूद हैं। अतरसन और कोठियाँ-नराँवके बैस-क्षत्रिय आज भी 'दिजोर'की सती-माईको पूजने जाते हैं। आज भी उन्हें अपनी प्राचीन स्मृतिका एक धुँधला सा ख्याल है। मालूम होता है, गढ़ छोड़नेका कारण 'लाकठ' (राष्ट्रकूट या राठौर या गहरवार) हुए थे। संभवतः जब कन्नौजमें गहरवारोंका राज्य हुआ,

तब उसी समय उनके स्वजातीय 'लाकठ' लोग ड़धर आये। उन्होंने बैस-क्षत्रियोंकी प्रभुताको हटाकर अपना सिक्का जमाया। आज भी 'दिजोर'के आसपासके गाँव 'लाकठोंके हैं। अतरसनमें भी, बैस-क्षत्रियोंकी स्थिति बहुत खराब नहीं हुई थी। जान पड़ता है, तुर्कोंके आनेके समय अतरसनमें एक अच्छा विष्णु-मन्दिर था; जिसकी काले पत्थरोंकी विष्णुमूर्ति आज भी उपलब्ध होकर एक शिवालयमें रखी हुई है। वहीपर विशाल गणेशकी मूर्तिके खण्ड भी मिले हैं। साथ ही एक छोटी-सी बोधि-सत्वकी प्रतिमा यह बतला रही है कि, कभी यहाँ बौद्ध भी थे। जान पड़ता है, तुर्कोंने यहाँके मन्दिरोंको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। पीछे कितने ही दिनोंतक कितने ही तुर्क यहाँ रहते भी थे, जिनकी तकिया और कब्रोंकी हड्डियाँ आज भी उपलब्ध होती हैं।

'माँझी'में भी पालोंके समयकी बुद्ध-मूर्ति मिलती है। 'चिराँद'में किसी एक बौद्ध विहार या स्तूपके ऊपर बङ्गालके शाहोंकी बनवायी मस्जिद है। 'दोन'में एक पुराने स्तूपका ध्वंसावशेष मिला है। और जगहोंमें यद्यपि उतना अन्वेषण नहीं हुआ है, तो भी बड़ी-बड़ी ईंटें, पुराने कुएँ आदि मिलते हैं। मालूम पड़ता है, तुर्कोंके हाथमें कन्नौजके चले जानेपर भी जयचन्दके पुत्र हरिश्चन्द्रका इस जिलेपर अधिकार था। हरिश्चन्द्रके बाद (१३ वीं शताब्दी में) यह जिला दिल्लीके अधीन हो गया। मुसलमानी समयमें जिलेका प्रधान स्थान 'सारन' था, जो आज भी एक बड़े लम्बे-चौड़े 'डोह' (ऊँचे स्थान)पर एक छोटा-सा गाँव है। मुसलमानी कालमें इस जिलेका नाम 'सरकार सारन' था। १३ वीं शताब्दीसे १८ वीं शताब्दीतक यह जिला यद्यपि मुसलमानोंके हाथमें रहा, तो भी सारनके उत्तरी भागका परगना 'कुआड़ी' और उसके आसपासके कुछ हिस्से प्रतापी बगौछियोंके हाथमें था। इस वंशके लोग पहले कल्याणपुरमें राज्य करते थे, पीछे राजधानी 'हुस्सेपुर' हुई। जब अँगरेजोंके आनेपर (१७६५ ई० में) वीरश्रेष्ठ महाराज फतेह साहीने अँगरेजोंकी ताबेदारी स्वीकार न की,

तब कम्पनीसे बहुत संघर्ष हुआ। इस संघर्षमें महाराजको हुस्सेपुर छोड़कर 'तमकुही'के जंगलोंमें चला जाना पड़ा। सारनके इस 'प्रताप' (फतेह-साही)ने महाराणा प्रतापकी तरह न जाने कितने कष्ट सहे, लेकिन तो भी जीवन-भर उन्होंने दासता स्वीकार नहीं की। अँगरेजोंने १७९१ ई० में उनका राज्य भाईके पोते छत्रधारी साहीको दे दिया। उस समयसे राजधानी 'हथुआ' हो गई।

उक्त बगौछिया-वंश 'व्याघ्रपद-गोत्र'से बना है। मल्लोंकी ९ शाखाओंमें कोली भी एक शाखा थी, जिसके वंशमें सिद्धार्थ गौतमकी शादी हुई थी। ये कोली लोग व्याघ्रपद-गोत्रके थे, और मल्लोंकी शाखा होनेके कारण अन्य मल्लोंकी तरह इनके नामके साथ भी 'मल्ल' लगना स्वाभाविक था। 'हथुआ' के राजाओंकी, पचासों पुरानी पीढ़ियों तक, कल्याणमल्ल आदिकी तरह, 'मल्ल' उपाधि होती थी। वस्तुतः 'पड़रौना'के राजा साहब (जो आज-कल सैथवार कहे जाते हैं) और हथुआ तथा तमकुहीके बगौछिया (जो आज-कल भूमिहार-ब्राह्मण कहे जाते हैं) एवं मझौलीके राजा साहब (जो आज-कल बिसेन-राजपूत कहे जाते हैं) एक ही मल्ल-क्षत्रियोंके वंशधर हैं। कालान्तरमें, भिन्न-भिन्न जातियोंसे विवाह-सम्बन्ध, प्रभुता-हानि, राज्य-क्रान्ति आदि कारणोंसे, इन्हें तीन जातियों में बँट जाना पड़ा। मझौलीके राजवंशमें भी राजाओंके नाम 'मल्ल' ही पर होते हैं। सैथवारोंमें तो गरीब-से-गरीब सैथवार मल्ल ही के नामसे पुकारा जाता है। आज भी यह जाति मल्ल-देशके केन्द्रमें बसती है।

सारनमें 'अमनौर'के बाबू साहब एक प्रतिष्ठित राजपूत-वंशके हैं। यह वंश गहरवारों या राठीरोंकी एक शाखा से है और यहाँ 'कर्मवार'के नामसे प्रसिद्ध है। कर्मवारोंके पहले अमनौर चौहानोंका था। अब भी आसपासके कितने ही गाँवोंमें चौहानोंकी काफी संख्या है। तुर्कोंके आनेसे पहले भी यह स्थान अवश्य कुछ महत्त्व रखता था। आज भी अमनौरमें, "रहता बाबा"के नामसे प्रसिद्ध, विशाल विष्णुमूर्तिके सिंहासन वाला काले पत्थर-

का भाम मौजूद है, जिससे मालूम होता है कि, किसी समय वहाँ एक विशाल विष्णु-मन्दिर था। पुराने गढ़का निशान अभी मौजूब है। यह मन्दिर संभवतः १३ वीं शताब्दीमें तोड़ दिया गया होगा। तो भी बहादुर चौहान अपने अधिकारको छोड़नेके लिये तैयार न थे। दिल्लीको यहाँसे कोई मिलनी मुश्किल थी। जान पड़ता है, इसीलिये बादशाहने 'मकेर' परगना (जिसमें 'अमनौर' है) एक मुसलमानी फकीरको मन्गी दे दिया। उक्त फकीरके साथ, देखल करनेके लिये, कर्मचार-शत्रिय अमनौर पहुँचे। कहते हैं, फकीरने अपने लिये सिर्फ 'मकेर' गाँव रखा और बाकी कर्मचारोंको दे दिया। इसी वंशके दो भाइयोंमेंसे एक भाई किसी कारण मुसलमान हो गया, जिसके वंशधर आज-कल मुजफ्फरपुर जिलेके दरसौतीके राजा साहब हैं और दूसरेके वंशधर अमनौर के बाबू साहब है। एक बार अमनौरकी सभी सम्पत्ति नष्ट हो चुकी थी, पीछे महाँके कोई पुरुष पेशवाके दरबारमें गये और वहाँ उन्होंने अपनी वहादुरीसे बड़ा सम्मान पाया। सराखा-साम्राज्यके नष्ट होनेपर उक्त पुरुष बहुत सम्पत्तिके साथ अमनौर आये और उन्होंने फिर बहुत-सी जमीन्दारी खरीदी।

इनके अतिरिक्त किसी समय इस जिलेके अधिकांशके अधिपति 'एकसंस्था भूमिदार' थे। यद्यपि इनकी अवस्था अब पहलेकी-सी नहीं है, ली भी चैनपुर और बगौराके बाबू लोगोके पास काफी जमीन्दारी है। मुसलमानोंमें 'खोजवाँ'के नवाबखान्दानकी बड़ी प्रतिष्ठा है। ये लोग शिया मुसलमान हैं, इसीलिये हिन्दुओंसे इनका सम्बन्ध हमेशा ही अच्छा रहा है।

सन् १७६५ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनीको बिहार और बंगालकी दीवानी मिली। उसी समय सारन जिला भी अँगरेजोंके हाथ आया। पहले 'सारन' और 'बम्पारन' एक ही जिलेमें सम्मिलित थे। १८३७ ई० में 'चम्पारन' एक स्वतंत्र जिला मान लिया गया, लेकिन दोजोंकी बाल-गुजारी अलग न की गई। १८६६ में यह कर-विभाग भी अलग कर दिया

गया। जिस समय सारन और चम्पारनका एक जिला था, उस समय 'परसा' (थाना परसा) में दीवानी कचहरी थी और उसकी बड़ी श्रीवृद्धि भी थी। १८४८ ई० में 'सिवान' और १८७५ ई० में 'गोपालगंज' नामके दो सब-डिवीजन कायम हुए, जिसके कारण वहाँ कचहरियाँ भी चली गई और इस प्रकार सिवान और गोपालगंजकी तरक्की होने लगी।

नदियाँ, उपज और व्यापार

सारन जिलेमें यद्यपि धानकी खेती काफी होती है, तो भी कितने ही भाग रबी और खरीफके लिये ही उपयोगी है। किसी समय इस जिलेमें चीलकी बहुत-सी कोठियाँ थी, लेकिन नीलके उठने के साथ-साथ अब वे भी खतम हो गईं। इस जिलेमें ईख भी अच्छी होती है। महरोड़ा, पंचरुखी, महाराजगंज, सिवान सिधवलिया, शीतलपुरके चीनीके कारखानोके कारण ईखकी खेतीमें और भी तरक्की हुई है। यद्यपि सिंचाईका समुचित प्रबन्ध नहीं है, तोभी कईएक इलाकोंकी ईख इन कारखानोके द्वारा खतम नहीं होने पाती। 'कुचायकोट'के दीपरकी कुछ ईख तो सदा जला देनी पड़ती है। आज भी इस जिलेमें आधे दर्जन बड़े-बड़े चीनीके कारखानोंकी गुञ्जायश है। मसरखयावे-लाइन (बी० एन० इन्डियन रेलवे) के खुल जानेसे ईख बोनने वालोंको और भी आसानी हो गयी है।

महाराजगंज और मीरगंजकी मण्डियोंमें कपासकी काफी आमदनी होती है। यद्यपि कपासकी खेतीके लिये उत्साह और उत्तेजना देने का प्रबन्ध नहीं है, तो भी कपास बोई जाती है और कपास बोनने योग्य भूमि भी बहुत है। किसी समय जब इन दोनों जगहोंमें कपड़ेके कारखाने खुल जायेंगे, तब इसमें शक नहीं कि, कपासकी खेतीमें भी वैसी ही उन्नति होगी, जैसी चीनीके कारखानोसे ईखकी खेतीमें। भाठ जमीनमें रेंडीकी भी खूब खेती होती है। इनके अतिरिक्त जौ, गेहूँ, सरसों, मटर,

चना, मकई आदिकी पैदावार भी होती है। 'कुआड़ी' परगनेकी तरफ कोदो और अन्य स्थानोंपर मँडुएकी भी खेती होती है। जिलेके गरीब किसान अधिकतर मँडुआ, मकई, कोदो और शकरकंद तथा सुथनीपर ही गुजर करते हैं।

यहाँकी आबादी बहुत ही घनी है। जोतने लायक भूमि सभी जोती जा चुकी हैं। पशुओंके चरनेके लिये बहुत कम जगह बाकी है। खेतके जोतने-बोनेमें जितना परिश्रम यहाँके किसान करते हैं, उतना बिहारके किसी जिलेके नहीं। एक तरहसे, प्राचीन ढँगके अनुसार खेतीकी जितनी उन्नति की जा सकती है, उतनी यहाँ हो चुकी है। इसमें और अधिक उन्नति करनेके लिये वैज्ञानिक रीतिका अवलम्बन करना होगा, जिसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई यह है कि, खेत बहुत छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बँट गये हैं और कई जगह बिखरे हुए हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि, सिंचाईका ठीक प्रबंध न होनेके कारण लोगोंको अधिकतर दैवपर भरोसा रखना पड़ता है। तीसरी बात यह कि, और जगहोंकी तरह यहाँके किसानोंका भी सहयोग-समितियों, सरकारी वैज्ञानिक खेतों और कीमती कलोंपर विश्वास नहीं है; क्योंकि ये चीजें ऐसे लोगों और महकमों द्वारा उनके सामने पेश की जाती हैं कि, वे उन्हें अपने बस और नफेकी बात नहीं समझते। इन कठिनाइयोंके हट जानेपर इसमें शक नहीं कि, यह जिला सबसे पहले नवीन ढँगकी खेतीको अपनायेगा। क्योंकि घनी आबादी और अधिक जनसंख्याके कारण इस जिलेमें जीवन-संघर्ष अधिक है। यहाँके निवासी बहुत पहलेहीसे आमदनीके हर-एक रास्तेको स्वीकार करनेके लिये तैयार हैं। यहाँके स्वतंत्र-व्यवसाय-प्रेमी निवासी, किसान, दूकानदार, हजाम, मजदूर, दरवान आदि केवल बिहारहीके हर एक जिलेमें नहीं, बल्कि दार्जिलिङ्ग, कलकत्ता, रंगून, पूर्व बंगाल, आसाम, बर्मा और सिंगापुर तक फैले हुए हैं। यहाँ तक कि, समुद्र-पार मोरिशस, दक्षिणी अफ्रीका, फीजी, ट्रिनीडाड, गायना आदि-में भी हजारोंकी संख्यामें जाकर बस गये हैं। अपनी भाषा, भेष और व्यक्ति-

त्वका जितना खयाल सारन-निवासियोंको है, उतना शायद ही किसी और जिलेके निवासियोंको होगा। यहाँके उच्चशिक्षित जन भी घर या विदेशमें—कहीं भी—मिलनेपर, अपनीही बोली (भोजपुरी भाषा)का प्रयोग करते हैं। चाहे यहाँके हिन्दू और मुसलमान घरमें लड़ते भी हों, तो भी विदेशोंमें जानेपर अक्सर देखा जाता है कि, वे मजहबसे भी अधिक अपने जिलेको मानते हैं।

गंगा, सरयू, गंडक—इन तीन बड़ी नदियोंके अतिरिक्त झरही, दाहा आदि कितनीही नदियाँ इस जिलेमें हैं, जो अधिकतर किसी झीलसे निकली हैं अथवा जो गंडक, घाघरा (सरयू) या गंगासे निकलनेवाले सोते (स्रोत) हैं। गंडककी धारा अनिश्चित है, इसी कारण सारे जिलेमें उसके लिये एक मजबूत बाँध बाँधा गया है। यद्यपि इस बाँधके कारण आसपासकी बस्तियाँ बाढ़से सुरक्षित हैं, तो भी बाढ़की उपजाऊ मिट्टी न मिलनेके कारण आसपासके खेतोंकी उर्वरा-शक्ति बहुत ही क्षीण हो गई है। यह अन्तर फसलके वक्त गंडकके बाँधपर खड़ा होकर दोनों ओर देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है। जहाँ बाँधके भीतर बिना खाद, सिंचाई और काफी जुताईके ही फसल उपजकर गिर जाती है; वहाँ बाँधसे बाहर पीले-पीले पौधे एकदम मुर्झाये हुए दीख पड़ते हैं। गंडककी धार बहुत ऊँचेसे बहती है, इसीलिये अल्प परिश्रमसे नहरें निकाली जा सकती हैं। पहले 'सारन-केनाल' (Saran Canal)की नहरें काम भी कर रही थीं; लेकिन कितने ही वर्षोंसे सरकारने उन्हें बन्द कर दिया है। इसी तरह कुछ झीलों (चौरों)से पानीका निकास न होनेके कारण फसलका नुकसान होता है। उदाहरणार्थ हरदियाका चौर है। लेकिन अभी तक सरकारको उधर ध्यान देनेकी फुरसत ही नहीं है। छपरा मुफस्सिल थानेके कितने ही स्थानोंको सरयू और गंगाका पानी नहरों द्वारा मिलता था; किन्तु न अब जमीन्दारोंको उसकी परवाह है न सरकारको!

छपरा, सिवान, महाराजगंज और मीरगंज इस जिलेमें व्यापारके केन्द्र

हैं। इसके अलावा मसरख, मैरवा, थावे, बरौली आदिमें भी अच्छे बाजार हैं। सिवानमें मिट्टी और काँसेके बरतन अच्छे बनते हैं। परसा (थाना इकमा)में भी काँसेके बरतनोंकी अच्छी ढलाई होती है। चिराँद और दिघ-वारेके आसपास पानकी उपज अच्छी होती है। इस जिलेमें “परवल”की पैदावार भी खूब होती है।

जाति और सम्प्रदाय

इस जिलेमें सत्तासी फ़ीसदी से अधिक संख्या हिन्दुओंकी है, बाकी मुसलमान हैं। ईसाई या दूसरे मजहबवाले नाम-मात्रके हैं। ‘मुसलमान’ सिवान और बड़हरिया थानेमें अधिक है, जिनमें जुलाहा, धुनिया आदिकी संख्या ज्यादा है। कितने ही राजपूत और भूमिहार ‘मुसलमान’ होकर अब पठान कहे जाते हैं! कितने ही बड़ई, माली और तेली भी मुसलमान पाये जाते हैं। इसी प्रकार ‘कुआड़ी’ में कितने ही हिन्दू दर्जी भी हैं। हजाम और घोबी दोनों मजहबके पाये जाते हैं। शिया मुसलमानोंकी संख्या बहुत कम है, तो भी वे अधिक शिक्षित, सम्य और धन-सम्पन्न हैं। अधिक संख्या यहाँ अहीरोंकी है। परसा और मिर्जापुरके थानेमें; सरयू, हैं। हिन्दुओंमें गंगा और गंडकके दीयारों और कछारोंमें, गोचर-भूमिकी अधिकताके कारण, इन (अहीरों)की संख्या अधिक मिलती है। यह बड़ी मेहनती और बहादुर जाति है; लेकिन गाय-भँसोंके पालनेकी पहले-जैसी सुविधा न होनेके कारण इनकी आर्थिक अवस्था बहुत गिरी हुई है। इस जिलेके लोगोंको पशु-रक्षासे बड़ा प्रेम है और वे अपने बैलोंको खिला-पिलाकर जगह-जगह लगनेवाली हाटोंमें बँचते रहते हैं।

अहीरोंके बाद इस जिलेमें राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार ही संख्यामें अधिक हैं, जिनमें स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी भूमिहार-ब्राह्मण आर्थिक दृष्टिसे सबसे अच्छे हैं। शिक्षामें कायस्थोंके बाद इन्हींका नम्बर है। इनके अतिरिक्त चमार, दुसाध आदि जातियाँ भी हैं। कोइरी ऐसे तो जिले

भरमें फैले हुए हैं; लेकिन 'कुआड़ी'में उनकी संख्या अधिक है। जैसवार-कुर्मके अतिरिक्त अवधिया लोग मिर्जापुर तथा परसा थामेमें अधिक मिलते हैं। राजपूतों और भूमिहारोंमें कितनी ही एक ही गोत्र और एक ही मूलकी उपजातियाँ हैं। जैसे टेटिहा राजपूत और टेटिहा भूमिहार दोनों ही के गोत्र काश्यप हैं। जान पड़ता है ये जातियाँ एक ही वंशकी दो शाखाएँ हैं, जो कालान्तरमें वी—ब्राह्मण और क्षत्रिय—घणोंमें विभक्त हो गई। इसी प्रकार कितने ही भूमिहार 'ब्राह्मण' और कितने ही ब्राह्मण 'भूमिहार'के रूपमें परिणत हो गये। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दुओंमें शैव, वैष्णव, कंबीरपन्थी, शिवनारायणी, आर्य-समाजी आदि कितने ही मतके आदमी मिलते हैं।

मेले

गाय, बैल, हाथी घौड़ा, सभीके क्रय-विक्रयके लिये 'सीमपुर' (हरिहर-क्षेत्र) का मेला सारे हिन्दुस्तानमें प्रसिद्ध है। सीमपुरमें, कात्तिकी पूर्णिमाकी, १५ दिनोंके लिये, एक खासा शहर बस जाता है, जिसमें हिन्दुस्तान भरके सौदागर हर तरहकी चीजें बेचनेकी लाते हैं। उस बक्त तो कई हजार हाथी ही बिकनेको आते हैं। मेलेमें अब पानीके कलका भी प्रबन्ध हो गया है और आशा की जाती है कि, कुछ दिनोंमें बिजलीकी रीशनी और स्वास्थ्यरक्षा तथा सफाईका भी पूरा प्रबन्ध हो जायगा। १८५७ के सिपाही-विद्रोहके समय भी यह मेला लगता था, तो भी वृद्धोंका कहना है कि, पचास-साठ वर्ष पहले यह मेला इतना बड़ा न था। मुसलमानी शासनके अन्तिम दिनों या कम्पनीके आरम्भिक दिनोंमें इस मेलेका आरम्भ हुआ जान पड़ता है। हाँ, हरिहरनाथकी पूजाका छोटा-मोटा मेला पहलेका भी हो सकता है। सीमपुरके अतिरिक्त चैत्र-रामनवमीको लगनेवाला 'डुमरसन' का घौड़ा-बैल-का मेला भी प्रसिद्ध है। बरईपट्टी, छितीली आदिमें भी घौड़ा-बैलके मेले लगते हैं। ऐसे तो हाटकी तरह सप्ताहमें बैल-हट्टा पचासी जगहोंमें लगा

करता है। देवताओं और स्नान-सम्बन्धी मेलोंमें सेमरिया, आमी, सिल्हारी, ढोंढनाथ, मेंहदार, थावे और मैरवाँके भी मेले उल्लेखनीय हैं।

साहित्य और शिक्षा प्रचार

यहाँके पुराने समयके साहित्यिकोंका कोई पता नहीं मिलता। मल्ल और वज्जी दोनों ही देशोंमें अब्राह्मण धर्मोंकी ही प्रधानता थी। जरूर उस समय यहाँके लोगोंमें कवि और विचारक पैदा हुए होंगे; लेकिन मालूम होता है कि, पीछे ब्राह्मणोंकी प्रधानता और बौद्धधर्मके लुप्त हो जानेके कारण उनके नाम और उनकी कृतियाँ, दोनों ही लुप्त हो गये। मुसलमानी जमानेमें, शाहजहाँके समय, माझीमें धरणीदास नामक एक सन्त और कवि हुए थे, जिनके 'ज्ञानप्रकाश' और 'प्रेमप्रकाश' नामक दो ग्रन्थ अब भी मौजूद हैं। माँझीके मुसलमान-राजपूत बाबू लोग कविताके बड़े ही प्रेमी थे। जमीन्दार भी उस वक्त साहित्यकी ओर रुचि रखते थे। कबीर-पन्थियोंका अत्यन्त पुराना मठ 'धनीती'में आज भी विद्यमान है। कवि धरणीदास (१७ वीं शताब्दी)के बादके साहित्यिकोंके नाम भी आज-कल मिलने मुश्किल हैं। १९ वीं शताब्दीके मध्यमें गयासपुर (थाना 'सिसवन')के 'सखावत' ने वीर कुँवरसिंहका "कुँवर-पचासा" बनाया था, जो अभी तक अप्रकाशित है और जिसका एक पद्य इस तरह है—

"बारह सौ एकसठमें, ग्रीषम रितु जेठ मास ।

बाबू कूँअर सिंह ने, किय गोरनको नास ॥"

सखावतने रावण-मन्दोदरी-संवाद भी लिखा था। उनकी कविताएँ अब भी कुछ लोगोंको कण्ठस्थ हैं; लेकिन पाठ बहुत अशुद्ध हो गये हैं। उनके बाद १९ वीं शताब्दीके अन्तमें माँझा के स्वामी बाबू श्रीधर साही तथा पटेढीके बाबू नगनारायण सिंह भी अच्छे साहित्य-प्रेमी तथा स्वयं कवि थे। उक्त श्रीधर कविकी एक कविता इस प्रकार है—

“एरी रसना तू रसवाली चाहबे तो,
रसका पियाला में पिलाऊँ तोहि रह-रहु।
यही लोभ लिये में तो मेवाजात काबुलको,
मोल ले खिलाऊँ औ खिलाऊँ जौन चहु-चहु।
पालि-पालि श्रीधर रिष्ट-पुष्ट कीन्हों तोहि,
पावन हुआ चाहु तो ऐसो लाह लहु-लहु।
रैन-दिन जामहूँमें घरी-छन कामहूँमें,
राधाकृष्ण राधाकृष्ण राधाकृष्ण कहु-कहु।”

पिछली शताब्दी और वर्तमान शताब्दीमें तो इस जिलेने कई लेखक और वक्ता पैदा किये हैं। संस्कृतके दिग्गज विद्वान्, हिन्दीके सुलेखक महा-महोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा को पैदा करनेका सौभाग्य इसी जिलेको है।^१ पण्डित गयादत्त त्रिपाठी, पण्डित शिवशरण शर्मा, 'सूर्योदय' सम्पादक पण्डित विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री, पण्डित गोपालप्रसाद शास्त्री आदि कितने ही उच्च-कोटिके संस्कृतज्ञ विद्वान्, वक्ता और लेखक इस जिलेमें वर्तमान हैं। हिन्दी-लेखकोंमें बाबू राजबल्लभ सहाय, बाबू दामोदर सहाय सिंह 'कविकर्कर', बाबू पारसनाथ सिंह बी० ए०, एल०-एल० बी०, पण्डित जीवानन्द शर्मा 'काव्यतीर्थ' ('श्रीकमला' और 'प्रजाबन्धु'-के भूतपूर्व सम्पादक), गोस्वामी भैरव गिरि, बाबू विश्वनाथ सहाय ('महावीर'-सम्पादक) आदि भी यहीके हैं। पटनेके अँगरेजी दैनिक 'सर्चलाइट'-के सम्पादक बाबू मुरलीमनोहरप्रसाद वर्मा भी इसी जिलेके हैं।

बिहारमें सबसे ज्यादा शिक्षाका प्रचार इसी जिलेमें है। यहाँ कहीं भी एक मीलसे दूरपर स्कूल नहीं है। इस जिलेमें २० के करीब हाईस्कूल

^१ स्वनामधन्य विद्या-प्रेमी स्वर्गीय खुदाबख्श खाँ भी इसी जिलेके निवासी थे, जिनकी जगत्प्रसिद्ध ओरिएण्टल लाइब्रेरी पटनेमें मौजूब है।

और ३५ के करीब मिडल इं० स्कूल हैं। इस जिलेमें प्रायः १० वर्षोंसे मिडिल तक हिन्दी-शिक्षा निःशुल्क है। जिला-बोर्डोंमें सुधारके साथ ही, सीभाग्यसे, इस जिलेको स्वर्गीय महात्मा मजहलहक साहब-जैसा चयरमैन मिला। उन्होंने अपना सारा समय जिलेमें शिक्षा प्रचार करनेमें लगा दिया था। उसी समय स्वर्गीय बाबू राधिकाप्रसादजी इस जिलेके स्कूलोंके डिप्युटी-इन्स्पेक्टर थे। इस सुन्दर जीड़ीके मिल जानेसे इस जिलेने पिछले १० वर्षोंमें शिक्षामें बड़ी उन्नति की। लोगोंमें अंग्रेजी मिडिल स्कूल और हाईस्कूल खोलनेकी तो होड़-सी लग गई। इतनी माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओंके खोलनेका उत्साह बिहारके और किसी जिलेमें देखा नहीं जाता। स्कूल खुलने नहीं पाता कि, विद्यार्थी भर जाते हैं।

जन-नायक

स्वर्गीय महात्मा मजहलहक साहब, बाबू राजेन्द्रप्रसाद और बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद-जैसे नेताओंकी जन्मभूमि भी यही जिला है। यहाँ ऐसे जन-नायकोंकी काफी संख्या है, जो दूसरे जिलोंमें जाकर आसानीसे सर्वमान्य नेता बन सकते हैं।

मल्ल (पहलवान)

प्रियसंनने भोजपुरी बोलीको बहादुरोंकी बोली बतालाया है, लेकिन 'सारन' केवल भोजपुरी बोली ही नहीं बोलता, बल्कि यहाँके निवासी बड़े सबल-शरीर भी होते हैं। प्राचीन मल्ल देशके सम्बन्धसे ही शायद पहलवानोंको 'मल्ल' कहते हैं। यहाँके लोग बिहारके और जिलोंकी अपेक्षा अधिक मजबूत और मोटे-ताजे होते हैं। यद्यपि कुश्तीका पहले जैसा शौक अब लोगोंमें नहीं देखा जाता, तो भी यहाँकी भूमि-कभी-कभी बड़े बड़े पहलवानोंको पैदा कर देती है। भारत-प्रसिद्ध पहलवान स्वर्गीय बाबू सुचित

सिंह यहीके थे। आज भी, अन्य कई पहलवानोंके अतिरिक्त, बाबू बंशीसिंह नामक बड़े ही प्रसिद्ध पहलवान इसी जिलेके हैं।

शहर और कस्बे

“छपरा”—अँगरेजोंके आने से पहले ‘छपरा’का उतना महत्त्व न था, लेकिन कम्पनीके आनेके साथ ही यहाँकी श्रीवृद्धि हुई। अँगरेजों और दूसरी युरोपीय जातियोंने यहाँ अपनी कोठियाँ खोलीं। गंगा और घाघराके पास होनेके कारण यहाँ मालसे भरी नावों के आने-जानेकी आसानी भी थी। पीछे अनेक व्यवसायी आकर बसने लगे। सारन-जिलेका मुख्य केन्द्र-नगर हो जानेपर तो इसके लिये और भी तरक्की-का रास्ता खुल गया। आज-कल इस शहरकी आबादी आधे लाखके करीब है। यहाँ सरकारी कचहरियोंके अतिरिक्त चार हाईस्कूल, आदमी और जानवरोंके अस्पताल हैं। यहाँसे एक रेल-पथ ‘सोनपुर’ होता हुआ कटिहारकी ओर गया है; दूसरा माँझी होकर बनारसकी ओर; तीसरा सिवान होकर गोरखपुरकी ओर; चौथा मसरख, गोपालगंज और थावे होता हुआ सिवानमें आ मिला है। ‘पटना’ जानेके लिये ‘सोनपुर’से पहलेजा-घाट जाना पड़ता है। इसी प्रकार दुरौंघासे एक लाइन महाराजगंजको और थावेसे एक लाइन कप्तान-गंज और गोरखपुरको गई है। यद्यपि यह नगर सारन जिलेके बीचमें न होकर एक किनारेपर है, तो भी यहाँ चारों ओरकी रेलोंका मिलान होता है। भोजपुरी-भाषा-भाषी प्रदेशके तो यह केन्द्र में अवस्थित है, इसीलिये यहाँकी भोजपुरीका टकसाली होना स्वाभाविक है।

“रिविलगंज”—पहले यहाँ व्यापारकी एक मण्डी थी। गंगा और सरयूका यहीं संगम होता था। किन्तु आज-कल रेलके हो जानेसे इसका वह महत्त्व जाता रहा। यद्यपि यहाँ म्युनिसिपैलिटी है, तो भी कस्बेकी अवस्था दिन-पर-दिन गिरती ही जाती है।

“सिवान”—सारन जिलेके एक सबडिवीजनका यह सदर है। यहाँके मिट्टी और काँसेके बरतन बहुत मशहूर हैं। इसका दूसरा नाम ‘अलीगंज’ भी है। यहाँ ईखके दो और रुई धुननेका एक कारखाना है। उद्योग-धन्धेकी वृद्धिकी ओर भी गुंजाइश है। यहाँ दो हाईस्कूल भी हैं।

“हथुआ”—यह इस जिलेके सबसे बड़े जमीन्दार महाराजा-बहादुर हथुआकी राजधानी है। यहाँ भी राजकी तरफसे एक हाईस्कूल है। इधर बहुत वर्षोंसे राजकी तरफसे किसी भी सार्वजनिक कामके लिये कोई उद्योग नहीं हुआ है और न कस्बे ही की उन्नतिके लिये कुछ किया गया है।

(१६)

सहोर और विक्रमशिला

आधुनिक कालमें शरच्चन्द्रदास सर्वप्रथम भारतीय हैं, जिन्होंने भोट और भोटिया साहित्यकी खोजमें सर्वप्रथम प्रयत्न किया। उन्होंने भोटमें प्रथम भारतीय प्रचारक 'तत्त्वसंग्रह' कार, महान् दार्शनिक, नालन्दाके आचार्य शान्तरक्षित (अष्टम शताब्दी)को बंगाली लिखा। उन्हींका अनुकरण करते हुए डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्यने तत्त्वसंग्रहकी^१ भूमिकामें सहोरको ढाका जिलेके विक्रमपुर परगनेका साभर ग्राम निश्चय कर डाला; भट्टाचार्य महाशयके इस निश्चयके लिये उन्हें कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उन्होंने भोटिया ग्रंथोंको देखा नहीं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि अनेक दृढ़ तथा स्पष्ट प्रमाणोंके होते, स्वर्गीय श्री शरच्चन्द्र दास तथा महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण इस निश्चय पर कैसे पहुँचे। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो उनके सामने वे सारे प्रमाण वाले ग्रंथ नहीं थे; अथवा उन्होंने भी कितने ही बंगाली विद्वानोंकी भाँति, भारतके सभी मस्तिष्कोंको बंगाली बनानेकी धुनमें ऐसा किया।

जिस स्थान सहोर तथा 'भगल' (भंगल)के कारण यह गलती हुई है, वह आचार्य शान्तरक्षितके अतिरिक्त विक्रमशिलाके आचार्य दीपंकर श्री-ज्ञानकी भी जन्म-भूमि थी। इस स्थानके विषयमें भोटिया ग्रंथोंसे यहाँ कुछ उद्धरण देना चाहता हूँ।

^१ तत्त्वसंग्रह—Vol II. p. XIII.—Gaikevad's Oriental Series.

लहासाके पास ही छुन्-जे-लिङ्ग-गुम्वा-विहार है। इसके छापाखाना के (ङ्ग) नामक पोथीके पृष्ठ १५२-९२ में दीपंकर श्रीज्ञानकी जीवनी है। उसमें लिखा है:—

(पृ० १५२) “संस्कृत भाषा में दीपंकर श्रीज्ञान भोटकी भाषामें द्बल्-मर्-मे-मज्जद्-ये-शेस्। अन्य नाम जो-बो (भट्टारक) तथा अतिशा है। जन्म देश है, (१) भारतकी पूर्व दिशा में सहोर। वहाँ (२) भंगल नाम का बड़ा पुर (नगर) है। जिसके अन्दर राजप्रासाद काचन-ध्वज (गुसेर्-ग्यि-ग्यल-मूछन्) था।। पिता थे राजा कल्याण श्री (द्गो-वई-द्बल्)। माता श्री प्रभावती (द्बल्-मो-ओद्-जेर्-चन्)। दोनों को (एक) पुत्र जल-गुरुष-अश्व-वर्ष (सू-फो-र्त-लो= मन्मथ संबत्सर १०३९ विक्रमान्द, ९८२ सन् ई०) में हुआ। (पृष्ठ १५३) उस प्रासाद (काचन ध्वज) के (३) नातिदूर (मि-रिङ्ग-व-शिग्-ब) किमल पुरि (? विक्रमशिला) नामक विहार (गुचुग्-लग्-खड) है।। पाँच सौ रथोको ले परिवारित राजा. . . . उस विहार में मये। (पृ० १५५) उस प्रासादके नातिदूर एक आवास में जितारि रहते हैं, मुना।।”

लहासा और भोटका सबसे बड़ा बिहार डे-पुङ्ग (ज्रस्-सु डस्) है। जिसमें सात हजारसे अधिक भिक्षु वास करते हैं। पाँचवे दलाई लामा बलो व-जङ्ग-ग्य-मूछो (मुमति सागर १६१८-८४ ई०) यही के एक महन्थ थे, जिनको मंगोलो ने भोट देश सारा जीतकर, गुरु बक्षिणा में दिया। और उन्हीके उत्तराधिकारी और अबतार वर्तमान तेरहवें दलाई लामा थुब्-वस्तन्-ग्य-बूछो (मुनि शासन सागर) है। इस विहारके छापाखानेके (जो नामक पोथी में 'गुरु गुण धर्माकर (बल्-मड-घोन्-त्तन्-छोस्-क्यि-ज्बुङ्ग-ग्नस्) नाम वाला दीपंकरका जीवन चरित है। इसमें लिखा है—

(पृ० १) “भारत पूर्व दिशा सहोर देशोत्तममें, भंगल नामक पुर है। इसके स्वामी धर्मराज कल्याण श्री। प्रासाद काचन ध्वज। मनुष्यो-

के घर एक लाख''''। धर्मराजकी रानी श्री प्रभावती''''।'''' (६) उस प्रासादके उत्तर दिशामें विक्रमल पुरी (=विक्रमशिला) है। उस बिहार में जाकर पूजा करनेको माता पिता'''' पाँच सौ रथोंके साथ''''।''

पीछे पढ़ने तथा भिक्षु बननेके लिए नालन्दा^१ जानेपर (१००२ ई०?) बीपंकरने नालन्दाके राजा (विग्रहपाल द्वितीय ?)को कहा था— (पृ० ७) “'''' मैं पूर्व दिशा सहोर देशमे आया हूँ। काचनध्वज प्रासाद से आया हूँ।'''' नालन्दाके राजाने कहा—तुम पूर्व दिशा सहोर राजाके कुमार हो।'''' (७) तुमने^२ विक्रम पुरमेही अत्यन्त देववदन सदृश रत्न-प्रासाद मे भिक्षु बननेको मनमे वही किया।''''।'''' (पृ० ९) “मैं भंगलके राजाका पुत्र हूँ। काचनध्वज महलसे आया हूँ। नालन्दा बिहार आया।''''।''

इसी (ज) पोथीके चौथे ग्रंथ “जो-वो-द्वपल-रुद्व-मर्-मे-मूज्द-ये-शेम्-किय-नम्-थर्-ग्यस्-ष” (भट्टारक बीपंकर श्री ज्ञानकी वृहत् जीवनी) में आता है।

(पृ० २१) “(८) श्री वज्रासन (बुद्ध गया)की पूर्व दिशामे भंगल महादेश है। उस भंगल देशमे बड़ा नगर है भिक्रपुरी''''। (९) इस (देश)का नामान्तर सहोर है। जिसके भीतर (१०) भिक्रमपुरी नामक नगर है।''''” फिर लिखा है (पृ० २२) “'''' पूर्व दिशा देशोत्तम सहोर है। वहाँ भिक्रमलपुरी महानगर है ...।”

^१ नालन्दा (बड़गाँव) से बिहार शरीक ६ ही मील दूर है, जो कि पाल-वंशियों की राजधानी थी।

^२ भोटिया में है—ह्योदं कियं कं वि क्रं मं नि इं पु रं न। दकोनं चोगं कों अजुंडः तहं यि गशत्यं यसं अद्रं। लं तुं व्युङ्गं वं असमं गियसं मि ह्यवं बशुगस ।—

इसी ग्रन्थमें विक्रम शिलाके निर्माणके सम्बन्धमें यह बातें मिलती हैं—(पृ० ३९) “.....संस्कृत भाषामें नाम ‘गोपाल’ है।.....उसकेपुत्र.....राजा धर्मपाल” (पृ० ४०) इस राजाका पुत्र.....देवपाल नामक हुआ।.....इस राजाने.....विहार बनवाया.....नाम विक्रम-शील हुआ।.....।”

तिब्बतसे जो लोग दीपंकरको बुलाने आये थे उनका विक्रम-शिला का मार्ग इस प्रकार था:—

(पृ० ४९) “.....नेपालसे.....भारत मध्य देशमें पहुँचे। (१०) जानेपर गंगा नदी है। दिन समाप्त होते गंगा नदीके घाटपर पहुँचे। (पृ० ५०).....वहाँ गंगा नदीके तटपर (११) एक पहाड़ी (ब्रग्-देउ-शिग्=शिला)के ऊपर विक्रमशिला थी। वहाँ जा उसके पश्चिमके मुसाफिरखानामें जा.....।”

लामा कुन्-मुख्येन्-पद्-मद्कर्-पो (सर्वज्ञ पुण्डरीक)के छोस्-ब्युङ्ग (धर्मोद्भव)में इस विषयमें यह बातें मिलती हैं—

(पृ० १४०) “(दीपंकर) पूर्व दिशा भंगलके कांचनध्वज प्रासादमें बोधिसत्व शांतरक्षितके जाति वाले क्षत्रिय वंशमें (उत्पन्न हुये। उनके पिता कल्याण श्री और माता श्री प्रभावती.....। अवधूतिपाद (=मैत्रि-पाद=अद्वयवज्र)के पास १२ वर्षसे १८ वर्ष तक। (पृ० १३५)..... उस समय विक्रमशिलाके पूर्व दिशामें शांतिपाद (=रत्नाकरशान्ति)। दक्षिण दिशामें वागीश्वर.....। पश्चिम दिशामें प्रज्ञाकर मति। उत्तर दिशामें श्री नारोपा (नाडपाद)..... (पृष्ठ १४८) उस समय (भिक्षु) संघके चार वर्ग थे—ओडन्तपुरी^१, श्री नालन्दा, वज्रासन और विक्रमशिला। (दीपंकर) पिछले (१३) अपने जन्म वाले विहार में वास

^१ ओडन्तपुरी या उडघन्तपुरी वर्तमान बिहार शरीफ है, जिसके पास वाली पहाड़ी पर विहार था। वहाँ पर आजकल बर्गाह है।

करते थे।.....(पृष्ठ १५६) विक्रमशिलामे छै द्वार-पंडित थे। पूर्व दिशाके द्वारपाल (पंडित) रत्नाकरशान्ति (शांतिपा)....व्याकरण और न्यायमें....। दक्षिण दिशामें वागीश्वर कीर्ति व्याकरण, न्याय, काव्यमें.....। पश्चिम दिशामे प्रज्ञाकर मति.....। उत्तर दिशामें भट्टारक 'नरोत्पल' महायान और तंत्रमें। मध्यमें....दो (पंडित) रत्न वज्र तथा ज्ञानमित्र; काश्मीरिक ज्ञानमित्र नही।”

लहासाके कुर्न्-व्दे-ग्लिङ्क विहारके छापाखानेके 'स्देव्-ग्तेर्-स्डोन्-पो नामक पोथी के 'च' भागमें दीपंकर श्री ज्ञानकी एक छोटी-सी जीवनी है, जिसमें लिखा है—

(पृष्ठ १) “१—भारतीय सहोर कहते है, भोटिया सहोर.....बळा देश.....।”

इन उद्धरणोंमें हमें निम्न बातें मालूम होती हैं—

१. सहोर भारतीयोंका सहोर है (१४) जो भारतमें पूर्व दिशामे था (१) (४)।

२. इसका दूसरा नाम भंगल या भगल था (९)।

३. इसकी राजधानी विक्रमपुरी थी (१०)। जो भंगल या भगलपुर के नामसे भी पुकारी जाती थी (२), (५)।

४. राजधानी (भंगलपुर या विक्रमपुरी) या राजप्रासादसे थोड़ी दूर पर (३), उत्तर तरफ (६) विक्रमपुरी (=विक्रमशिला) विहार था।

५. यह विक्रमशिला दीपंकरके जन्म-स्थानका विहार था (१३)।

६. विक्रमशिला गंगा तटपर (११) एक पहाड़ीके ऊपर (१२) थी।

भागलपुर भोटिया भगलपुर है। आज भी जिस पर्वतमें भागलपुर शहर अवस्थित है, उसे सबोर कहते हैं। सबोर=सभोर=सहोर एक ही शब्दके भिन्न भिन्न उच्चारण है। विक्रमशिलाके लिये सुल्तानगञ्ज सबसे अनुकूल स्थान जँचता है। यह भागलपुरसे उत्तर है। यहाँ से पीतलकी एक गुप्तकालीन विशाल मूर्ति मिली है। मुरली और अजगैबी-

नाथकी दोनों पहाड़ियाँ वस्तुतः शिला ही हैं। इनपर गुप्ताक्षरमें खुदे लेख इनका गुप्त सम्राट् विक्रमसे संबंध जोळ सकते हैं। वस्तुतः देवपाल (८०९-४९ ई०)के विहार बनवानेसे पूर्व भी स्थान शिला और विक्रमके संबंधसे विक्रमशिलाके नामसे प्रसिद्ध रहा होगा। यह सब बातें सुल्तानगंजके विक्रमशिला होनेके पक्षमें हैं। किन्तु सबसे बड़ी दिक्कत यह है, कि यहाँ इमारतकी नीचे, मूर्तियाँ, तथा ध्वंस उतने विस्तृत नहीं हैं, जितने कि विक्रमशिलाके होने चाहिये। दसवीसे बारहवी शताब्दी तक विक्रमशिला नालन्दाका समकक्ष विहार था। पालवंशका राजगुरु इस विहारका प्रधान होता था। ऐसे विहारके लिये सुल्तानगंजमें प्राप्त सामग्री अपर्याप्त है। कोलगंजके पास पाथरघट्टा स्थानको विक्रमशिला होनेमें और भी आपत्ति है। वहाँ प्राचीन बौद्ध-चिन्होका एक तरहमें बिल्कुल अभाव है, और बौद्धोकी अपेक्षा ब्राह्मणचिन्ह अधिक मिलते हैं। पाथर-घट्टासे दो-तीन मीलपर अवस्थित वावन-विगहा (?) के ध्वंसावशेष अधिक विस्तृत हैं। वहाँ कितने ही स्तूपोके ध्वंस भी दिखाई पळते हैं। यद्यपि वहाँ शिला नहीं है, तां भी उसके पास छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं। गंगा भी किसी समय यहाँ तक बहती थी। यद्यपि ध्वंसोके ऊपर अब मूर्तियाँ नहीं दीख पळती, किन्तु उनके लिये अब हम उतनी आशा भी नहीं कर सकते, जब कि हम जानते हैं कि एक शताब्दीसे अधिक तक यह स्थान निलहे साहूबोके कार्यक्षेत्रमें रहा है, और यहाँकी मूर्तियाँ बराबर स्थानान्तरित होती रही हैं। विक्रमशिलाकी खुदाईमें भी नालन्दाकी भाँति ढेरकी ढेर नामाकित मिट्टीकी मुहरें मिलेंगी; और वह निश्चय ही धरतीके भीतर सुरक्षित होगी।

विक्रमशिलाकी खोजके लिये मुगेरमें राजमहल तककी गंगाके दक्षिणी तटपर अवस्थित सभी पहाड़ी भूमि—सबौर पगनेकी भूमिको विशेषकर—की छानबीन करनी चाहिये।

(१७)

भारतीय जीवनमें बुद्धिवाद

आवश्यकता होनेपर ही कोअी चीज होती है, यह अेक माना हुआ सिद्धान्त है । मानसिक प्रवृत्तियोंको यदि हम देखें तो हम मनुष्यको दो वर्गोंमें बाँट सकते हैं। अेक वह जो बुद्धिप्रधान है, जो किसी भी बातको तब तक मान लेनेके लिअे तैयार नहीं, जब तक कि अुसकी बुद्धिको संतुष्ट न कर दिया जाय। दूसरे श्रद्धाप्रधान, जिसे बुद्धिकी अुतनी परवाह नहीं होती, किसी चीजको अैसे रूपमे अुसके सामने रखा जाय जो अुसके हृदयको अपनी ओर आकर्षित करे, करुणा-द्वारा, प्रेम-द्वारा या अैसे किन्ही और भावसे, तो वह अुसे मान लेता है। हो सकता है कि किसी व्यक्तिमें अिन दोनो भावोका सम्मिश्रण काफी हो, लेकिन यदि व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक रुढियोमे बद्ध न हो, तो हम अुसे अिन दोनोमेंसे किसी अेक वर्गमें आसानीसे रख सकते हैं। हमारा समाज अैसा है—वर्तमानमें ही नहीं, पहिलेसे चला आ रहा है—कि किसी बातको जैसा हम सोचते-समझते हैं, अुसे अुसी रूपमें प्रकट करनेका अधिकार हमें बिलकुल थोळा है। साधारण और असाधारण व्यक्तिमें यही फर्क है कि जहाँ साधारण व्यक्ति रुढियोंको हर हालतमें माननेके लिअे तैयार है, वहाँ असाधारण व्यक्ति अिसमें कुछ स्वतन्त्रता दिखलाता है।

व्यक्तियोंसे ही मिलकर समाज बनता है; लेकिन अिसका मतलब यह नहीं कि हम सारे समाजको व्यक्तियोंके बहुमतपर बुद्धिप्रधान या श्रद्धाप्रधान कह सकते हैं। समाजके बारेमें अैसे किसी निर्णयपर पहुँचनेके

लिअे हमें समाजके विचारोके नेताओंकी ओर देखना पड़ेगा। नेताओसे मतलब सिर्फ राजनीतिक नेताओसे नहीं है। इसमें कला, उद्योग, विज्ञान, दर्शन सभी क्षेत्रोके नेताओको लेना पड़ेगा। बल्कि ललित-कलाओके नेताओंकी ओर दृष्टि डालनेपर हम बहुत सुगमताके साथ समाजके विचार-प्राधान्यको देख सकते हैं। चित्रकला, सगीत और कविता, वस्तुतः इस विषयके पक्के नाप हैं। अिन भारतीय ललित-कलाओके पिछले तीन हजार वर्षके अतिहास और अुनकी देनको यदि हम अच्छी तरहसे देखे, तो हमें मालूम होता है कि, पहिली सात शताब्दियोमे भारत बुद्धिप्रधान रहा। अी० पू० दूसरी शताब्दीसे लेकर अी० दूसरी शताब्दी तक मिश्रित रहा और अुसके बादसे आज तक श्रद्धाप्रधान।

आअिये, अिसे हम पहिले मूर्तिकलाके क्षेत्रमें देखें। अी० पू० पांचवीं शताब्दीसे पहिलेके कमसे कम हजार-डेढ़-हजार वर्ष पहिलेकी मूर्तियोके नमूने हमारे पास नहीं है। यदि हैं भी तो अुनके कालके विषयमें निश्चित-रूपसे हम कुछ नहीं कह सकते। अी० पू० तीसरी शताब्दीकी कितनी ही पत्थरकी मूर्तियाँ अशोकके स्तम्भों तथा कितने ही स्तूपोके कठघरोमें मिलती हैं। अिस कालसे दो-तीन सौ वर्ष पहिलेकी कितनी ही मिट्टीकी मूर्तियाँ या खिलौने कौशाम्बी (कोसम, जिला अिलाहाबाद) भीटा (जि० अिलाहाबाद) आदि स्थानोंमें मिली है। अुन्हें देखनेसे मालूम होता है कि, अुस समयका कलाकार वस्तुको जिस पाञ्चभौतिक रूपमें देखता है, अुसीको मिट्टी या पत्थरमे अुतारना चाहता है। अिसका यह मतलब नहीं कि मनुष्यके मानसिक भावोंकी जो छाप अुसके मुखमण्डलपर या बाह्य आकार पर पळती है, अुसको वह विलकुल छोळ जाता है। बात यह है कि, वह अपने पैरोंको ठोस भूमिपर रखना चाहता है। अुसके लिअे भौतिक पदार्थ पहिली वास्तविकता है, जिसके आधारपर वह मानसिक जगत्की आभाको लाना चाहता है। यदि हम प्रथम कालकी मूर्तियों या खिलौनोंको नापकर देखें,

तो मालूम होगा, कि अुस वक्त मनुष्यकी आकृति बनानेमें 'ताल-मान'^१ अुतना ही रक्खा गया था, जितना कि अेक वास्तविक मनुष्यमें होता है। पशुओंकी मूर्तियोंके बनानेमें भी यही ख्याल देखा जाता है, जैसा कि सारनाथके अशोकस्तम्भके शिखर पर अुत्कीर्ण, मिह, वैल, घोळा, हाथी की मूर्तियोंसे स्पष्ट होता है। अिस कालका अन्तिम समय अी० पू० दूसरी शताब्दीका आरम्भ वह समय है जब कि भारत राजनीतिक अुत्कर्षके मध्याह्नके पहुँचा था। मौर्य-साम्राज्यकी सीमाओंतक पहुँचनेका मौका कभी भी किसी भारतीय साम्राज्यको नहीं मिला। समुद्रगुप्तके समय (३४०—३५ अी०) में गुप्त-साम्राज्यका विस्तार बहुत हुआ था; किन्तु अुस समय भी अुसकी सीमा हिन्दुकुश तक पहुँचना कहाँ, दक्षिण-भारतमें भी उसका प्रवेश दूर तक नहीं हुआ था। कलाकी वास्तविकता मौर्य-कालमें चरम अुत्कर्षपर पहुँची थी। संसारमें जो कुछ अुत्कर्षगामी परिवर्तन होता है, वह वास्तविकताके आधारपर ही होता है, स्वप्नके आधारपर नहीं।

अिस प्रथम कालकी कविताओंको यदि हम देखें, तो यद्यपि अुनके नमूने अुतनी अधिक संख्यामें नहीं मिलते, तो भी बौद्ध-सूत्रों, धम्मपदकी गाथाओंको देखनेमें मालूम पड़ता है कि, अुसमें वास्तविकताकी तरफ ही अधिक ध्यान दिया गया है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रको देखनेसे तो साफ पता चल जाता है कि, हजारों प्रकारके मिथ्या-विश्वास, जिन्हें अिस बीसवीं शताब्दीमें भी ब्रह्मविद्या, योग और महात्माओंका चमत्कार कहकर सुशिक्षित लोग प्रचारित करना चाहते हैं, अुन्हे मौर्य-साम्राज्यका यह महान् राजनीतिज्ञ झूठा समझता है। अिसका यह मतलब नहीं कि लोग अुस समय अिन झूठी धारणाओंसे मुक्त थे। हाँ, विचार देनेवाली श्रेणी

^१ ठुडुसे लेकर ललाटेके अन्त भागका सारे शरीरसे अनुपात।

अससे बहुत हद तक मुक्त थी, यह जरूर मानना पड़ेगा। आजकी यूरपकी शक्तियोंको ही ले लीजिये। अंगलैण्डमें भी जन्मपत्री, हस्तरखा, तावीज जैसी चीजोंका वैसा ही जोर है, जैसा हमारे यहाँ; लेकिन फर्क यह है कि हमारे यहाँके शासक—जिनके हाथमें अब भी शासनका थोड़ा-बहुत अधिकार रह गया है—अपने राष्ट्रीय महत्त्वके काममें भी शुभ मुहूर्त आदिका ख्याल लाये बिना नहीं रहते। लेकिन अंगलैण्डका कोई राजनीतिज्ञ किसी अैसे भाषण देनेके लिये—जिसके अपूर देशके भाग्यका वारा-न्यारा होनेवाला है—अैसी शुभ सायत नहीं पूछेगा। अंगलैण्डने हजारों लड़ाइयाँ लड़ी, अितना वळा साम्राज्य कायम किया, लेकिन अुसे कभी किसी 'जोतिसी'की जरूरत नहीं पळी।

प्रथम कालके चित्रकलाके नमूने हमारे सामने नहीं है। लेकिन अुस कालकी मूर्तियोंसे हम अुसके वारेमें अनुमान कर सकते हैं। अुस समय भी रेखायें अवश्य मूर्तियोंकी भाँति ही दृढ और वास्तविक रही होंगी। चित्र और मूर्तिमें रंगहीका तो भेद होता है। जब रेखायें अुस समयकी वास्तविक थीं, तो रंग भी वास्तविक ही रहा होगा। अिस प्रकार चित्रकलाके भी वास्तविक होनेका ही अनुमान होता है।

संगीत-विद्याकी सभी परिभाषाओं और विशेषताओंके वारेमें तो नहीं कह सकती, लेकिन अुस समयके वर्णनसे मालूम होता है कि, अुसमें अितनी कृत्रिमता नहीं आती थी। वीणा थी। अुसके तारोंके मिलानेका भी वर्णन आता है। लेकिन छँ राग और अुनमें प्रत्येककी पाँच-पाँच छँ छँ पटरानियोंका कही पता नहीं। अिसका यह मतलब न समझ लें कि, मैं २२ सौ वर्ष पहिलेकी बातोंकी झूठमूठ तारीफ करके आपको पीछे खीचना चाहता हूँ। अधिक-से-अधिक मेरे कहनेसे आप यही भाव निकाल सकते हैं कि अुस समयभी प्रथम कालकी भाँति ही वास्तविकता थी। अनुभवकी मात्राके अनुमार, मानव-जगत्के वैयक्तिक और सामाजिक विकासके

अनुसार, हमारी सभी बातोंमें विकास होना जरूरी है। हाँ, उसकी धारा वास्तविकताको लिअे होनी चाहिये। अेक और बात है। अुस समय संगीतके लिअे सुमधुर कंठकी अनिवार्यता भी बतलाती है कि अुसमें अुतनी कृत्रिमता नहीं थी। आजकल कितने ही बळे बळे अुस्ताद अपना गुणुँदखिलानेके लिअे बैठ जाते है। गाना तो अैसा होता है कि आस-पास किसी पेळपर शान्त वैठी चिळिया भी अुळ जाय; लेकिन लोगोके वाह-वाह और तारीफके पुलका ठिकाना नहीं। यदि आप अुसमें शामिल नहीं होते तो आप अज्ञ और अनधिकारी है।

मै जो यहाँ संगीतके बारेमें कह रहा हूँ, यही बात कविताके अूपर भी हबहू लागू हो रही है। अुस प्राचीन कालमे और अुसके बाद भी बहुत समय तक संगीतसे नृत्यका अटूट सम्बन्ध रहा। किसी कलाकी वास्तविकता अिससे भी मालूम होती है कि, वह सार्वजनीन कितनी है। कलाकी कसौटी मनुष्यका हृदय है; कलाविदोंका दिमाग अुसके लिअे पक्की कसौटी नहीं है। अिसीलिअे कला जब तक वास्तविक रहेगी, तब तक सार्वजनीन भी रहेगी। अिसका यह मतलब नहीं कि कलाको तत्कालीन सार्वजनिक मानसिक विकासके साथ गठजोळा कर दिया जाये। कला और कला-प्रेमियोंका मानसिक विकास दोनों ही स्थायी वस्तु नहीं है—दोनों ही आगे बढ़ती रहेगी। मतलब सिर्फ सामंजस्य और अुपयोगितासे है। गुप्त-काल और अुसके बादकी नृत्यकलाके ज्ञानके लिये हमारे पास साधन है, लेकिन अुस प्राचीन कालकी नृत्यकलाका हमारे पास न साकार चित्र है, न शब्द-चित्र; तो भी अुसके अच्छे-बुरेका फैसला विशेषज्ञोके हाथमें न था, यह तो मालूम है। अिसीसे वह भी दूसरी ललित कलाओंके समान ही वास्तविक थी।

कविता और साहित्यके बारेमें भी वही बात समझनी चाहिये जो अन्य ललित कलाओके बारेमें अभी कही गयी है। अुस समयका साहित्य-दर्पण,

साधारण मनुष्यका हृदय था। उसके लिये कसौटीका अधिकार, अनुदिमागोंको नहीं दिया गया था जो वास्तविक कविताकी अंक पंक्ति भी न लिख सकें किन्तु, अलंकार और अलंकारिनियों तथा रस और ध्वनियोंकी शाखा पर शाखा पैदा करनेमें अंक-दूसरेके कान काटे।

संधिकाल (२०० अी० पू० से ३०० अी०)में पैरको ठोस पृथ्वीपर जमाये रखनेकी कोशिश की गयी; लेकिन वह धीरे-धीरे जमीन छोळने लगा; यदि पंजेकी तरफसे नहीं तो अंठीकी तरफसे तो जरूर। असा न होनेपर पीछेके विकार कभी सम्भव न थे। गुप्तकालमें भावुकताकी प्रधानता होती है; लेकिन तब भी वास्तविकताको छोळनेमें कलाकारको मोह लगता है। कन्धा, मोढ़ा, और छातीकी वनावट गुप्तकालकी अपनी विशेषता है। अिन तीनों अङ्गोमे सौन्दर्यके साथ पूर्ण मात्रामे बल भरनेकी कोशिश की जाती है। आप अुदय-गिरि-गुफा (भिलसा)के वराहको देखिये या छोटी-मोटी किसी भी अुस कालकी मूर्तिको; यह बात स्पष्ट हो जायगी। लेकिन साथ ही नजाकत भी शुरू होती मालूम होगी; जो पीछे चलकर ललित-कलाके लिये अंक मात्र आदर्श बन जाती है। अुस कालकी मूर्तियोंकी भाँति ही यह बात अजन्ताके तत्कालीन चित्रोमें भी देखी जाती है। अिन विशेषताओंको कालिदासकी कविताओं भी अुसी मात्रामें प्रकट करती है।

यहाँ अंक बातपर और भी ध्यान दिलाना है। यदि हम गुप्त-कालके पहिलेके अपने भोजनको लें, तो मालूम होगा कि अुसमें षट् रस तो जरूर रहा होगा, किन्तु अभी तक अुसे सोलह प्रकार और बत्तीस व्यंजनोंका रूप नहीं दिया गया था। अितने मसालोंका तो अंक तरहसे अुस समय अभाव था। पान खाना तो लोग जानते ही न थे। छौंक-वघार भी अितनी मात्रा तक नहीं पहुँचा था। अिससे हमें यह भी मालूम हो जाता है कि, मनुष्यकी प्रगति जिस किसी ओर होती है, वह अुसके जीवनके सभी अंगोमें होती है।

छठवीं शताब्दी तक तब भी हमारा अंगूठा धरतीपर रह जाता है। लेकिन उसके बाद तो हम आकाशचारी हो जाते हैं। हमारे पैर जमीनपर पछते ही नहीं—वास्तविकतासे हम अपना नाता तोड़ लेते हैं। हाँ, अुसी हद तक जिस हद तक अुसका तोड़ना सम्भव है। आग्विर हवा पीकर तो हम जी भी नहीं सकते।

सातवीं शताब्दीके बाद सभी क्षेत्रोंमें वास्तविकतापर भावुकताकी विजय होती है। बुद्धिको श्रद्धाके सामने परास्त होना पछता है और अुसके साथ साथ हमारी राष्ट्र-नौका भी पक्के भँवरमे पछ जाती है। समयके बीतनेके साथ साथ हम अिस भावुकतामें आगे-आगे बढ़ते जाते हैं। आजका यह वैज्ञानिक युग यद्यपि प्रेरित करता है कि हम स्वप्नजगत्को छोड़ें और वास्तविक जगत्मे आवें; लेकिन शताब्दियोंके दुष्प्रभावने हमारे मनपर अितना काबू कर रखा है कि, यदि हम अेक कदम आगे बढ़ते हैं तो, तीन कदम पीछे खीच लिअे जाते हैं। कोअी कहता है—‘अरे यही तो भारतीयता है, यही तो भारतीय राष्ट्रकी आत्मा है। हमारा भारत हमेशा सत्यं शिवं सुन्दरंका पुजारी रहा।’ कोअी कहता है—‘यह भारतकी प्रकृतिके ही बिलकुल प्रतिकूल है। हमारे हवा-पानीमें, हमारी मिट्टीमें, हमारे खमीरमें आध्यात्मिकता कूटकूटकर भरी है। देखते नहीं, अिस गये-गुजरे जमानेमें भी हम रामकृष्ण और रामतीर्थको पैदा करते हैं। थियोसफी और सखी-समाजका स्वागत करते हैं। कोअी हजार कोशिश क्यो न कर ले, भारत भारत ही रहेगा।’ अैसा होनेपर तो, भारतके पैरोंका जमीनपर जमना असम्भव है।

यदि हमारा यही दृढ़ विश्वास है तो हमारा भविष्य भी अैसा ही रहेगा। हमारे अुद्धारका अेक मात्र अुपाय है—बुद्धिवाद, वास्तविकताको मजबूती से पकछना। अिसके रास्तेमे चाहे जो भी वाधक हो, अुससे हमें लोहा लेना होगा। अगर हमारे खमीर में भावुकता ही बदी होती तो, भारत बौद्ध और

चार्वाक जैसे नास्तिकोंको न पैदा करता। सहस्राब्दियों तक अराजक संघों और गणोंके द्वारा राजशासन न चलाता। बुद्धिवाद और भावुकताके पिछले तीन हजार वर्षोंमें व्याप्त प्रवाहका अध्ययन करनेसे साफ मालूम होता है कि, हम अत्कर्षोन्मुख तभी तक रहे, जब तक हम बुद्धिका आश्रय लेते रहे। बुद्धिका आश्रय लेनेका यह मतलब नहीं कि, भावुकताकी अुसमें मात्रा ही न हो। हर अेक प्रगतिके लिअे आदर्शवाद और त्यागकी आवश्यकता है; लेकिन लगाम बुद्धिके हाथमें रहनी चाहिअे।

(१८)

तिब्बतमें चित्रकला

१—संक्षिप्त इतिहास

६३० अी० मे स्त्रोङ्ग्-ब्र्चन्-स्र्गम्पो अपने पिताके राज्यका अधिकारी बना। ६४० अी० तक अुमके साम्राज्यकी सीमा पश्चिममें गिल्गितसे लेकर पूर्वमें चीनके भीतर तक, उत्तरमे गोबीकी मरुभूमिसे दक्षिणमें हिमालयकी तराही तक फैल गयी। ६४० अी०में सम्राट्की नेपाली रानी स्त्रि-चुन्के साथ सर्वप्रथम बौद्धधर्म तिब्बतमे पहुँचा। बौद्ध-धर्म और चित्रकलाका घनिष्ठ संबंध है। भारतमें सर्वप्राचीन, तथा सर्वोत्तम अजंताके चित्र बौद्धोंकी ही कृतियाँ है। बौद्ध-चित्रकलाके नमूने सिहल, स्याम, चीन, जापान आदि देशोंमें ही—जहाँ कि बौद्धधर्म सजीव है—नही प्राप्त होते, बल्कि अुन्हें गोबीके रेगिस्तान और मध्य-ओरान तकमें सर् औरैल् स्टाइनने खोज निकाला है। अिस तरह बौद्ध-धर्मके साथ साथ चित्रकलाका भी तिब्बतमें प्रवेश स्वाभाविक ही है। नेपाल-राजकुमारी स्वयं अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय और ताराकी मूर्तियोंके साथ कितने ही स्थापत्य-शिल्पी तथा चित्रकार लायी थी। ६४१ अी०में सम्राट् स्त्रोङ्ग्-ब्र्चन्-स्र्गम्पोकी दूसरी रानी चीन-राजकन्या कोङ्ग्-जो अेक बुद्ध-प्रतिमाको लहासा लायी। यह प्रतिमा किसी समय भारतसे घूमते-फिरते चीन पहुँची थी। अुसने पहले ही निश्चय कर लिया था, कि मैं अपनी प्रसिद्ध प्रतिमाके लिये राजधानीमें अेक मंदिर बनवाऊँगी; और लहासा पहुँचते ही अुसने

र-मो-छेका प्रसिद्ध मंदिर बनवाना शुरू किया। नेपाली रानीकी अम-मर्थता देख सम्राट्ने स्वयं अुसके लिअे ल्हासाके मध्यमे जो-खड्का मंदिर बनवाया। र-मो-छे और जो-खड्के बनानेमे यद्यपि अधिकतर नेपाली (भारतीय) और चीनी शिल्पियोंकी सहायता ली गयी, किंतु अुसी समय भोटको भी स्थापत्य तथा चित्रकलाका क-व आरभ करना पळा।

सातवी शताब्दीके मध्यमें अुत्तरी भारतके सम्राट् हर्षवर्धनके प्रशांत शासनमें गुप्तोके समयमे चलती आयी, कला तथा विद्याकी प्रगति बढ़ती ही जा रही थी। चित्रकलाके कुछ अंगोके अवसादका समय डेढ़-दो सौ वर्ष बादसे होता है। अिसके कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि नेपाल आजकी तरह अुस समय भी कला आदिके सबधमे भारतका अंग था। चीनमे भी अुम समय ह्वेन्-चाङ्के संरक्षक थाङ्-वगका राज्य था। यह काल चीनकी चित्रकलाका सर्वोत्तम समय माना जाता है। अिस प्रकार भोट देशवासियोंको भारत और चीनसे अैसे समय सबध जोळनेका असवर मिला, जब कि अिन दोनों देशोंमें कलाका सूर्य मध्याह्नमे पहुँचा हुआ था।

ल्हासाके र-मो-छे और जो-खड्के मंदिरोंकी भीतोमे यद्यपि अुस समय चीनी और भारतीय चित्रकारोंने मुदर चित्र अकित किअे थे, किंतु अब वह अुपलब्ध नहीं है। तिब्बतमे अीधनके दुर्लभ होनेके कारण चूनेकी पक्की दीवारोंके बनानेका रवाज नहीं है। अिमीलिअे कुछ वर्षोंके बाद जब प्लस्तर निर्बल होकर टूटने-फूटने लगता है, तब सारे प्लस्तरको अुखाळकर पत्थरकी बनी दीवारों पर दूसरा प्लस्तर कर नयी तरहमे चित्र बनाअे जाते हैं। अभी अुस दिन (२७ मयी १९३४ अी०को) हम ल्हासाका से-र विश्वविद्यालय देखने गअे। अुसके स्मद्-ग्र-मड् (महाविद्यालय)के सम्मेलन-भवनकी दीवारोंका प्लस्तर अुखाळा जा रहा था। अेक ओरसे डेढ़-दो सौ वर्ष पुराने चित्र टुकळे-टुकळे हो जमीन पर गिर रहे थे, और दूसरी ओरसे नया प्लस्तर लगाया जा रहा था! यद्यपि जो-खड् और

र-मो-छेके आजकलके प्लस्टर अिममे कहीं अधिक दृढ सामग्रीके बने है; तो भी अुनकी आयु तेरह शताब्दियोंकी नहीं है। अिस मुदीर्घ कालमे अुनके प्लस्टर न जाने कितनी बार नअे बने हांगे, अिमीलिअे अुन आरंभिक चित्रोंका अब पता नहीं मिलता। अुस समयकी काष्ठ-पाषाणकी मूर्तियाँ एवं विशाल काष्ठ-स्तंभोंमे अुत्कीर्ण रूप यद्यपि आज भी मौजूद है, और अुनसे अुस समयकी चित्रकलाका कुछ अनुमान हो सकता है, तो भी वे चित्रकला न होनेसे मेरे अिस लेखका विषय नहीं हो सकते।

अुसके बाद प्रायः दो सौ वर्ष बीत जानेपर ८२३-८३५ अी०में ब्सम्-यस्का महाविहार बना। पुराने अितिहास-लेखकोंके अनुसार यह स्वयं महाराज धर्मपाल (७६९-८०९ अी०)के बनवाअे अुडचंतपुरी (वर्तमान विहार-शरीफ, पटना) महाविहारके नमूने पर बनवाया गया। अिसकी पुंष्टि अुस विहारकी आकृति भी करती है। अिस समय विस्तार और वैभवमे भोट-साम्राज्यका सूर्य मध्याह्नपर पहुँचा हुआ था। भोटके धर्माशोक सम्राट् खि-स्रोड-ल्दे-बचन् (८०२-८४५ अी०) बौद्ध-धर्मके लिअे सब तरहका त्याग करनेके लिअे तैयार थे। विहारका निर्माण नालंदाके महान् दार्शनिक शांतरक्षितके तत्त्वावधानमें हो रहा था। अिस विहारको सुमेरु, अुसके चारो महाद्वीप, आठ अुपद्वीप तथा चक्रवाल जैसी परिखाके साथ बनवाना ही अिसे अच्छी प्रकार निर्दाशित करता है, कि विहार निर्माणमें कलाका कितना ख्याल किया गया होगा। अुस समय अिस विहारके केंद्रवर्ती देवालय तथा १२ द्वीपोंकी दीवारोंमें बहुतसे सुंदर चित्र अंकित किअे गअे थे। आचार्य शांतरक्षितके भोटदेशीय शिष्य भिक्षु (प-गोर) वैरोचन-रक्षित स्वयं भी चित्रकार थे। अुनके हाथका बनाया अेक चित्र अब भी ब्सम्-यस्के जोङ (कलकटरी)मे बतलाया जाता है। वैरोचनसे पूर्व अनेक भोटदेशीय चित्रकार रहे हांगे, किंतु अपनी कृतियोंके साथ अुनका नाम भी लोगोको विस्मृत हो गया है। ब्सम्-यस्की दीवारें अब भी चित्रित है, किंतु ग्यारहवी शताब्दीमें आगसे

जल जानेसे वह चित्र पहलेके नहीं हैं। वैरोचनके बाद दूसरा प्रसिद्ध चित्रकार तोन्-छोग्-छुङ्-मेद है। उसके समयका ठीक ठीक पता नहीं है।

खि-खोङ्-ल्द-बचन्के पौत्र सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-९०१ आ०) बौद्ध-धर्मके अंध भक्त थे। उन्होंने बहुतसे मंदिर और मठ बनवाये, जिनमेंसे कितने ही अब भी मौजूद हैं। भोट देशमें जो विहार जितना ही अधिक वैभवशाली होता है, वहाँ प्राचीन भित्ति-चित्रोंकी रक्षा अतनी ही कठिन है; क्योंकि जरा भी दीवारोको विगळते या चित्रोंको मलिन होते देख मरम्मत करके उसकी प्राचीनता लुप्त कर दी जाती है। किंतु, ल्हासासे दूरके स्थानोंमें वैभवहीन अपेक्षितप्राय कुछ ऐसे विहार मिल सकते हैं, जिनमें प्राचीन मूर्तियाँ और चित्र अपने प्राचीन रूपमें मिल सकते हैं। ग्चङ् प्रदेशमें ग्यांची, ने. स. जैसे कुछ विहारोंका अस्तित्व है भी।

रल्-प-चन्के अनंतर थोड़े समयके बाद दसवीं शताब्दीके अंतमें— ये-शेस्-जोद् (=ज्ञानप्रभ) और रिन्-छेन्-व्सङ्-पो (=रत्नभद्र)के समयसे फिर बौद्ध-धर्मका अत्कर्ष होने लगता है; और उसके साथ नये मंदिरों और उनके चित्रोंका प्रचार बढ़ने लगता है। रत्नभद्रके बनवाये लदाखके अल्ची और सुम्-दाके विहारोंमें अब भी उस समयकी कलाके सुंदर नमूने मिलते हैं। दुर्भाग्य-वश कश्मीर-सरकार और जनता दोनोंकी अपेक्षासे चित्रकलाके यह सुंदर भांडार थोड़े ही समयमें नष्ट हो जानेवाले हैं। स्नर्-थङ् (स्थापित ११५३ आ०) ग्यारहवीं शताब्दीके कुछ भूले-भटके नमूने श-लु, रे-डिङ् (ब्रोम्-स्तोन् १००३-१०६४ द्वारा स्थापित), स्पोस्-खङ्में पाये जाते हैं। रे-डिङ्में मौजूद कुछ चित्रपटोंको तो खास ब्रोम्-स्तोन्-पका बनाया कहा जाता है। उनमेंके कितनेही चित्र भारत या नेपालसे आये हुये हैं।

बारहवीं शताब्दीकी चित्रकला भी दुष्प्राप्य सी है। उसके कुछ भित्ति चित्र द्वग्स्-पो (११२४ आ०), स्नर्-थङ् (११५३ आ०), कर्-म-ल-ल्देङ्

(११५३), ग्दन्-स-मथिल् (११५८ आ०), स्तग्-लुङ् (११८०), ऽन्नि-गोङ् (रिन्-ब्सुङ् ज० ११४३ द्वारा स्थापित)के मठोंमें मिलेंगे।

तेरहवीं शताब्दीके चित्रोंके लिअे विक्रमशिला महाविहारके अंतिम संघनायक शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ आ०)के भोटमें दस वर्षके प्रवासके समय (१२००-६)के चार विहारों—(१) स्पोस्-खङ्-छोगस्-प (ग्चङ्), (२) ग्र-नङ्-ग्यं-ग्लिङ्-छोगस्-प (ल्हो-ख), (३) ग्र-फिय-छोङ्-ऽदुस्-छोगस्-प, (४) सेन्-ग्दोङ्-चे-छोगस्-प—की ओर देखना होगा।

तेरहवीं चौदहवीं शताब्दीका अेक बळा संग्रह स्पोस्-खङ् (ग्यांचीके पास)में है। स्पोस्-खङ्का अेक चित्रपट तो विलकुल भारतीय जान पळता है। अनि चित्रोंपर भारतीय चित्रकलाकी भारी छाप है। चौदहवीं शताब्दीके दो दर्जन सुंदर चित्रपट स-सक्य मठके, गु-रिम्-ल्ह-खङ्में है।

पंद्रहवीं शताब्दीमें द्गो-लुग्स्-प या पीली टोपीवाले संप्रदायके कितने ही मठ स्थापित हुअे, जिनमें द्गऽ-ल्दन (१४०५ आ०), ऽत्रस्-स्पुङ् (१४१६ आ०), से-र, छब्-म्दो (१४३७ आ०), ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो (१४४७ आ०) थोळेही समयमें बळे बळे विश्वविद्यालयके रूपमें परिणत होगअे। अनिमे भित्ति-चित्र और चित्रपट बहुत है। संभव है, अुस समयके कुछ चित्रपट अनिमें प्राप्त होजायँ, किंतु भित्ति-चित्र प्रायः प्रत्येक शताब्दीमें नअे होते रहे हैं।

सोलहवीं शताब्दीके चित्रोंके लिअे भी हमें अपर्युक्त द्गो-लुग्स्-प मठोंकी ओर विशेष रूपसे देखना होगा। अिसी शताब्दीमें स्मन्-थङ्-यब्-स्रस् और ल्हो-ख प्रदेशके ऽक्योङ्-ग्यंस् स्थानमें अुत्पन्न अेक प्रसिद्ध चित्रकार भिक्षुणी छुङ्-त्रिस् और चित्रकार चे-ग्दुङ् हुअे थे।

स्मन्-थङ्-यब्-स्रस्ने ल्हासाके जो-खङ्की दीवारोंको चित्रित किया था। यद्यपि अुसके बनाअे चित्रोंपर पीछे कअी बार रंग चढ़ाया गया है, किंतु कहते हैं, रेखाअे पुरानी हैं। (ल्हो-ख)-छुङ्-त्रिसके अंकित ६ चित्रपट

ल्हासाकी ल्हलुङ्-ल्ह-चम्के महलमें है। अनिपर चित्रकलाका बहुत अधिक प्रभाव चीनी है। रंग हल्के कितु बळे ही संकेतपूर्ण है। चॅ-ग्दुङ् चित्रकारके लिखे ३५ चित्रपट ऋ-शी-ल्हुन्पो मठसे पूर्व दो दिनके रास्तेपर ब्रह्मपुत्रके दाहिने किनारे पर अवस्थित रोङ्-ब्रग्-प गाँवके मालिकके घरमें है।

ल्हासाका सुर-खङ्क सामन-गृह बहुत पुराना है। कहते है, पहले अिसी स्थान पर तिब्बतके सम्राट् रहते थे। सुर-खङ्कके स्वामी मानसरोवर प्रदेशसे, शायद पाँचवें दलाआलामाके समयमें, आये थे। सुर-खङ्ककी वर्तमान स्वामिनी खुद आदि सम्राट् सोङ्-बचन्-सगम्-पोके वशकी है। यदि बीच बीचके राजविप्लवोंमें घर नष्ट न हुआ होता, तो यहाँ कितनी ही पुरानी वस्तुओं मिल सकती। अनिके यहाँ वज्रपाणि-मजुघोष-अवलोकितेश्वरकी अेक सुंदर पीतल-मूर्ति है। मूर्ति भारतीय ढगसे बनायी गयी है; और अुस परका लेख—“ख्यद्-तु-ऽफगम्-प-स्तोन्... क्रियम्... बशेङ्क स्” बतला रहा है कि अुसे सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-९०१ आ०)के समकालीन ख्यद्-पर्-ऽफगम्-व्-स्तोन् लो-च-वने बनवाया था। पहले अिस वंशके पास १६ भारतीय अर्हतों (स्थविरो)के चित्रपट थे, जिनमें आठ १९०८ आ०की लळाआमे चीनियोंके हाथ लगे, और अुन्होंने ल्हासाके अेक दूसरे खानदानके हाथ अुन्हें बेच दिया। आठ अब भी सुर-खङ्कमें है। यद्यपि यह (ल्हो-ख)-छुङ्-ब्रिस्के समकालीन नहीं है, तो भी अनिका काल सत्रहवीं शताब्दीमें पीछेका नहीं हो सकता। अनिमें भी छुङ्-ब्रिस्की भाँति ही भूमिको सजानेकी कोशिश नहीं की गयी है। नीचे हलके रंगमें नदी, पहाळ, फिर अत्यंत क्षीण रंगमें अंतरिक्ष और सबसे अूपर हलके नीले रंगमें आसमान दिखलाया गया है। रंगोंका छाया-क्रम अितना बारीक है कि देखते ही बनता है। जहाँ छुङ्-ब्रिस्के चित्रोंमें चीनी आँख-मुँह और प्राकृतिक सौंदर्यका अधिक प्रभाव है, वहाँ अनि चित्रोंमें भारतीय प्रभाव मिलता है। छुङ्-ब्रिस्ने अपने चित्रोंमें सोनेका बहुत

कम अपुपयोग किया है और वस्त्रोंको भी अतुने वेलवूटेमे सजानेकी कोशिश नहीं की है; वहाँ अिन चित्रोंमें अुनका अपुपयोग कुछ अधिक किया गया है। अितना होते हुए भी असि बेनामवाले चित्रकारने भाव-चित्रण बळी सुंदरतासे किया है। भी, नाक, केश और अँगुलियोंके अकनमे अुसकी तूलिकाने बहुत कोमलताका परिचय दिया है। छुङ्क-त्रिम्के चित्रोंकी भांति कृत्रिमतासे सर्वथा न शून्य होनेपर भी अिन चित्रोंमे सजीव कोमल सौंदर्य काफी मात्रामे मिलता है। बुद्धके चित्रोंके लिअे तो मालूम होता है, भारतहीमें सातवी शताब्दीमें कोअी महाशाप लग गया, और तबसे कहीं भी बुद्धकी सुंदर मूर्ति या चित्र नहीं बन सका। यह बात छुङ्क-त्रिम् और असि मुख्-खङ्कके अजात चित्रकारके वारेमे भी ठीक घटनी है।

सत्रहवी शताब्दीमें भी तिब्बतमें अनेक चित्रकार हुअे। अिसी शताब्दी (१६८८ अी०)में पांचवे दलाअीलामा मुमनिमागर (१६१७, ८० अी०) सारे तिब्बतके महत्-राज हुअे। अिन्होंने १६८५ अी०में ल्हासाका प्रसिद्ध पोतला-प्रासाद बनवाया। कुशल शासक, विद्याव्यसनी होनेके साथ ये बळे कला-प्रेमी भी थे। छोम्-र्द्व्यङ्क-र्ग्य-म्छो (=धर्मधातुसागर) और स्दे-स्त्रिद्-ग्यऽमेल् अिनके समयके प्रसिद्ध चित्रकार थे। धर्मधातुसागरने ल्हासाके जो-खङ्ककी पारिक्रमाके कुछ भागको चित्रित किया था। अिन चित्रो पर भी पीछे कअी वार रग चढाया गया, कितु पुरानी रेखाअें कायम रखी गअी है।

अठारहवी शताब्दीमें भी अच्छे चित्रकार मौजूद थे। तिब्बत देशमें प्राचीन भारतकी भांति प्रायः चित्रो पर चित्रकार अपनं नाम अकित नहीं करते थे और न लेखकोको ही अुनकी स्मृति जीवित रखनेका ह्याल था, अिसीलिअे अुस समयके चित्रोंके होने पर भी अुनका नाम जानना बहुत कठिन है। अिसी शताब्दीके पहले पादके बनाअे वह तेरह चित्रपट है, जिन्हें लेखकने अपनी पिछली यात्रामें ल्हासामें संग्रह किया था, और जो अब पटना-म्यूजियममें हैं।

अुत्रीसवी शताब्दीके पूर्वाद्धमें ऽत्रस्-स्फुडस् विहारके क्लु-ऽबुम्-गे-शे चित्रकारका नाम बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्यारहवें दलाजीलामा म्खस्-ग्रुब्-ग्य-म्होके दरबारमे था। बारहवें दलाजीलामा खिन्-लस्-ग्य-म्हो (मृ० १८७५ अी०) के समय ल-मो-दकुन्-द्गऽ प्रसिद्ध चित्रकार था। अिसके बनाअे तीन चित्रपट ल्हासाके म्यु-रु मठके पार्श्ववर्ती ग्युद-स्मद विहारमें अब भी मौजूद है।

अुत्रीसवी शताब्दीके अंतिम पादसे आजकल तक भी कितने ही चित्रकार होते आअे हैं। किंतु उनमे वह दक्षता नहीं रही। अुन्होंने विशेषकर पहले लिखे चित्रपटोंकी नकल करनेका ही काम किया है।

२—शिक्षा-क्रम

निव्वतमें चित्रकलाके वंशानुगत होनेका नियम नहीं है। भिक्षु या गृहस्थ जिस किसीकी अुधर रुचि हुआ, अभ्यास करने लगता है। जिन्हें अपने बालकोंको पेशावाला चित्रकार बनाना होता है, वह आठ वर्षकी अवस्थामें लळकेको किमी चित्रकारके पास भेज देने है। मेधावी बालकको आवश्यक शिक्षा प्राप्त करनेमें तीन वर्षमें कुछ अूपर लगते है। यह शिक्षा तीन वर्गोंमें विभाजित है—

१—रेखा-अकन	१६ मास
२—माधारण रंग-अकन	१० मास
३—मूक्षम मिश्रित-रंग-अकन	११ मास

१—रेखा-अंकन—पहले खास तरहमें बने कोयला (जोकि पेंसिलका काम देता है)में चौकोर खाना बनानेवाली रेखाअें खीचना, फिर अुनपर मुख आदिकी आकृति बनाना। ठीक होने पर तूलिका-द्वारा अुन रेखाओं पर काली स्याही चढ़ाना सीखना।

रेखा-अकन वर्ग भी छै श्रेणियों या थिगुमें बँटा हुआ है—

(१) प्रथम श्रेणी—(१५५ अंगुल) (क) पहले बुद्धका मुख अंकित करना सिखाया जाता है। इसमें एक मास लगता है। गुरुके दिअे नमूनेके अनुसार कागज पर पहले २६ अंगुल लंबा और १६ अंगुल चौड़ा आयत क्षेत्र खीचना होता है। फिर निम्न प्रकारसे आळी-वेळी रेखाएं खीचनी होती हैं—

लम्बाओमें—

२ अंगुल	शिर की मणि
४ "	अुष्णीप
४ "	चूळा-ललाट
४ "	ललाट-अूर्णा
१ "	अूर्णा-नामामूल
१ "	नामामूल-नेत्रकी निम्न सीमा
२ "	नेत्रकी निम्न सीमा-नासाग्र
४ "	नासाग्र-ठुड्डी
४ "	ठुड्डी-कठकी निम्नसीमा
२६	

चौळाओमें—

६ अंगुल	दाहिनी कनपटीमे ललाटार्ध तक
६ "	बायीं कनपटीमे ललाटार्ध तक
२ "	दाहिने कानकी चौळाओ
२ "	बायें कानकी चौळाओ
१६	

(ख) मुखके अंकनका अभ्यास हो जाने पर ३ मासमे बुद्धके पचासनासीन सारे शरीरका अंकन सीखना पडता है। पहले ८४\ ५२का

आयत क्षेत्र बनाना होता है। फिर निम्न प्रकार लंबाजी और चौड़ाजीमें रेखाओं खींचनी होती हैं—

लंबाजीमें—

२६ अंगुल	शिरकी मणिसे कंठकी निम्न सीमा तक (अपर जैसे)
१२ "	कठमीमा—स्तन तक
१२ "	स्तन—केहुनी
२ "	केहुनी—नाभि
४ "	नाभि—कटि
८ "	कटि—मुळे घुटनेके प्रथम छोर तक
४ "	मुळे घुटनेके मध्य तक
४ "	मुळे घुटनेके अंतिम छोर तक
१२ "	शेषके लिये
८८	

चौड़ाजीमें—

१२ "	मध्य ललाटमे बगल तक
४ "	बगलमे पैरके अँगूठेके सिरे तक
२ "	पैरके अँगूठेके सिरेसे दाहिने बाजूके अंत तक
८ "	दाहिने बाजूके अंतसे मुळे घुटनेके अंतके पास तक
२६	

२ अतिरिक्त
५२ "

(ग) फिर अेक मासमें वस्त्रोंका अंकन करना सीखा जाता है।

श्रेणी-क्रममे रेखांकनका विवरण अिस प्रकार है।

श्रेणी	विषय	अंगुल-परिमाण	मास
१	बुद्ध	१५५	५
२	अवलोकितेश्वर आदि बोधिमत्त्र	१२०	३
३	तारा आदि देवियाँ	१०८	३
४	वज्रपाणि आदि क्रोधी देव	६६	२
५	अर्हन् आदि		२
६	मनुष्य		१
			१६

अिस प्रकार १६ मासमे रेखांकन समाप्त होता है।

२—साधारण रंग-अंकन—अिसमे मीधे-मादे रंगोको अलग अलग अंकित करना सीखा जाता है। क्रम और काल अिस प्रकार है—

हरा रँगना	१ मास
आकाश रँगना	१ "
दूसरे रंग (अलग अलग)	८ १/३ "
	१०

३—सूक्ष्म, मिश्रित रंग-अंकन—पत्ते आदिके सूक्ष्म और अनेक छाया-वाले रंगों, सोनेके काम तथा केश आदिका अंकन अिस अंतिम श्रेणीमें सीखा जाता है। क्रम और काल अिस प्रकार है—

पत्ता	१ मास
लाल	१ "
सोनेका काम	३ "
केश, भौ आदि	६ "
	११

तीनों वर्गोंको समाप्त कर लेने पर भी छात्र कितने ही समय तक अपने गुरुका सहायक बन काम करता रहता है।

३—चित्रण-सामग्री

चित्रण-क्रियाके लिये चार चीजोंकी आवश्यकता होती है—(१) भूमि, (२) तूलिका आदि, (३) रंग, (४) रंग-पात्र।

(१) भूमि—तिब्बतमें चित्रणकी भूमिके लिये साधारणतया पट, भित्ति या काष्ठ-पाषाणके टुकड़ोंका उपयोग किया जाता है।

(क) पटको दर्पण-समान निर्मल, श्वेत, रेखा-रहित, कोमल, लचकदार तथा तिनकोनी बिनाभीसे शून्य होना चाहिए। इसके लिये अधिकतर कपासके कपड़ेका अस्तेमाल होता है। वस्त्र को अपेक्षित आकारमें काटकर उसके चारों ओर बाँसकी चार खपीचे सी देनी होती है। फिर लकड़ीके चौखटेमें उसे रस्सीसे इस प्रकार कसकर ताना जाता है, कि पट सब जगह अंक सा तन जाय। फिर १ श्वेत^१ रंगमें १ सरेस डाल गुनगुने पानीसे मिलाकर पतली लेअी बनायी जाती है। इस पतली लेअीको कपड़े से भिगोकर पट पर लेप दिया जाता है। चारों ओर बराबर पुत जाने पर पटको छायामें सूखनेके लिये रख दिया जाता है। सूख जाने पर पटके नीचे लकड़ीका अंक चिकना पट्टा रखकर, पानीका हल्का छीटा दे दे उसे दोनों ओर चिकने पत्थरसे रगड़ा जाता है ; और फिर सूखनेके लिये छायामें छोड़ दिया जाता है।

ताननेको छोड़ वाकी प्लस्तर आदिका काम भित्ति और काष्ठ-पाषाणकी भूमि पर भी अंक सा ही किया जाता है।

^१ खळिया जैसा एक रंग; देखो रंगोंका वर्णन।

(२) **तूलिका**—चंदन, लाल चंदन या देवदारकी सीधी बिना गाँठकी लकड़ीको तेज चाकूसे (चाकूके अूपर दूसरी समतल सहारेकी लकड़ी रखकर) छीलकर अिस प्रकार गोल बनाया जाता है, कि अुसका अेक सिरा अधिक मोटा और दूसरा पतला हो जाता है। फिर मोटे सिरेको डेढ़ अंगुलके करीब खोखला कर दिया जाता है। तब बकरी, बिल्ली या दूसरे जानवरके पानी सोखनेवाले बारीक साफ और अेकसे बालको बराबर करके अुसके आधे भाग पर सरेसकी लेअी डाल-डालकर अुसमें खूब चिपका दिया जाता है; और सरेसवाले भागको सूत लपेटकर बाँधकर सरेसके सहारे तूलिका-दंडके खोखले भागमें मजबूतीसे बैठा दिया जाता है। सूख जाने पर तूलिका कामके लिअे तैयार होजाती है। तिब्बतके चित्रकार दो प्रकारकी तूलिका अिस्तेमाल करते हैं। भौ, केश आदिके चित्रणके लिअे अधिक सूक्ष्म किंतु परिमाणमें कम केशोंवाली पतली तूलिका काममें लाअी जाती है; और बाकी कामोंके लिअे अधिक केशोंवाली मोटी तूलिका।

तूलिकाके अतिरिक्त दूसरा आवश्यक साधन है—परकाल। यह अेक दो, तीन अगुल चौड़ी, प्रायः १ फुट लंबी तथा अेक अगुल मोटी वाँसकी कट्ठीको लंबाअीमें आधे-आध चीरकर अेक ओरके सिरेको लोहेसे छेदकर बाँध दिया जाता है। दोनो बाँहोंमेंसे अेकको नोकीला और दूसरेको कोयलेकी पेंसिल रखने लायक खोखला बना दिया जाता है। फिर दोनो बाँहोंको मोटाअीमें चीरकर अुनके भीतर अेक पतली खपीच डाल सिरोको सूत लपेटकर बाँध दिया जाता है। यही परकाल है।

तिब्बती चित्रकार दो प्रकारकी पेंसिले अिस्तेमाल करते हैं, अेक सेत-खरीके पत्थरकी और दूसरी कोयलेकी। कोयलेकी पेंसिलके बनानेका यह ढंग है। अेक हल्की लकड़ीको ताँबे या लोहेकी नलीमें डाल हल्की आँचमें डाल दिया जाता है, जल जानेपर नलीसे निकाल लिया जाता है। यही पेंसिल है। बिना नलीके भी हल्की लकड़ीको धीमी आँचमें जलानेसे

पेंसिल तैयार होजाती है। इस कामके लिये भारतमें सेंटेको काममें लाया जाता रहा होगा।

सोनेके कामको चमकानेके लिये अंक **घर्षण-तूलिका** होती है, जिसके सिरे पर बिल्लौर या चकमक जैसा कोशी चिकना स्वच्छ पत्थर जड़ा रहता है। पटके पीछे अंक छोटा चिकना काष्ठ-फलक रख स्वर्ण-रेखाको अुस कलमसे रगळा जाता है, जिससे सोना चमकने लगता है।

पानीमें धोकर अंकही तूलिका कभी रंगोंमें डाली जाती है।

(३) **रंग^१**—अब भी तिब्बतके अच्छे-अच्छे चित्रकार चित्रपटोके तैयार करनेमें अपने हाथसे बनाये रंगोंको अिस्तेमाल करते हैं। अिनमें खास तरहके पत्थरोसे बननेवाले रंग यह है—

क. अ.मिश्रित रंग

(अ) पाषाणीय

१. **सेत-खरी (दुर्-रग, पाषाणीय)**—ल्हासाके अुत्तरवाले रोङ्ग प्रदेशके रिङ्ग-बुम् स्थानसे यह सफेद रंगका डला आता है। डलेको पीसकर अधिक पानीमे घोल दूसरे वर्तनमें पसा देते हैं। नीचे बैठी कँकरीली तलछटको फेंक देते हैं। कुछ देर छोळ देने पर नीचे गाढ़ी सफेद पंक जम जाती है। फिर अूपरके पानीको फेंक दिया जाता है। इसमें गर्म पानीमें घुली सफेद सरेस ($\frac{1}{2}$) खूब रगळ रगळ कर मिला दी जाती है। इस प्रकार रंग तैयार होजाता है।

२. **नीला (थिङ्ग)**—ल्हासासे कुछ दूर पर जि-मो स्थानसे यह नीले रंगका बालू आता है। ठडे पानीके साथ थोळा सरेस मिला दो'घंटे

^१ सभी रंगोंके कच्चे पक्के नमूने मंने पटना-म्युजियममें ला रक्खे हं।

तक अिसे खलमें पीसना होता है । फिर अधिक पानी मिला अुसे अेक बर्तनमें पसाया जाता है । फिर पंद्रह मिनट तक थिर करके दूसरे बर्तनमें पसाया जाता है । दूसरेमें भी पंद्रह मिनट रखकर तीसरेमें पसाया जाता है । तीसरेमें भी पंद्रह मिनट रखकर चौथेमें पसा दिया जाता है । चौथे बर्तनमें आध घंटा रख पानीको फेंक दिया जाता है । चारों बर्तनोमें बैठी पंक चार प्रकारका नीला रंग देती है ।

(१) अतिनील (थिङ्ग-ऽत्रु) —अिससे वज्रधर आदिके शरीरका रंग बनाया जाता है ।

(२) अल्प-नील (थिङ्ग-शुन्) —अिससे आकाशका रंग बनाया जाता है ।

(३) अल्पतर-नील या श्याम (स्डो-ब्सड्) —अिससे पानीका रंग बनाया जाता है ।

(४) अल्पतम नील (स्डो-सि) —अिससे छाया, आकाशकी मलिनता आदि दिखलायी जाती है ।

३. हरित (स्पड्) —यह भी अपर्युक्त जि-मो स्थानसे बालूके रूपमें आता है । बनानेका ढंग नील जैसा ही है; किंतु अिसे चारकी जगह तीन बर्तनोंहीमें पसाते हैं, जिससे तीन प्रकारके हरे रंग प्राप्त होते हैं—

(१) अति-हरित (स्पड्-म) —जिससे हरित तारा, पत्र, तृण आदिको रंगा जाता है ।

(२) अल्प-हरित (स्पड्-शुन्) —जिससे पृथिवी आदिको दिखलाया जाता है ।

(३) अल्पतर-हरित (स्पड्-ग्य) —जिससे कपळेके रंग, ध्वजा मृणाल, पुष्प-दंड आदि बनाये जाते हैं ।

४. पाषाणी पीत (ब-वल्-सेर्पो) —यह सोनामक्खी जैसा पीला नर्म पत्थर पूर्वीय तिब्बतके खम् प्रदेशसे आता है । सूखाही कूटकर बालू

जैसा बना, थोड़े सरेस और पानीके साथ खरलमें दो दिन तक पीसा जाता है। फिर अधिक पानीमें घोल पसा लेना होता है। पंकके नीचे बैठ जाने पर पानीको फेंक दिया जाता है।

५. **कच्चा अंगुर** (छल्-ल्चोग्-ल)—यह पत्थर भी खम् प्रदेशसे आता है। पहले सूखा पीस मोटे बालू-सा बना, सरेस और पानीके साथ खरलमें खूब पीस देनेपर रंग तैयार हो जाता है। आज-कल अिसकी जगह चीनमें रूमीमें डालकर बना लाल रंग—यङ्ग-टिन्—अिस्तेमाल किया जाता है।

६. **सिंदूर** (लि-स्त्रि)—यह भारतसे तिब्बतमें आता है। सरेस और पानीके साथ खरल करके रंग तैयार किया जाता है। अिससे बुद्ध और भिक्षुओके काषाय वस्त्र बनाते हैं।

७. **लाल** (छल्)—यह पाषाणीय रंग भारतसे आता है, और सिंदूरकी भाँति ही तैयार किया जाता है, और अुससे वही काम लिया जाता है।

(आ) धातुज

८. **चाँदीका रंग** (द्ङ्गुल्-व्दुल्)—नेपाली लोग चाँदीकी अिस भस्मको बनाते हैं। पानी और सरेसके साथ अिसे घिसकर लिखनेके लिये तैयार किया जाता है। अिसका अुपयोग बहुत ही कम होता है।

९. **सोनेका रंग** (ग्सेर्-व्दुल्)—अिस भस्मको भी नेपाली लोग तैयार करते हैं। रंग, सरेस और पानीमे घोटकर बनाया जाता है। अिससे बुद्धका रंग तथा आभूषण आदि बनाये जाते हैं।

(अि) मिट्टी

१०. **पीली मिट्टी** (ङ्ङ्-प-ग्मेर्-ग्दन्)—यह मुल्तानी मिट्टी जैसी पीली चिकनी मिट्टी ल्हासामे पूर्व येर्-वा स्थानसे आती है। अिसे थोड़े सरेसके साथ पानीमें दो घंटा अुबालकर तैयार किया जाता है।

सोना लगानेके पहिले भूमि अिससे रंजितकी जाती है, जिससे सोनेका रंग बहुत खिलने लगता है।

(अ) वानस्पत्य

११. मसी (सन्ग्-छ) — ल्हासासे दक्खिन-पूर्ववाले कोङ्-वो प्रदेशमें देवदारकी लकळीके धूअेसे कजली तैयार करते हैं। अिसीको ठंडे पानी और सरेसमे रगळकर स्याहीकी गोली तैयारकी जाती है। रेखाअें और केश आदिके अंकित करनेमे अिसका अुपयोग होता है।

१२. नील (रम्) — भारतमे नीलके पौधेसे बना यह रंग आता है। सरेसके साथ पानीका छीटा दे दे १५, २० घंटा खरलमें रगळने पर रग तैयार होता है। बादल, छाया और रेखाअें अिससे बनाअी जाती हैं।

१३. अुत्पल-जल (अुद्-पल्-सेर्-पो) — ल्हासाके अुत्तरवाले फेम्-बो प्रदेशके रे-डिङ्, तथा दूसरे स्थानोके, सूर्यकी कळी धूप न लगनेवाली पहाळी भागोमे अेक प्रकारका फूल अुत्पन्न होता है, जिसे तिब्बतवाले अुत्पल कहते हैं। अिसकी पत्तीमे शुन्का पत्ता $\frac{1}{8}$ हिस्सा मिला पानीमें १५ मिनट पकाया जाता है। अिस हल्के पीले रंगके पानीसे पत्तोंका किनारा बनाने, तथा दूसरे रगोमे मिलानेका काम लिया जाता है।

१४. शुन् अेक वृक्षका पत्ता है, जो भूटानकी ओरसे आता है। अिसके पकाअे पानीको दूसरे रंगोमे मिलाया जाता है।

(अु) प्राणिज

१५. लाख (र्ग्य-छोस्) — भारत या भूटानसे आती है। लकळी आदि हटाकर अिसे साफ कर लिया जाता है। फिर अुसमे बहुत ही गर्म पानी डाला जाता है। फिर $\frac{1}{8}$ हिस्सा शुन्का पत्ता और थोळी फिट्किरी (छ-ल-द्कर्-पो)को डाल दिया जाता है। फिर पानीको पसाकर अुसे धीमी आँचमें पकाकर गाढा करके गोली बना ली जाती है।

१६. **सरेस (स्प्यिन्)**—भैंस या किसी भी चमळेको बाल हटाकर खूब साफ करके छोटा छोटा काट दिया जाता है। दो दिन तक अुबालने पर चमळा गलकर लेडी-सा बन जाता है। अिसे सुखाकर रख लिया जाता है, और सभी रंगोमें अिसको मिलाया जाता है। यह रंगको चमकीला और टिकाअू बनाता है।

(अ) अज्ञात

१७. **यङ्-टिन्**—चीनमे यह लाल रंग बनता है, और रूडीमे सुखाया विकता है। पहले तिच्चतमे अिसकी जगह छल्-ल् चोग्-ल (अिगुर)का अुपयोग होता था।

ख. मिश्रित रंग

अूपरके रंगोके अनिरिक्त कुछ और भी रग हैं, जिन्हें भोटदेशीय चित्रकार अिस्तेमाल करते हैं, किंतु यह मव रंग अुपर्युक्त रंगोके मिश्रण से बनाअे जाते हैं।

१. **पांडु-श्वेत (लि-म्क्य)**—सेतखरी $\frac{१}{४}$ + पापाणी पीत $\frac{३}{४}$ + सिंदूर $\frac{१}{४}$ मिलाकर सरेसके साथ पानीका छींटा दे-दे घोटनेमे यह रंग बनता है। अिसमे मणि, किरण तथा चीवरके भीतरी भागको दिखलाया जाता है।

२. **पीतिम रक्त (चो-म)** सिंदूर $\frac{१}{४}$ + पापाणी पीत $\frac{३}{४}$ + सेतखरी $\frac{१}{४}$ को मिलाकर पांडु श्वेतकी भाँति बनाया जाता है। अिसमे मैत्रेय, मंजुघोष आदिका शरीर रंजित किया जाता है।

३. **पांडु-रक्त (स्गन्-र्य-छो-व)** सिंदूर $\frac{१}{४}$ + अिगुर (मछल्) $\frac{३}{४}$ + सेतखरी $\frac{१}{४}$ मिलाकर पांडु-श्वेतकी भाँति बनाया जाता है। अिससे अमिताभ, अमितायु, हयग्रीव आदिके वर्णको बनाया जाता है।

४. **सिंदूर-रक्त (स्मर्-म्क्य-स्क्य-प)** सिंदूर $\frac{३}{४}$ + अीगुर (मछल्)

३ + सेतखरी ३ मिलकर पांडु-श्वेतकी भाँति बनाया जाता है, अिससे आसन, कपड़े आदिके रंग बनाये जाते हैं।

५. लाखी श्वेत (न-रोस्) सेतखरी ३ - लाख ३ मिलकर अुक्त क्रमसे बनाया जाता है। बुद्धके प्रभा-मंडल तथा घर आदिके रँगनेमें अिसका अुपयोग होता है।

६. नील-हरित (ग् यु-ख) अति नील १ + अति हरित १ मिलकर अुक्त क्रमसे बनाया जाता है। पत्तों आदिके रँगनेमें काम आता है।

७. मेघ-नील (शुन्-रम्) नील (१२) ३ - अुत्पल जल १ मिलकर अुपर्युक्त क्रमसे बनाया जाता है। मेघ, मरकत आदिको अंकित किया जाता है।

८. हरीतिम-श्वेत (स्पङ्-सि) सेतखरी ३ - अतिहरित १ मिलकर अुक्त क्रमसे बनाया जाता है।

(४) रंग-पात्र मिट्टीके पात्र रंगोंके रखनेके लिये सर्वोत्तम माने जाते हैं। नील और लाल रंगोंके लिये चीनी मिट्टीके पात्र भी अिस्तेमाल किये जाते हैं। लाख और लाखी श्वेत जैसे रंग अुनकी अवश्यकतावाले रंगोंके लिये शंखके टुकड़े काममें आते हैं। अेक पात्रमें डुबायी तूलिकाको बिना पानीवाले पात्रमें प्रक्षालित किये दूसरे रंग-पात्रमें नही डाला जाता, क्योंकि अिससे रंगके विगळ जानेका डर होता है।

४—चित्रण-क्रिया

चित्रण-क्रियामें सबसे कठिन काम रेखाओंका अंकन करना है। प्रधान चित्रकारका काम रेखाओं अंकित करना है। रंगोंके भरनेका काम वह अपने सहायकके लिये छोळ सकता है। चित्रण-क्रियामें निम्न क्रमका अनुसरण किया जाता है—

१—चित्रकी भूमि (पट, भित्ति आदि)को श्वेत प्लस्तर लगा तैयार करना।

२—कोयलेकी पेंसिल (=अंगार-तूलिका)से पटके कोनोंको रेखाओं-द्वारा मिलाना । फिर केंद्र पर वृत्त, तथा उसके चारों ओर तुल्य अर्द्धव्यासवाले चार वृत्तोंका खीचना । कटे बिंदुओंको सरल रेखाओसे मिलाना आदि ।

३—कोयलेसे मूर्ति अंकित करना ।

४—रेखाओं पर स्याही चलाना ।

५—अ-मिश्रित रंग लगाना ।

६—मिश्रित रंग लगाना ।

७—फूल, मेघ आदिको रंजित करना ।

८—सोनेके रंगको पहलेसे पीली मिट्टी लगाअे स्थानों पर लगाना ।

९—नेत्र, केश, मूँछ आदिको सूक्ष्म तूलिकासे बनाना ।

१०—छोटे चिकने काठकी तख्तीको नीचे रखकर सोनेकी रेखाओको घर्षण-तूलिकासे रगळकर चमकाना ।

५—चित्रकला-सम्बन्धी साहित्य

भोटमें मौजूद चित्रकला-संबन्धी ग्रंथोंको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है । (१) अेक वे जो भारतीय संस्कृत-ग्रंथोंके अनुवाद है, और (२) वे, जिन्हें भोटके विद्वानोंने स्वयं लिखा है । (१) प्रथम श्रेणीके ग्रंथोंमें (क) कुछ तो अैसे है, जिनका विषय दूसरा है, किंतु प्रसंग-वश उनमें चित्रण-कला की बात भी चली आयी है, जैसे **मंजुश्रीमूलकल्प** । (ख) उनके अतिरिक्त **प्रतिमामान-लक्षण-सदृश** भारतीय आचार्योंके कुछ ग्रंथ सिर्फ चित्रण-कला तथा मूर्ति-कलाके लिअे ही बनाअे गअे हैं । भोटदेशीय विद्वानोंके बनाअे ग्रंथोंमें अुक्त दो श्रेणीके ग्रंथ पाअे जाते हैं । कंजूरमें अनुवादित प्रायः सभी तंत्र-ग्रंथोंमें चित्रण-क्रियाके बारेमें कुछ न कुछ सामग्री मिलती है ।

परिशिष्ट (१)

पुरा-लिपि

काशी—ता० २५ जुलाई १९३७

प्रिय श्री राहुल जी,

आज डाक बुक-पोस्ट से १ प्रति प्राचीन अक्षरोका फोटो आप की सेवा में भेजा है। पहुँच लिखियेगा। भेजने में देर हुई क्षमा कीजिएगा। फोटोग्राफर ने आज ही फोटो दिये। फोटो तो बहुत साफ आये हैं, पर हेडिंग (Heading Columns) के अक्षर छोटे होने के कारण बिना मैग्नीफाइंग ग्लास की सहायता के पढ़े नहीं जाते। यह हेडिंग बहुत आवश्यक है, इस लिये मैं, ऊपर १९ खानों के लेख जो हेडिंग में लिखे हैं, अलग लिख कर भेजता हूँ। फोटो सामने रखकर हर एक खाने का हेडिंग पढ़ते हुए यदि अक्षरों को देखा जायगा तो हर शताब्दी (वैक्रम) की सब बातें व अक्षर-भेद समझ में आजावेंगे। इस चार्ट के तैयार करने में मैंने श्री गौरीशंकर जी की “भारत की प्राचीन लिपि” पुस्तक, Buhler's Indische Palaeographie और Epigraphia Indica से सहायता ली है। विशेषता यह है कि हर वैक्रम शताब्दी के अक्षर छाँट कर लिखे हैं। न० ७ में दूसरी शताब्दी के अक्षर अपने संग्रह किये हुए क्षत्रपों के चाँदी के सिक्कों से बड़े परिश्रम के साथ लिखे हैं। उसी तरह न० ९ चौथी शताब्दी के अक्षर गुप्तवंशी महाराजाओं के सोने के सिक्कों से एकत्र करके लिखे हैं।

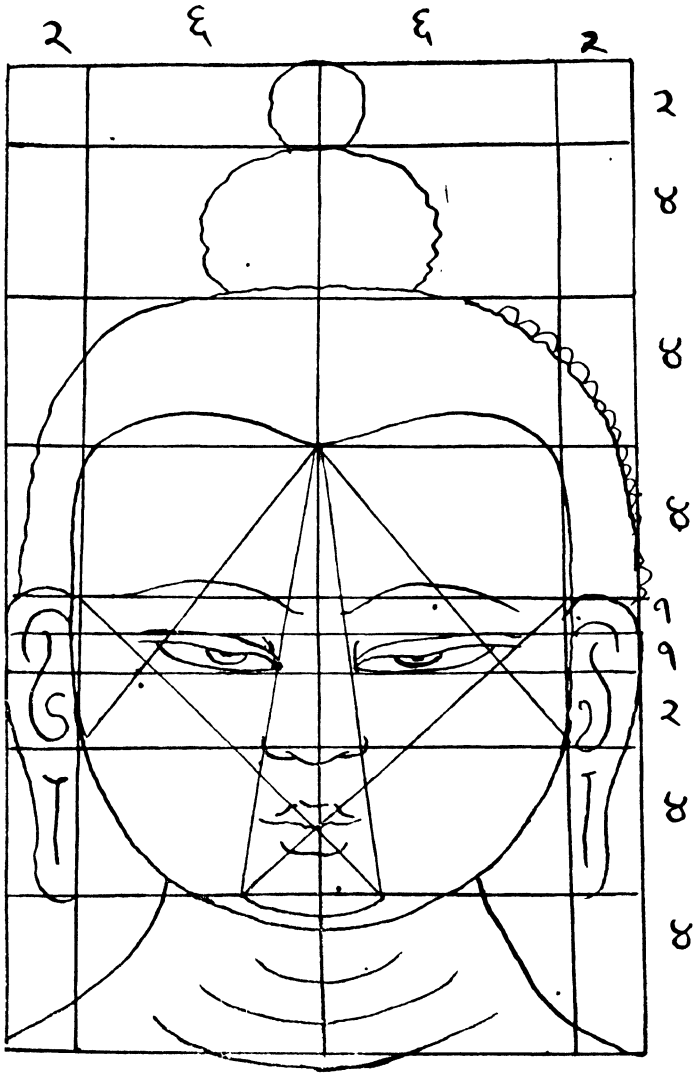
आप देखेंगे, दीर्घ 'ई' का पता ६ठीं शताब्दी तक नहीं है। 'ऋ' और 'लृ' का पता ९०० वर्ष तक नहीं है। कारण केवल प्राकृत-भाषा थी, जिसमें इन अक्षरों का शताब्दियों तक प्रयोग न था। उसी तरह 'ड' और 'क्ष' भी बर्ते नहीं जाते थे।

इस चार्ट की सहायता से उत्तरी भारत के शिला-लेख, ताम्र-पत्र, सिक्के केवल पढ़े ही नहीं जा सकते, बल्कि उनके समय का भी लगभग पता लग सकता है। रूपान्तर भी जो क्रमशः हुए हैं वह भी विदित होते हैं।

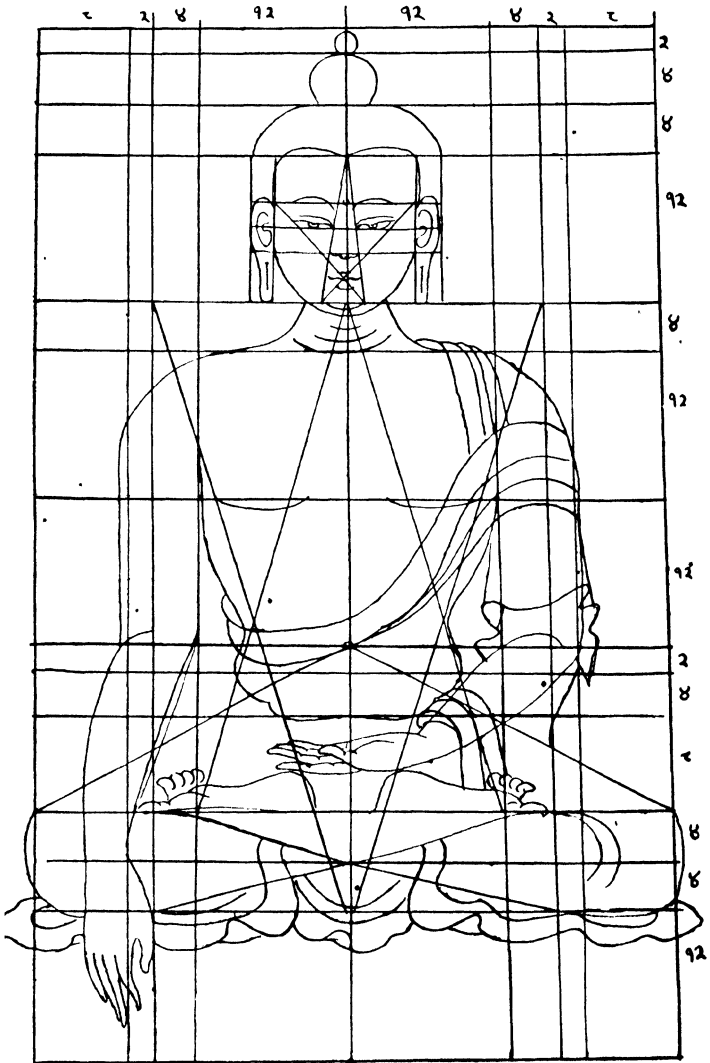
इस चार्ट से एक बात यह भी विदित होती है कि **महर्षि पाणिनि** के समय में 'अनुस्वार' व 'विसर्ग' के चिह्न जो अशुद्ध लिखे जाते थे जिसका उन्होंने उल्लेख किया है अर्थात् केवल डाट • से काम लिया जाता था वह अशुद्ध था और यही प्रणाली दस शताब्दी तक चलती रही। सातवीं शताब्दी में फिर शुद्ध रीति अर्थात् ०° छोटे वृत्त से जैसा कि वह लिखे जाते हैं, लोगों ने संशोधन करके लिखना शुरू किया। देखिये कालम नं० १२ के मात्रा के आखिरी अक्षर। यह बात एक बड़े विद्वान् पंडित जी ने चार्ट बन जाने पर मुझसे कही और यह भी कहा कि आपका चार्ट अवश्य शुद्ध है।

दुर्गाप्रसाद

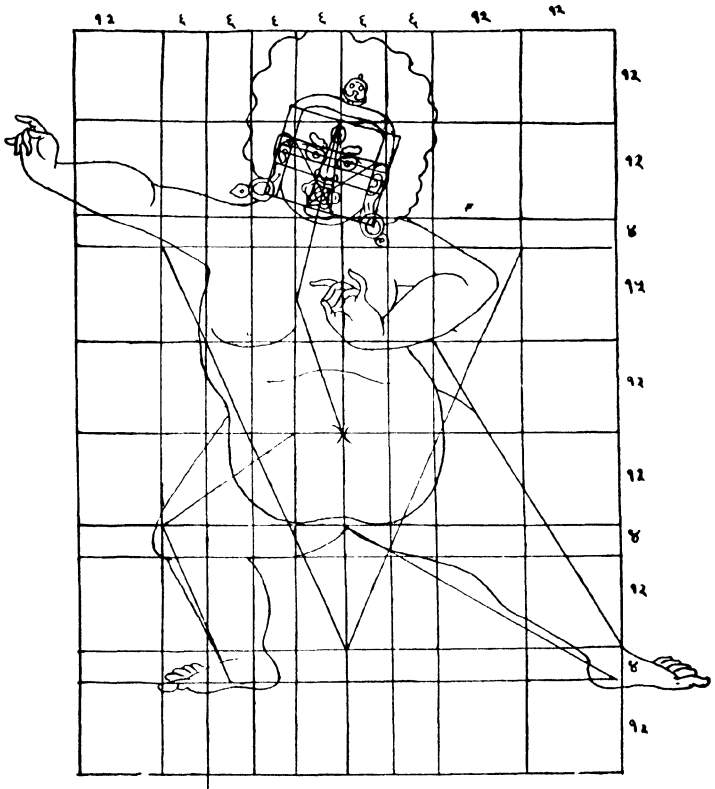
रेखांकन १



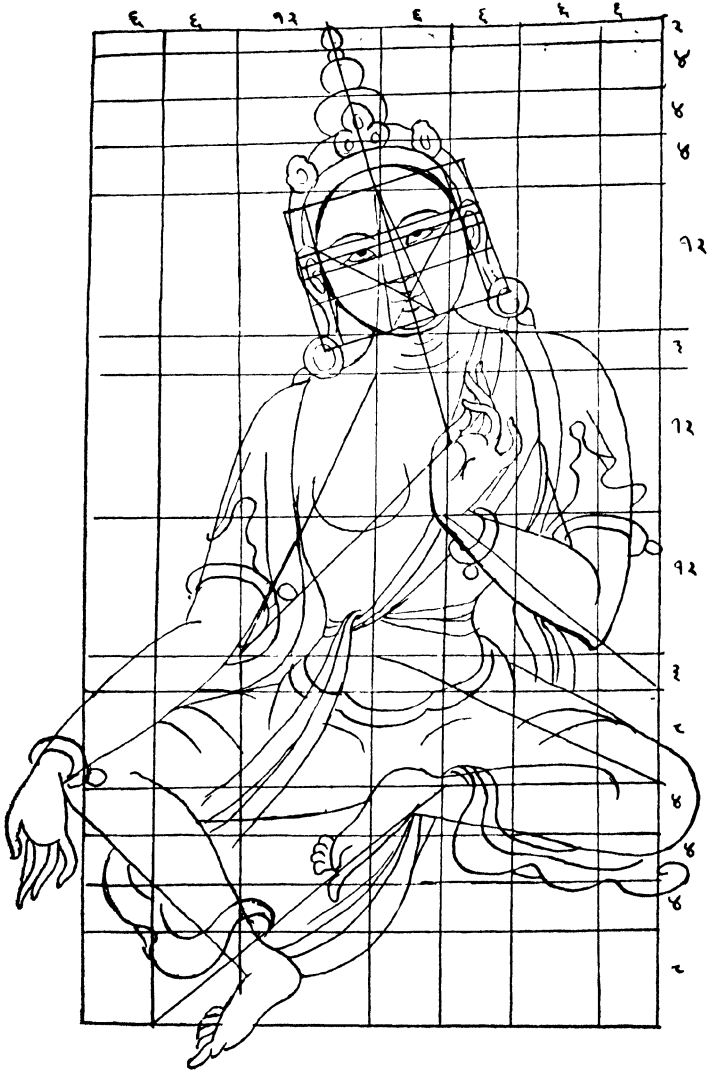
रेखांकन २



रेखांकन ३



रेखांकन ४



१. देवनागरी वर्णमाला वर्तमान काल
२. ४०० ई० पूर्व के अक्षर—सोहगौरा पट्ट से
३. ३०० ई० पूर्व महाराज अशोक के समयके अक्षर—दिल्ली व कालसी के शिला-लेखों से
४. २०० ई० पूर्व के अक्षर—हाथीगुम्फा से
५. ई० पूर्व १०० के अक्षर—मथुरा में सोडास के लेखों से
६. ई० पहिली शताब्दी के अक्षर—कुशान राजाओं के लेखों से
७. ई० दूसरी शताब्दी के अक्षर—पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों से
८. ई० तीसरी शताब्दी के अक्षर—पल्लववंशी शिवस्कंद के लेखों से
९. ई० चौथी शताब्दी के अक्षर—गुप्तवंशी राजाओं के सिक्कों से
१०. ई० पाँचवीं शताब्दी के अक्षर—बिलसड़ के लेखों से
११. ई० ६०० के अक्षर—महानाम के लेखों से
१२. ई० आठवीं शताब्दी के अक्षर—अप्सद के लेखों से
१३. ई० नवीं शताब्दी के अक्षर—दिघवा दुबौली के लेख से
१४. ई० दसवीं शताब्दी के अक्षर—पिहुवा प्रशस्ति से
१५. ई० ग्यारहवीं शताब्दी के अक्षर—घोसवर के लेख से
१६. ई० बारहवीं शताब्दी के अक्षर—उदयपुर प्रशस्ति और हस्तलिखित पुस्तकों से
१७. ई० १३वीं शताब्दी के अक्षर—भीमदेव के लेख से
१८. ई० १७वीं शताब्दी के अक्षर—हस्तलिखित पुस्तक से
१९. ई० २०वीं शताब्दी के छापे के तिछेँ अक्षर Type

परिशिष्ट (२)

नाम-अनुक्रमणिका

अकबर । २०३, २२८	३४, ३५, ३६, ३६, ४३,
अक्षपाद । २०६, २०९	४४, ४६, २५३
अक्षोभ्य । २८३	अचेलक वग्ग । २८
अग्गालव । २४, २५	अजगैवीनाथ । २७३, २७४
अगचेनगर । १५३	अजन्ता । २१३, २५२, २८३
अग्निकश्यप । २२२	अजपालिपा । १८८
अग्निगुप्त । २०	अजातशत्रु । १३
अंगदेश । ३४	अजित केशकंवल । ६०
अंग-मगध । १००	अजोगिपा । १५०
अंगराष्ट्र । १००	अट्टिसर । ६८
अंगुलिमाल । २५, ६८, १२६	अट्टकथा । २२, २७-२९, ३२-३४,
अंगुलिमाल-पिटक । १२६	३८, ३९, ४१, ४४, ४७, ४९,
अङ्गुत्तर । २२, ५१	५०, ५३, ५७, ६२, ६८, ७४,
अंग्रेजी । १०, २२७, २२८, २५६,	७५, ७७, ८४, ८७, ९१, ९४,
२५७	९७, ९८, ९९, १०३, १२१,
(-अट्ठकथा) । ६२, ७७, ८५	१२३, १२६, १२८, १३१
अचिन्त । १९८	अतरसन । २५५, २५६
अचिन्तिया । १५१	अतिशा (दीपंकर श्रीज्ञान) ।
अचिंत्यक्रमोपदेश । २००	१४५, १५७
अचिरवती । २७, २८, २६, ३०,	अद्वयनादि । २०२

अद्वयवज्र (मैत्रीपा) । १६६	२२६
अद्वयवज्र । २७२	अपरशैल । १२४, १२८
अध्यर्द्धशतक । २५०	अपरशैलीय । १२४, १२६, १२७
अध्यापक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य । १५५	अपोहसिद्धि । २९४
अज्ञात (कवि) । १९८	अयोगिपा । १६६
अनंगपा । १५४	अपत्रदेश । १५४
अनंगवज्र । १४४, १५१	अपिशलि । २२२
अनाथ पिडक । २५, ३०, ३२,	अफ्रीका । ११२
३६, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५,	अविद्धकर्ण । २०७
४६, ५२, ५३, ६३, ६६, ७१,	अवोध-बोधक । १६६
७२, ७३, ७४, ७५, ८५, ८७,	अबौद्ध । २१७
९१, ९२, ९३, ९५, ९६, १००	अभारतीय । २५०
अनुत्तर सर्वसिद्धि । २०२	अभिधानपण्डीपिका । २६, ५३, ५५,
अनुराधपुर । ४१, ६५, ६६, १००	५६, ७६
अनुरुद्ध । ६०, १०४	अभिधर्म-कोश । २५
अन्तरपाद । १९४	अभिधर्म-कोश-भाष्य । २५०
अन्तर्वाह्य० । १९४	अभिधर्मपिटक । १२३, २०८
अन्तर्वेद । २०६	अभिधर्म-समुच्चय । २५०
अन्धक । १२२, १२४, १२६,	अभिसमय-विभङ्ग । १७४
१२७, १२६, १३२, १३३	अमनौर । २५४, २५७, २५८
(—निकाय) १२६, १२८,	अमरावती । १२६, १२६
१२६, १३२ (—सम्प्रदाय)	अमहा । २८
१३१, १३२ (—साम्राज्य)	अमिताभ । ३००
१२३	अमितायु । ३००
अन्धवन । ४०, ४६, १०६	अमृतसिद्धि । १७६
अपभ्रंश । २२३, २२५ (मागधी),	अमेरिकन । २२६

अम्बाला । २३८
 अयोध्या । २५, २०९, २१३
 अल्ची । २८६
 अरबी । २२६
 अर्चट । २१८
 अर्धमागधी । २२४
 अवध । २२८
 अवधिया । २६३
 अवधी (कोसली) । २२७, २२६,
 २२८, २२६, २३१
 अवधी (—हिन्दी) । २३१
 अवधूतिया । १५०-५२, १५६,
 १७१, १९९, २०१, २७८
 अवन्ती । १२, २१, १६१, २१६
 अवलोकितेश्वर । १३७, २८८
 अवीचिनरक । ६८
 अशोक (सम्राट्) । ७, ८, १६, ५२,
 ११०, १२२, २१३, २२४,
 (की मागधी) २२५ ;
 (—स्तम्भ) ११६, २७७
 अश्वघोष । २०६
 असंग । २१३, २१७, २४६, २५०
 असुर । १३५, १३९
 अहीर । १०८, ११३, २५५, २६२
 आचार्य दिङ्गनाग । २१०, २११
 आचार्यधर्मपाल । ७५, ७७

आचार्यबुद्धघोष । ७४
 आचार्यमनोरथनन्दी । २४८
 आचार्यशांतरक्षित । २०७, २०६
 आचार्य सिल्वेन् लेवी । ४, ५
 आजमगढ़ । १७, १४१, २०६
 आटानाटिय सुत्त । १३६
 आत्मतत्त्व-विवेक । २४६
 आत्मपरिज्ञान । २००
 आदिनाथ । १८२, १६२, १६३
 आदियोगभावना । २०२
 आनञ्जसुत्त । ६६
 आनन्द । ६, २०, ३०, ३१, ३५,
 ४१, ४४, ५७, ५८, ६५,
 ६७, ८१, ८२, ८६, ६५,
 ६६, ६८
 आनन्दध्वज । २१८
 आनन्दबोधि । ८१, ८२
 आन्ध्र । ८, १६, १२२, १२३,
 १२८, १२६, (—देश) १२६,
 १२८, १२६, १३२ (—साम्रा-
 ज्य) १२६
 आमी । २६४
 आरा । २४१, २५३
 आर्य । २०५, २३८, (—भारत)
 २३४
 आर्यक । १४१

आर्यदेव । ७३, १७३	ईसा । १६, २१, २२, ३३, ३४,
आर्यसमाजी । २६३	५२, ६१, १०६, १३०,
आलवक-गर्जित । १२६	१३२, २०६, २२१, २२२,
आलवी । ८६	२२४, २२५, २२६, २४१
आवर्तनी-विद्या । १३५	ईस्वी । ७, ११, २१, ३४, २०६
आसाम । १६७, १८७, २२६,	उस्वेला । ६१
२३१, २६०	उग्रनगर । २५
आस्ट्रेलियन । २२६	उज्जैन । १६, १६१, २२१, २२४
इकमा । २५५, २६२	उड़न्तपुरी । १५२, १६६, २७८,
इचिङ्ग । २१५	२८५
इंग्लैंड । २३५, २३६	उड़िया (दे० ओड़िया)
इंगलिश । २३५, २३६	उड़ीसा । ४७, १५०, १५६, १७४,
इन्दौर । ६	१७६, १८०, १८२, २१७,
इन्द्र । १६७	२२४
इन्द्रभूति । १४४, १५१, १५६,	उत्तम देवी । ६६, १००
१८३, १९९	उत्तर कोसल । २७
इन्द्राग्निमित्र । १२२	उत्तर-द्वार गाम । ३२
इमली दर्वाजा । ४१	उत्तर-पाञ्चाल । २३७
इलाहाबाद । २७६	उत्तरापथक । १२४, १२६
इस्ट इंडिया कम्पनी । २५८	उदयगिरि । २८०
इसिपतन । २२, ५७	उदयन । २०७, २४६
इस्लाम । २२८	उदयनाचार्य । २४८, २४९
ईसाई । २६२	उदयनाथ । १६२
ईसा-पूर्व । २०८, २५४	उदान । ३३, ३७, ४३, ६५,
ईरान । २३५	७५, ७६, ८२, ८४, ८८,
ईश्वरसेन । २१४, २१५	८६, ९४

उदान-अट्ठकथा । ७५, ७७	ओडिविश (उड़ीसा) । १८२
उदीच । २२२, २२३	ओडिया । १६७, १८०, १८३,
उद्योतकर । २०६, २०७, २११,	२२६, २३१, २४०
२१२	ओडीसा । १७६
उधलि । १५३	ओम्भट्ट । १६
उधलिपा । १८८	औलियाबाबा । ११७
उपानहपा । २०८	कङ्कणपाद । १५०, १६३
उपनिषद् । २०५, २०६	कङ्कालमेखला । २००
उपरिक । १७	कंकरिपा । १४८
उप्पलवण्णा । ४०	कङ्कालिपाद । १४८, २००
उपसम्पदामालक । ८१	कंजुर । १९८
उपस्थान शाला । ७३	कटिहार । २६७
उय्यानपाल गण्ड । ४६	कच्ची कुटी । ३८, ४२
उर्दू । २२६, २३१	कण्हापा । १४६, १५१, १५३,
ऋग्वेद । २०५, २३४	१६२, १६५, १७६, १८२,
ऋषिपतन । ६१	१८३, १८९, १९०, १९१,
ऋषिपतन-मृगदाव (सारनाथ,	१९१
बनारस) ८५, १४०	कथावत्यु । १२१, १२३, १२४,
एलोरा । १२३	१२६, १२८, १२९, १३०,
एकसरिया । २५८	१३१, १३३, १३६, २०८
एपिग्राफिका इण्डिका । ४८	कनखलापा । ५३
एसियाटिक । ५८	कनिंघम । १४
ओझा जी । १	कन्जुर । १४२
ओडन्तपुरी । २७२	कन्तालीपा । १५३
ओडाझार । १०५	कन्थाधारी । १६२
ओड्डिआण । १८६	कन्नोज । १११, ११६, १४२,

१५३, १६२, १८८, २०६, २३१, २३४, २५०, २५५, २५६	कर्मवार। २५७, २५८ कर्मनाशा। २२३, २२५ कर्मारपा। १५०, १५१, २००
कपल्ल-पूव-पढभार। ७१, ७२	कलकत्ता। १५८, १६६, २६०
कपाल। १५३	कलिकालसर्वज्ञ। १६६
कपिल। १५०	कलिंग। २२३, २२५
कपिलवस्तु। २२, २३, २५, २६, ६१, ६२, ८६, ६७, १८५, २६७	क्लोड-दॅल्-न्सुड-न्सुम् (ल्हासा) १२८, १३३
कप्तानगंज। २६७	कल्याणपुर। २५४, २५६
कबीर। १५६, १६१, १६४	कल्याणमल्ल। २५७
कबीर-ग्रन्थावली। १६४	कल्याणरक्षित। २१८
कबीरपन्थी। २६३, २६४	कल्याणश्री। २७०, २७२
कंबलपा। १६३	कसया (गोरखपुर) १०, ११, २५३
कमलशील। २१८	कस्सप दसबल। २७
कम्बलगीतिका। १८३	कश्मीर सकीर। २८६
कम्बलपाद। १८२, १८३	कश्मीरी। १६५
करुणाचर्याकपालदृष्टि। २०४	कण्ह। १८६
करुणापुंडरीक। ७१	काकन्दी। २२, २३
करुणाभावना। १६४	काकवलिय। १००
करेरिमंडलमाल। ७३, ७४, ७५, ७६, ७७	कांचनध्वज। २७०, २७८
कर्णकगोमी। २१८, २४८	काञ्ची। १५१-१५६
कर्णपा। १८७	कांचीपुरी। १८०
कर्-म०-ल०-देड। २८६	काण्ट। २४६
कर्णारिपा। १४६, १७३	काण्व। १२२
	कादम्बरी। १४१

काँदभारी । २६, ३५
 काँदभारी-दवर्जा । ३६
 कान्हपादगीतिका । १८८
 काबुल । १६१
 कामरूप (आसाम) १४८, १५२,
 १६४, १८७
 कायस्थ । १६८, २२८, २३७
 कारीरि-गंधकुटी । ५५, ५६
 कार्ला । १२३, २५४
 कालपी । १५०
 कालपाद । १५६
 कालिदास । २१३, २१४
 कालिभावनमार्ग । २०१
 काशिका । २१४, २२२, २४१
 काशिका-विवरण-पंञ्जिका । २१८
 काशी, (बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर,
 आजमगढ़, गाजीपुर जिले) १,
 १५६, १७७, २०६
 काशीश्वर जयचन्द्रदेव । १५६
 काश्मीर । ४, ५, २०३
 काश्मीरिक । २७३
 काश्यप । ६०, १०५, १०८, २६३
 (-बुद्ध) । २७, १०५
 (-स्तूप) । १०६
 काश्यपीय । १२४, १२५
 काल्ल । १६०

किलपा । १५३
 किलपाद । २००
 कुआड़ी । २५६, २६०-६३
 कुक्कुरिपा । १५०, १५३, १५८
 कुचायकोट । १५६
 कुचि । १५०
 कुठालिपा । १५१, १६६
 कुठालिपाद । २८०
 कुन्-मख्येन्-पद्म-द्वर्-पो । २७८
 कुन्-व्दे-ग्लिड । २७३
 कुमरिपा । १५३
 कुमारगुप्त । २१३, २१४
 कुमारदेवी । १३, १०६
 कुम्भा (राना) । ११६
 कुररघर । २५
 कुरु । २१६
 कुरुकुल्ला । २००
 कुर्ग । २२८
 कुंवरपचासा । २६४
 कुशीनगर । ३१
 कुपाण । ८, १०, ११, १५, १६,
 ६१, ६५
 कुसीनारा । २५३
 कूर्मनाथ । १६२
 कूर्मपाद । १४६ १८३
 कुँवरसिंह । २६४

कृष्ण। २२६	२६, ३३
कृष्णपा। १८७	कोसलक। ५६
कृष्णपाद। १८८	कोसली। २२३, २२६
केप्टाउन। २२७	कोमी। १८, २२०, २३५
केरलिपा। २००	कौटिल्य। २७७
केवट्टगाम। ३३, ३६	कौल-धर्म। १५६
केवट्टद्वार। ३३, ३६	कौशाम्बी। ८६, ८८, १५०, २७६
कोकालिक। ६६, ७०	कौशिक। ७२
कोकालिपा। ७०, १४८, १५०, २००	ऋशिसु-ल्हनु-पो। २८७
कोंकणी। २२८	क्षणभंगसिद्धि। २४६
कोङ्ग-जो। २८३	क्षणभगाध्याय। २४६
कोङ्ग-वो। २६६	क्षत्रिय। १६५, १७५
कोंचिला। (खाँव) ११६	खजुहा ताल। १०५
कोठिया नरावँ। २५५	खड्गपा। १५१
कोरी। १६१	खळी बोली। २२७, २२६, २३०,
कोलगंज। २७४	२३१, २३७, २३८, २४३,
कोलम्बो। २२७	२४४
कोली २५७	खळी हिंदी। २३६
कोल्हापुर। १६१	खडौआझार। १०५
कोशल। २८, ३१	खम्। २६७, २६८
कोशाम्बी। ८६	खवसिया (दिसवाह) ११५
कोसम्। २७६	खस्-गुब्-ग्यम्। २६
कोसंबकुटी। ५०, ७६, ७४, ८१	खारवेल। १२८
कोसम्बक्खंधक। ८८	खालसिका। २५५
कोसम्बी। ३१	खुदाबख्श खाँ। २६५
कोसल (राज्य)। १२, २१, २३,	खुद्दकनिकाय। ३०, ७६

खुदकवत्थुक्खंधक। ८०	५८, ५९, ६०, ६१, ६२,
बु-स्तोन्-यब-स्त्रस्-गसुं-बुम् १५७	६३, ६६, ६९, ७०, ७१,
खोजवाँ। २५८	७२, ७४, ७६, ७८, ७९,
खंधक। ५२	८१, ८४, ८५
खिन्-चुन्। २८३	गंधकुटी-प्रमुख। ६२, ६५
खिन्-लस्-ग्यं-म्छो। २९०	गंध-कुटी-परिवेण। ६३, ६४, ६५,
खिन्-स्रोङ्ग-ल्दे-वचन्। २८५, २८६	७७
ख्यो-फु-निवासी। १५८	गंधकुटी-मंडप। ७५
ख्यो-फू-व्यम्स्-पई-पल्। १५८	गया। ११२, १५९, २४५
गढवरिया। ११५, ११७, ११८	गयादत्त। २६५
गंगा। १८, ११२, १८२, २५३,	गयाधर। १९८, २००
२६१, २६७, २७०, १७९, २२३	गयासपुर। २६४
गंगापुर-दरवाजा। ३५, ३६, ४४	गाथासप्तशती। २२१
गङ्गेश उपाध्याय। २०७, २१०	गहरवार। २५५, २५७
गणेश। १५, २५६	गाजीपुर। २४१
गण्ड। ४६	गायकवाड़। १४३
गंडक। १८, ११०, २२५, २४१,	गायना। २६०
२५३, २५४, २६१	गिल्गित्। ४
गणक-मोगलान-सुत्त। ९८	गुजरात (सूनापरान्त)। १२२,
गंडक-पार। २५३	२०३, २४४, २२७
गण्डम्बरुक्खं। ४६	गुजराती। २२४, २२८, २३०,
गन। ११७	२३७, २३९, २४०
गंधार। १२२, २१९	गुंजरिपा। १५०
गंधपुर। १५०	गुणाढ्या। २२१
गंधारी। १३५	गुणराजसिंह। ११२
गंधकुटी। १८, ५०, ५८, ५५,	गुंटूर। १२८, १२९, १३२, १३३,

१४०, १४३, १६८
 गुंडरिपा। १५२
 गुण्डरीपाद। १८६।
 गुप्त। १०, ८, ११, १५, १८,
 १०६, १११, २२१
 गुप्त-काल। १०, १३, १४, १५,
 १६, २१३
 गुप्तकालीन। १६, १७, २७३
 गुर्जर-प्रतिहार। २५५
 गुर्जर-प्रतिहार-वंश। २५५
 गुप्तसाम्राज्य। १७, १३६
 गुप्तसम्राट्। २७४
 गुप्त-वंश। १३, २८०
 गुरुगुणधर्माकर। २७०
 गुरुमैत्री-गीतिका। १६६
 गुह्यकल्प। १४३
 गुह्यपा। १४६, १६४
 गुह्यसमाज। १४३
 गूढ-वेस्संतर। १२६
 गेलही दर्वाजा। ३७, ३८, ३९
 गोकुलिक। १२४, १२५
 गोंडा-बहराइच। १७, १६, २७,
 १२०, १६२
 गोनर्द। २२१
 गोनर्दीय। २२१
 गोपालगंज। २४१, २५९, २६७

गोपालप्रसाद। २६५
 गोमिपुत्र। १६
 गोरखनाथ। १८७, १६१, १६३
 गोरखपुर। १७, १२०, २४१,
 २५३, २६७
 गोरन (महतो) ११६
 गोरक्ष। १६२
 गोरक्षनाथ। १४७, १८३
 गोरक्षपा। १४८, २००
 गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह। १६२
 गोरिदास। १६
 गोविन्दगुप्त। १६
 गोविन्दगुप्त-माता। १५
 गोसाल। ६०, २०८
 गौडेश्वर। १७१
 गौड। १४९, १५४
 गौतमी। ४०
 गौतमबुद्ध। ११६, २०७, २१६
 गौतम। ९८, १०१, २५७, ५८,
 ७०, ८४, ६०
 गृध्रकूट। १४०
 ग्नुब्। १५८
 गिलिात्। २८३
 गु० रिम्। २८७
 गे-लुग्-पा। २८७
 गोबी। २८३

ग्यां-ची। २८६	चन्द्रगुप्तपत्नी। १६
ग्यु-स्मद्। २६०	चन्द्रगुप्त-तनय। २१३
ग्र-नड। २८७	चन्द्रगुप्त द्वितीय। १५, २१३
ग्र-पिच। २८७	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य। २१४
ग्य-ल्ह-खड्ड। २५२	चन्द्रप्रकाश। २१३
ग्रियर्सन (डाक्टर)। २३०, २३८, २५१, २६६	चन्द्रभागा नदी। २५, २७
ग्यां-ची। २५२, २८६	चन्द्रराज-लेख। १५८
घाघरा। २५३, २६१	चमारिपा। १५६, २००
घुसुंडी। ४८	चम्पा। ३१, १५२
घूरापाली। २५४	चम्पकपा। १५३, २००
घोघाळो। ११०	चम्पारन। १२, १११, ११५, १२०, १५५, २४१, २५३, २५८, २५९
घग्घर (शरावती-सरस्वती) २२३	चर्पट। १६२
घंटापा। १८०, २००, १८२	चर्पटी। १५२, १५६, १६३, १६४
घंटापाद। १८२, १८३	चर्पटीपा। १८५, २००
घूरापाली। २५५	चर्पटीपाद। १८७
चकसंवरतन्त्र। १७६	चर्या। १६५
चक्र-संवर। १४२	चर्याचर्यविनिश्चय। १७०, १७१ . १७८, १८४, १८६, १८७,
चंक। १०३	चर्यागीति। १७० १८६, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५
चतुरशीतिसिद्ध प्रवृत्ति । १४८, १५२, १६२	चर्यादोहाकोष-गीतिका। १६३
चड। २८७	चर्यादृष्टि-अनुत्पन्नतत्त्वभावना। २०२
चतुष्पिष्ट। १४३	चट्टन-रुद्रदाम वंशय। १६
चनाब। २६	
चन्द। १६७	
चन्द्रगुप्त। १३, ११६	

चालिय पर्वत । ८६	चुनार । २५५.
चासर । २२६	चुल्लवग्ग । ५१, ५२, ५३, ७३,
चिचा । ६६, ७०	७६, ८०, ९६
चित्तगुह्य० । १७१	चूल-मुञ्जता-सुत्त । ६८
चित्तचैतन्यप्रशमनोपाय । २०३	चै-ग्दुङ्क । २८७, २८८
चित्तवनिया । ११५, ११७, ११८,	चेलुकपा । ५२, १५६
११९	चेलुकपाद । २००
चितावन । ११८	चैत्यवादिया । १२८
चित्त-कोष-अमृतब्रजगीतिका । १६८	चैत्यवाद । १२८
चित्ततत्त्वोपदेश । २००	चैत्यवाद-निकाय । १२६, १२८
चित्तमात्र-दृष्टि । १६६	चैनपुर । २५८
चित्तरत्न-दृष्टि । २०२	चौखम्भा-संस्कृत-सीरीज । २११,
चित्तरत्नविशोधनमार्गफल । २०३	२१२
चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान । १६६	चौरंगीनाथ । १४७, १४८
चित्ताद्वैत-प्रकरण । २४६	चौरासी सिद्ध । २०१
चित्तौड़ । १६५	चौहान । २५७, २५८
चित्तौरगढ़ । ११६	छत्तीसगढ़ । २७
चिन्तक । २२	छोन-जे-लिङ्क गुम्बा । २७०
चिरांद । २५४, २५६, २६२	छन्दोरत्नाकर । १६६
चीन । १२६, १३१, १४६, २०२,	छपरा । २४१, १२, २६७, ११२,
२०६, २१३, २१४, २५०,	१११, २४१, २६१, २४१,
२८३, २८४, ३००	११०, १०६
चीनी । १३२, २०८, २१०, २१४,	छत्रपा । १५०, २०१
२१५, २१७	छव्-म्दो । २८७
चीनी-भाषा । २१३	छवगिय । ४३
चीरेनाथ । ३६, १०३	छान्दस् । २२२

छायावाद। १६० .	२१८
छित्तौली। २६३	जर्मन-भाषा। २४३
छुङ्ग-ब्रिस्। २८७-८९	जर्मनी। २३६
छुल्-खिम्स्। १५८	जलन्धर। १६२
छोस्-द्ब्यिङ्ग। २८९	जवरिपा। १८८
छोस्-ब्युङ्ग। २७२, १४०	ज० श०। १०७, ११२, ११४
जउना। १८२	जातक। ३०, ४२, ७२, ९२
जक्ख। १६७	जातकट्ठकथा। ३०, ५८, ५९, ६२, ६७, ८१, ९१, ९२, १०४
जगत्तला। २०३	जातकनिदान। ९१
जगन्मित्रानन्द। १५९, १५७, १५८, १५९, २०१, २०२	जापान। २१३, २८३
जज्जल। १६५, १६६	जायसवाल (डाक्टर काशीप्रसाद)। ४८, १०८, १११
जथरिया। १३, १०७, १०८, १०९	जालन्धर। १४९, १५५, १६२
जथरिया-वंश। १३	जालन्धरपा। १४६, १५१, १६२ १६३
जनरल् कनिंघम्। १४	जालन्धरपाद। १४८, १६३, १८३, १८७, १८१
जम। १६७	जालन्धरि। १८५
जंबूद्वीप। ५८, ८१, २०८	जितारि। १९६, २१८, २७०
जम्बू वृक्ष। २०८	जिनमित्र। २१८
जयचन्द्र (राजा)। १५८, १६१, १६६, २०१	जिनेन्द्रबुद्धि। २१४, २१८
जयचन्द्र-पुत्र। २५६	जालमुत्त। १३५
जयच्चन्द्र देव। १५९	जीवानन्द शर्मा। २६५
जयचन्द्र विद्यालंकार। २४६	जूनील-आसियातिक। २५१
जयनन्दीपाद। १९३	जे-चुन्-मि-ला रे-पा। १९५
जयानन्त। १५२, १९३, १९४,	

जेत । ५२, ५३, ६६	जैन । २१, ४८, १०८
जेतवन । २२, २३, २५, २८,	जैन-ग्रंथ । १२, २२४, १००
२९, ३२, ३६, ३७, ३८,	जैनधर्म । २०
४०, ४५, ४९, ५०, ५१,	जैनधर्म-प्रवर्तक । १२
५२, ५३, ५४, ५५, ५७,	जैनाप्रकृत । २१
५८, ५९, ६०, ६१, ६२,	जैनमूलग्रन्थ । २२४
६३, ६४, ६६, ६९, ७०,	जैसवार कुर्मी । २६२
७१, ७२, ७३, ७४, ७६,	जो-खड्ड । २८४, २८९
७७, ८०, ८१, ८२, ८३,	जोगिया । १५२
८४, ८५, ८६, ८७, ८८,	जोतिय । १००
८९, ९०, ९१, ९३, ९४,	जोमन श्रीदेश । १५३
९६, ९८, ९९, १००,	जोवो । २७०
१०३, १०४, १०६	जौनपुर । २०६
जेतवन-राजकाराम । ७३	ज्ञातृ । १०७-९, ११४
जेतवनद्वार । ३९	ज्ञातृपुत्र (महावीर) । १०८
जेतवनद्वार-कोष्ठक । ६७, ७२	ज्ञातृवंशीय । १०८
जेतवन-पट्टिका । ८१	ज्ञानप्रकाश । २६४
जेतवन-पिट्ठि जेतवन-पुष्करिणी ।	ज्ञानप्रभ । २८६
६७, ६८	ज्ञानमित्र । २७३
जेतवन पोक्खरिणी । ६६	ज्ञानवती । १६८
जेतवन बहिर्द्वार कोष्ठक । ६६	ज्ञानश्री । २४९
जेथरडीह । १०९, ११०	ज्ञानेश्वर । १६३
जेथरिया । १०७, १०८, १०९,	ज्ञानोदयोपदेश । २००
११० १११, ११२, ११४	जि. मो । २९६, २९७
जैथर । १०८	भरही । २६१
जैथरिया । १०८	झांसी । १६१

झुमरा । ११७	तग्-लुङ्ग । २८७
टकारे । १६	तक्षशिला । २८३
टशीलुम्पो । १६८, २५२	तंजोर । १६१
टटिहा (तटिहा) । १११	तत्त्वचिन्तामणि । २१०
टेटिहा । २६३	तत्त्वसंग्रह । १४२, २६६, २१८
टंटन । १५०	तत्त्वसंग्रह-पंचिकाकार २१८
ट्रिनीडाड । २६०	तत्त्वसिद्धि । २००
ठि-स्रोङ्ग-ल्दे-ञ्चन् । १५७	तत्त्व-सुख-भावना । १८५
ठोरी । ११६	तत्त्वस्वभावदोहाकोष । १७४
डाकिनी तनुगीति । २६६	तत्त्वाष्टक-दृष्टि १६६
डाकिनी-वज्रगुह्यगीति । १६८	तथतादृष्टि । १८०
डिसुनगर । १५२, १८६	तथागत । ६३, ६५, ७०, ७१ ८२,
डुक्-पा-पद्-म-दकर-पो । १५७	६२, १६५, १६६, १६८,
डेंगिपा । १५०, १७४ १८०	१६६, २००, २०१, २०२,
डे-पुङ्ग । ७	२०३, २०४
डोम्-तोन् । १५७	तन्-जूर् । १४६, १४८, १६८,
डोम्बि । १८१	१७१, १७३, १७४, १७६,
डोम्बि-गीतिका । १८१	१७८, १७९, १८०, १८१,
डोम्बिपा । १४८, १५४, १७६,	१८२, १८४, १८५, १८७,
१८१	१८८, १६१, १६२, १६३,
ढाका । २६९	१६४,
ढेण्डण । १६१	तैतवा । १६१
ढेण्डणपाद । १६१	तन्तिपा । १४६, १८३, १५१,
ढोंङ्गनाथ । २६४	तन्तिपाद । १६१
तकाकुसू (डाक्टर) । २१३	तन्त्र । १८१
तक्कसिला । २३	तन्त्रालोक । १६४

तमकुही । २५७	तिरहुत । १८, १०८, २०६, २०७,
तर्कज्वाला । २५०	२५३,
तर्कमुद्गर-करिका । १६४	तिरुमलय (देश) द्रविड । २१६
तर्क-रहस्य । २४६	तिलोपा । १४६, १६५, २२, १६४
तर्कशास्त्र । २१२	तिलौराकोट । २५
तक्षशिला । २३, २५, २७, २२३	तिष्य । ७
तामिल । २२८	तीर्थिक चण्डालिका । १६८
ताम्रपर्णी द्वीप । २२६	तीर्थिकाराम । ५८, ६१, ७०, ६३,
तारा । २८३	१०२
तारानाथ (लामा) । १५७, १८१	तुर्क । २५६, २५७
२०३	तुलसी । २२७
तारुक्ख । १०३	तेर्-गी । १४६
तावर्तिस भवन । ८६	तेलगू । २३१, २३४
तिन्दुकाचीर । ३६	तेलोपा । १४६
तिन्दुकाचीर मल्लिकाराम । ३८	तोन्-छोग् । २८६
तिब्बत । ५, १४०, १४३, १४५,	त्रिउर । १७८
१४६, १४७, १५५, १५६,	त्रिपिटक २१, ३२, ३४, ३८, ४१,
१५८, १६६, १८०, १६५,	५१, ५७, ८२, १८२, २०८, २२४
१६८, १६९, २०३, २०६,	त्रिपुराक्ष । १७
२१०, २१४, २१५, २१७,	त्रिलोचन । २०७, २४६
२२६, २४६, २४७, २५०,	त्रिसमय । १४३
२३५, २५७, २५१, २५२,	थगनपा । १४९, २०१
२७२, २८६, २८३ - ८४,	थरुहट । ११६, ११७, ११९,
२६०, २६४-३००	थारु । ११५, ११६, ११७, ११८,
तिब्बती-भाषा । २४६, २४७	१२०
तिब्बत-यात्रा । २४७	थारु गाँव । ११८

थारु-भाषा । ११५, ११६	दिघवइत । १०६
थावे । २५९, २६२, २६४	दिघवा । २५५
थियोसोफी । १३६, २८१	दिघवा-दुवौली (जि० सारन)
थूपाराम । ४१	१७, २५४, २५५
दृण्डनाथ । १६२	दिघवारा । २५३, २६२
दन्-स-म्थिल् । २८७	दिङ्गनाग । २०८, २१०, २११,
दयाराम साहनी । ५३	२१३, २१४, २१५, २१७,
दरभंगा । ११५, १२०	२४६७
दलाईलामा । २७०, २८८	दिजोर । २५५
दवडीपा । १५३	दिल्ली । २२७, २२८, २२९, २४३
दशगात्र । ११७	२५६, २५८
दशबल । १०२	दीघनिकाय । ५०, ५४, ६०, ७३,
दक्षिण कोसल । २७	६६, १०३, १०४, ११६,
दक्षिणापथ । १२७	१३६, २०८.
दक्षिणावर्तनाथ । २१३	दी० नि० अठ्ठकथा । ७४, ७५
दक्षिणी अफ्रीका । २६०	दीपंकर । १५७, २०१, २७१,
दादू । १६१	२७८
दानशील । २१८	दीपङ्करश्रीज्ञान । १६५, १६६,
दामोदरसहायसिंह । २६५	२०१, २०३, २२६, २६६,
दारिक । १५५, १८०, १८१	२७०, २७१, २७३
दारिकपा । १४६, १५६, १७४,	दीपवंश । २२६
१८०	दुरौंधा । २६७
दारुचीरिय । २४	दुर्वेकमिश्र । २१५, २४६
दार्जिलिंग । २६०	दुसाघ । २६२
दाहा । २६१	दृष्टिज्ञान २०१
दाहा-नदी । २४१	देबू-तेरू-डोन्-पो । २७३

देवदत्त । ६७, ६८, ६९, ७०, ७१	द्वारकोदक । ६६, ७१, ७२, ७४
देवपाल (राजा) । १४८, १४९,	तञ्जुर । १५१
१५१, १५२, १७६, १७८,	धनंजय । १२
१८७, २७२, २७४	धनपाल । ६८
देव-संयुक्त । ६१	धनौती । २६४
देवीकोट । १५३, १७८	धम्मचक्क । ५०
देवेन्द्रसाही । २१८	धम्मपद । २४, ३२, ४०, ४२, ५९,
दे-सिद्ध । २८९	६०, ६२, ६५, ६६, ६७,
दोखंधि । १५०	८१, ८२, ८३, ८४, ९९,
दोखंधिपा । २०१	१०६
दोन । २५४, २५६	धम्मपदट्ठकथा । ६४
दोहाकोष । १६९, १७९, १८८,	धरनीकोट । १२८, १३२
१९४, २३२, २५१	धरणीदास । २६४
दोहाकोष-उपदेश-गीति । १६२	धर्मकीर्ति । २०१, २०८, २१०,
दोहाकोषगीत । १६८, १७९	२१४, २१६, २१७, २१८,
दोहाकोष-चर्यागीति । १६९	२४६, २४७, २४८, २४९
दोहाकोषतत्त्वगीतिका । २०१	धर्म-चक्र-प्रवर्तन विहार । ७, ८
दोहाकोष-महामुद्रोपदेश । १६९	धर्मधातुदर्शनगीति । २०१
दोहाचर्यागीति । २००	धर्मधातुसागर । २८९
दोहाचित्तगुह्य । २०२	धम्मपद-अट्ठकथा । ७८
दोहानिधितत्त्वोपदेश । १९९	धर्मपाल (राजा) । १७, १४७,
द्रविड़जाति । २३४	१४८, १७४, १५५, १७१,
द्रविड़-नासा । २३४	२१६, २५१; ७५, ७७
द्राविड़ । २३५	(आ०) २८५
द्वग्स्-पो । २८६	धर्मपा । १५१, १८८, २०१
द्वादशोपदेश । १६९	धर्मपाद । १८६

धर्ममान । ८२	नंद । १३, ४०, २२०, २२२,
धर्मरक्षा । २१३	नन्दक । ४०, ४१
धर्मसभामंडल । ७७	नम्बूदरी । २३५
धर्माकरदत्त । २१८, २४६	नरोत्पल । २७३
धर्माकरदत्तीय । २१५	नर्-थङ्ग । २८६
धर्मोत्तर । २१८, २४६	नेथङ्ग । २५१
धर्मोत्तर-प्रदीप । २४६	न(ल)म्पोछा (राय) । ११५
धर्मोत्तरीय । १२३	नलिनपा । १५१
घहुलि । १५३, २०२	नलिनपाद । २०२
घातुवाद । २०२	नवद्वीप (बंगाल) । २०७
घान्यकटक । १४, १२२, १२३,	नहरल्लवडु । १३३, १४०
१२६, १२७, १२८, १२९,	नागबोधिपा । १५४, १७८, २०२
१३३, १३४, १४०, १४३,	नागी । २४२
२१०	नागरीप्रचारिणीसभा । १, १६४
धारणी । १३७	नागशर्मा । १७
धुनिया । २४४	नागार्जुन । १३०, १३१, १३३,
धेकर देश । १५३	१४१, १४६, १४९, १५२,
धेतन । २०२	१५४, १६२, १६८, १७१,
धोकरिपा । १५२, २०२	१७३, २०२, २१०, २४८,
धोबी । २४३	नागार्जुन-गीतिका । २०२
धोम्भिपा । १५०	नागार्जुनी कोंडा । १२९, १४२,
ध्रुव-प्रदेश । २३५	१६८,
ध्रुवस्वामिनी । १५, १६	नाडकपाद । १६५
नगनारायणसिंह । २६४	नाड(नारो)पा । १६५
नगरभोग । १५१, १८३	नाडपाद । १६५, १६६, १९९
नन्ज्यो १३२	नाडपादीय गीतिका । १६५

नाडीबिंदुद्वारे योगचर्या । १८१	१४२, १४५
नातपुत्र । (ज्ञातृपुत्र) १२	निगंठ । ६०
नाथपन्थ । १४७, १५६, १६१, १६२, १६३, १६४, १८३	निग्-मा-पा । १४७ १५६, निर्गुणपा । १५२, २०२
नाथपुत्र । ६०	निर्ग्रथ । १०३
नाथवंश । १६४	निर्णयसागर । १३३, १४१
नादिका । १०६	निवृत्तिनाथ । १६३
नानक । १५६, १६१	निष्कलंकवज्र । २०२
नार-थङ् तन्-जूर । १४६	नीलकंठ । २०२
नारायण । १८२	नीलपट-दर्शन । १४६
नारायणवाट । ४८	नेपाल । ११८, १५७, १५८, १६६, १८४, १८६, १६८,
नारोपा (नाडपाद) । १४६, १४६, १६४, १६५, २७२	२०३, २४६, २७८, २८४
नार्थङ् । १४२ (नर्थङ्क)	नेपाली । २८३, २८४, २६८
नार्मंडी । २३६	नेवार । २३५
नालन्दा । १४८, १४६, १५१, १५२, १६५, १६८, १७५, १७७, १७८, १६५, २१६, २१७, २३२, २४८, २५०, २५१, २६६, २७१, २७२, २७४	ने-स । २८३
नालन्दा-विहार । १७३	नेपाली । ११६, ११७
नाला । ८३	नैयायिक । २०७
नासिक । १२३	नैरोबी । २२७
निकाय । ५१, १४६	नौखान । २८
निकाय-संग्रह । १२८, १२६, १३२,	नौसहरा दर्याजा । २८, ३५, ४२, ४४, ४५
	न्यायप्रवेश । २१५
	न्याय-विदु । २४६
	न्याय-भाष्य । २४८
	न्याय-वातिक । २११

न्याय-वार्तिककार । २११	परसा । १२, २४१, २४६, २५३,
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका । २१२	२६२, २६३
पकुध कच्चायन । ६०	परसौनी । २५८
पक्की कुटी । १४३	परामर्द । १४३
पंकजपा । १५२, २०२	परिलेयक । ८६
पंचकंग । १०३	परिव्राजकाराम । १०४
पञ्चछिहकगेह । ४७, ४८	पशुपति । १७
पंचरुखी । २५६	पसेनदी । २८, २९
पंचाल । २०६, २२३	पसेनदि (कोसल) । ४०
पंजाब । २६, १२६, १६१, २१३,	पहलेजाघाट । २६७
२३१	पहाड़पुर । १८७
पटना । १०, २५, ३४, ५७, २३७,	पाञ्चाली । २२३, २२७, २२८,
२३८, २४३, २४५, २५३,	२२६,
२६७, २८५	पाटलिगामियवग्ग । ६५
पटना म्युञ्जियम् । २८६	पाटलिग्राम । ६५, १०६
पठान । २६२	पाटलीपुत्र । ३१, १०६
पडरीना । २५७	पांडुपुर । १०६
पतञ्जलि । २२१, २२२, २२५	पाणिनि । १२, ५७, २२०, २२१,
पदरत्नमाला । १५८	२२२, २२३
पद्मवज्र । १८५	पातिमोक्ख । ५२
पद्मावती । १४१	पाथरघट्टा । २७४
पनहपा । १५४, २०२	पायासी । २०८
पपउर । २५४	पायासिसुत्त । २०८
परमत्थजोतिका । ५५	पारसनाथ । २६५
परमस्वामी । २०२	पाराजिक । ३१, ३४, ५१
परमार्थ । २१२	पारिलेयक । ८८

पारिलेय्यक वनसंड । ८६	४६, ५१, ६४, ६५, ६७,
पार्थसारथि मिश्र । २४८	६८, ६९, १००, १०२, १०३
पालवंशीय । १७, १२३, १५९,	पूसिन (डाक्टर) १२६
१४७, १७७, २७४	पेतवत्थु । ३०
पाली । १३, १४, २१, २८, ३७,	पेरिस् । ५, १४६
३८, ४१, ५३, ६६, ७०,	पैठन (हैदराबाद) १२२, १२३
७३, १२१, १२३, १३१,	पोक्खरसाति । १०३
१२६, १३५, २०७, २२४,	पोतला । २८८
२३८, २५३, २५६	पोस्-खड्ड । २८६, २८७
पिपरहवा (वस्ती) । ११	पोट्टपाद । १०३
पिपरिया । ११६	प्रकृतिसिद्धि २०२
पिप्पली । ११६	प्रज्ञापारमिता । १३१
पीताम्बरदत्त । १४६	प्रज्ञोपायविनिश्चय । १४४, २००
पुक्कसाती (पुष्करसाती) । २३	प्रजापति । ४१, ४२, ४४
पुतलीपा । १५४, २०२	प्रज्ञाकरमति । २७२, २७३
पुब्बकोट्टक । २८, ३६, ४३	प्रज्ञाकरगुप्त । २१८, २४८
पुब्बाराम । २२	प्रज्ञापारमितादर्शन । १८३
पुरातत्त्वाङ्क । ११३	प्रज्ञाभद्र । १६४
पुरैना । २८, १०६	प्रताप । २५७ (महाराणा)
पूर्णवज्र । २०३	प्रतिमामानलक्षण । ३०२
पूर्णवर्द्धन कुमार । १००	प्रतिष्ठान (पैठन) १२२
पूर्वकोट्टक । ६६	प्रभावती । २७०, २७१, २७२
पूर्वबंगाल । २६०	प्रभुदमा । १६
पूर्वभारत १४६	प्रमाणवार्तिक । २१४, २१५,
पूर्वशैलीय । १२४, १२६, १२७, १२८	२४६, २४७, २४८
पूर्वाराम । २६, ३२, ३५, ३६, ४३,	प्रमाणसमुच्चय । २१०, २१४,

२१७, २४७
 प्रमाणान्तर्भव । २४६
 प्रयाग । २१३
 प्रसेनजित् । २६, ३५, ४०, ४१, ४३,
 ४४, ५०, ५८, ५९, ६७, ७४, ७६,
 ८३, ९०, ९४, ९५
 प्राकृत २२०, २२२, २२३, २२५,
 २२६, २३८, २४५
 प्राकृत-पैङ्गल । १६०, १६५, १६६
 प्राक्-कुषाण । १५
 प्राची (युक्तप्रान्तविहार) २२२,
 २२३
 प्रातिशाख्य । २१६
 प्रिन्सेप् । २२६
 प्रीतिचंद । २०७
 प्रेमप्रकाश । २६४
 फग्-स्-प । १४६
 फग्-स्-ब्सतोन् । २८८
 फतेहसाही । २५६, २५७
 फर्हखाबाद । २६
 फ्लीट (डाक्टर) १६
 फल्गुन । ६१
 फारसी । २२७, २२८, २२९,
 २३१,
 फारसी-अरबी । २२८
 फाहियान । २१, ३३, ३६, ४७,

६१, ६७, ६८, ६९, ८५,
 १०५
 फीजी । २६०
 फूशे (डाक्टर) ४
 फेम्-बो । २६६
 फ़ैजाबाद । २५
 फोगल । ५, ३३, ३४, ३५, ३६,
 ३७, ३८, ४५,
 फ़ांस । ४, २३६, २३७
 फ़ांसीसी । २५१,
 फ़ेंच । २३६, २५०
 बखरा । १२
 बगौछिया । २५७
 बगौछिय (हथुआ) ११०, १११,
 २५६, २५७
 बगौरा । २५८
 बँगला । १६७, १७४, २२६
 बंगाल । १६१, १६७, २२६, २५६
 बंगाल रा० एसियाटिक । १६६
 बंगाली । १७७, २२६
 बघेलखंड । १५०
 बड़हरिया । २६२
 बज्जी । १२, २५४
 बड़ौदा । १४३, १६१
 बड्धवाल (डाक्टर) । १४६
 बढ्या । २५४

बदायूं। २२७
 बदायूनी। २२७
 बनारस। १६२, २१२
 बनारसी। २२६, २३१
 बन्धविमुक्तिशास्त्र। २०२
 बन्धविमुक्त-उपदेश। २०१
 बप्प। १६७
 बंबई। २५
 ब्य-प। १५२
 बरम। ११७
 बरार (विदर्भ)। २१०
 बरुण वृक्ष। ७५
 बर्धमान महावीर। २०७
 बर्मा। २६७
 बर्मावाले। २३५
 बलगमबाहु। १३१
 बलिया। २५३, २४१
 बसाढ (मुजफ्फरपुर)। १०, १४,
 १०८, १६८, २०१
 बस्ती। १७
 बहमनी। २२८
 बहराइच। ११५
 बाढ। १६७
 बाग्। २१३
 बाजारदवाजा। ३६, ४६
 बांतर (महतो) ११५, ११७

बादन्याय। २४७
 बाँवन बिगहा। २७४
 बाबुल। १३५
 बाँसखेड। १७
 बाह्यान्तरबोधित्तबन्धोपदेश।
 १८७
 बिजनौर। २२७, २३७
 बिजयपाद। १६४
 बिम्बसार। ७६, १००
 बिहार। २५, ११०, ११३, १६१,
 २४३
 बिहार-उड़ीसा। २४७, २४८, १५५
 बिहार शरीफ। १७७, १६६, २७१
 बिहारी। २२६
 बुद्ध। १३, १५, २०, २१, ३४,
 ३५, ४४, ५१, ५२, ५८,
 ५९, ६०, ६१, ६२, ६३,
 ७१, ८५, ९१, ९२, १०२,
 १०६, ११०, ११२, १२१,
 १२२, १३८, १३६, २०८
 बुद्ध-कपाल-तन्त्र। १६८
 बुद्ध-गया। २५५, २७१
 बुद्धघोष। ६५, ६८, ७४, ७५, १३०
 बुद्धचरित। २०६
 बुद्धचर्या। ९, ९३
 बुद्धज्ञान। १५५

बुद्धमित्र । १७	२०८ (न्याय); १५६ (मूर्ति)
बुद्धासन-स्तूप । ६३, ६५, ७१, ७७	बौद्धगान और दोहा । १४
बेतिया । १३	बौद्धधर्म । १५६
बेबिलोन । १३५	बौद्धाधिकार । २४६
बैतारा (ताल) । ३७, ३८	बौद्धन्याय । २०६
बैशाली (महावन) ८६, ८७, १०६	बौद्धमूर्ति-विद्या । १५६
बैस-क्षत्रिय । २५५, २५६	ब्रजभाषा । २२७, २२६, २३०, २३७, २३६
बोधगया । १५८, २२४, २५१	ब्रह्म-रूपुङ्गम् । २८७, २६०
बोधि । ६३, ६७	ब्रह्म । १८२
बोधिचर्यावितार । १८८	ब्रह्मपुत्र । २८८
बोधिचित्त । २०२	ब्रह्मरक्षित । १७
बोधिनगर । १५२	ब्रह्मा । ११३
बोधिवृक्ष । २५१	ब्रजकिशोरप्रसाद । २६६
बोध-गया-मन्दिर । २५१	ब्राह्मण । २६२, २०५ (ग्रंथ)
बौद्ध । १५७, २१७, २८१	ब्राह्मणन्याय २०६, २०७
बौद्धगान-उ-दोहा । १७०	ब्राह्मणवाट ४८, ४६
बौद्धविहार । २५६	ब्रि-गोङ्ग । २८७
बौद्धसम्प्रदाय । ७, १३७	ब्रुग-प-पष-द्वर्-यो १४०
बौद्ध । ७, २१, ११०, १३७, १६२, २०५, २०८, २०६, २१०, २१६, २४६-५०, २५६, २०६ (दर्शन); २०, ५०, ६४, १११ १२२, १२३, १३०, १३६, १५६, २०७, २०६, २६८ २८३ (धर्म); २०८, २१०, २४६, २४८, (नैयायिक);	ब्रुम्-स्तोन् । २८६ (डोम्०) भगदत्त । १६ भगलपुर । १५२ भगवदभिसमय । १७४ भगुनगर । १६४ भंगल । १७४, १६३, १६६, २७३, २७६

भंगल देश। १५१, १५२, १५४	२५२, २७०, २७५, २७७
भंगलपुर। १५२	(दक्षिण), २८१, २८३, २८४
भट्टाचार्य (डाक्टर) १७६, १७७,	(उत्तरी), २६८, २६९
१८७, २६९	भारततत्त्व। २४६
भड़ौच। २२६	भारतीय। ५, ६, १३, ५७, १४५,
भद्रिय। ३४, १००	१५६, १५९, १६६, २०५,
भद्रपा। १७७	२०६, २१३, २१४, २४६,
भद्रयाणिक। १२४, १२५	२५०, २५२, २६१, २७३,
भरहुत। ५३, ६२, ६६, ८१	३०२
भरुकच्छ। २२६	भारद्वाज। २११
भलह। १५१	भाव्य। २५०
भलि। १५६	भिक्रमपुरी। २७१
भलिपा। १५३	भिखनपा। १५३
भवनार्जिः १६२	भिखनाठोरी (जिला चम्पारन)
भागलपुर। १००, १५१, १५५,	११८
१७४, १६३	भिगुनगर। १४६
भादे। १६३	भिरलिनगर। १५३
भादेपा। १६२	भिलसां (ग्वालियर-राज्य)। १३४,
भारत। १, २, ४, ५, ६, ८, ९	२८०
१२, १३, ३३, ७१, ११३,	भीटा (इलाहाबाद)। ६, १०, ११,
१२२, १२३, १३२, १३७,	२७६
१४७, १५४, १५६, १५७,	भीटी (बहराइच)। ११, १०६
१५९, १६४, १८०, १८३,	भूटान। ३, २६६
१६०, २०१, २०५, २०७,	भूत-चामर। १४२
२१३, २१४, २२४, २३०,	भूमिहार। १०७, १११, ११२, ११३,
२३४, २३५, २४६, २५०,	११४, २५७, २६२, २६३

भूसुक। १५६	१६६, २०६, २०६, २२३,
भूसुकु। १७६, १७७	२४६, २५४
भूसुकुपा। १५१	मगधदेश। १८१
भैरुकाद्बुद। १४२	मगध-साम्राज्य। १०६
भैरुवगिरि। २६५	मगधी-भाषा-भाषी। २२५
भैरवात्। १६४	मगह। ११०, ११४, १७७
भैरवीचक्र। १३६, १५६	मगही। ११८, १७६, १८०, १८१,
भोट। १०२, १५६, १६४, १६५,	१८३, १८४, १८७, १८८,
१६८, २०१, २७०, २८४,	१६१, १६२, १६६, १६८,
२८७, ३००	२२५, २२६, २२८, २३०
भोटवासी। २१८	२३१, २३२, २३३, २३७,
भोटसाम्राज्य। २८५	२४५, २५४
भोटिया। १२८, १२९, १४६, १५६,	मगही (आधुनिक)। २२५
१६३, १६८, १७४, १७६,	मगही काल। २२६
१७७; २०२ (अनुवाद);	मगही (प्राचीन)। २२५
१७६, १६८ (कंजुर); १६३	मगही मध्यकालीन। २२५
(ग्रंथ); १५८, १६२, २०१	मगही-मैथिली-क्षेत्र। २३२
(भाषा); १५६ (साहित्य);	मगही हिन्दी। १६५
१८३, १६८, २६६, २७३	मंकुल पर्वत। ८६
भोटदन्त। १६६	मंखलि। ६०
भोजपुरी। २२६, २२८, २३०,	मंगोल। ११५, २००
२३१, २३७, २४१, २६६	मंगोलजातीय। ११६
मकेर। २५८	मच्छिकासंड। २४, २५
मक्खली। २०८	मच्छेन्द्र। १६४
मगध। १२, १३, १४८, १४९,	मच्छिन्द्रपा। १६४
१५१, १५३, १६२, १६५,	मज्झिमनिकाय। २२, २३, २७, २६,

४०, ५१, ६३, ६८, १०३, १०४	मन्त्रयान। १३१, १३६, १४०, १४५, १४७, २०१
म० नि० अट्ठकथा। ६५	मनोरथनन्दी। २१४, २१८, २४८
मज्जरल्लहक। २६६	मन्-थङ्ग। २८७
मञ्जिअउर (माञ्जी)। ११६	मर्दनिया (मर्द) ११६
मझौली। २५७	मर-वा-लोचवा। १६५
मंजुघोष। २८८, ३००	मराठा। २५८, १६१
मञ्जुश्री। १३७	मराठी। २३१, २४०
मंजुश्रीनामसंगीति। १३७	मलबारी। २३४
मंजुश्रीमूलकल्प। १२७, १३४, १३६, १४०, २२०, ३०२	मलयालम्। २३४
मणिघर। १५०, १५३	मल्ल। १११, २५३, २५४, २५७, २६४
मणिभद्रा। १५३, १८५	मल्लिका। २६, १०३
मणिसोपानफलक। ६१	मल्लिकादेवी। ४३
मत-बल-सेन। १४५	मल्लिनाथ। २१३
मत्स्येन्द्र। १४६, १५१, १६४, १८७	मसरख। १०६, २५६, २६२
मत्स्येन्द्रनाथ। १६२, १८३	महम्मद-विन-बख्तियार। १५८, २०३
मद्-ग्र-सङ्ग। २८४	महर (सहर) १५४
मद्रास। २३५	महाउत (राउत)। ११६
मधुरा। १४५	महाकप्पिन। २५
मध्यएसिया। २०६	महाकालकर्णी। १०१
मध्य-तिब्बत। २५२	महाकोशल। २७
मध्यप्रदेश। २७, २४३, २५३, २७८	महादुण्डन-मूल। १८८
मध्यमकविभंग। २५०	महादेव। २५३
मध्यमक-हृदय। २५०	महादेश। २७१
मध्यमकावतारटीका। १६४	

महानाथ । १६२	महरोड़ा । २५३, २५६
महापदानसुत्त । ५१, ५४	महाराणा प्रताप । २५७
महाप्रजापती गौतमी । ४१	महाराष्ट्र । १२२
महापरिनिर्वाणसूत्र । ३१, ११६	महालता । १०१
महाभारत । २१	महालता (आभूषण) । ६५
महाभिषेक । १७८	महालतापसाधन । ६४
महामाया । १४२	महावग्ग । ५१, ५२, ७६, ८८, ८९, ९०, ९१
महामुद्रा । १६८	महावग्ग, चीवरक्खन्ध । २७
महामुद्राभिगीति । २००	महावंस । १३२, २२६
महामुद्रारत्नाभिगीत्युपदेश । २०२	महाविहार । ६६
महामुद्रावज्रगीति । १७१	महावीथी । ३८, ४१
महामुद्रोपदेश । (त०) १६४	महावीर । १२
महामुद्रोपदेश-वज्र गुह्यगीति । १६६	महाशैल । १२७
महामुद्रारत्नगीति । २०३	महासमयतत्त्व । १४२
महामोग्गलान । ६२, ७२, ६६	महासांघिक । १२१, १२६, २२०
महायान । २१, ४७, १२६, १३०, १३१, १३२, १३६, १४०, १४४, १४५, १४६, १४७	महासुखतागीतिका । २०३
महायानोत्तर-तंत्र । २५०	महासुखतावज्र । २०३
महायानी । १३२	महिषा । १६२
महायानकी उत्पत्ति । १४६	(महिल)पा । १६२
महायानावतार । २०१	मही (नदी) । ११०, १६२, २५३, २५५
महायान, बौद्धधर्म । १२१	महीधरपाद । १६२
महारट्ठ । १२२	महीवा । १५१, १८८, १६२
महाराष्ट्रीय । १६३	महीपाल । १४६, १६६
महाराजगंज । २५६, २६१, २६७	महीशासक । १२४, २२०

महेट। २८, ३३, ३६

महेन्द्रपाल। २५५

महेसर। १८२

माकन्दी। २२, २३

मागधक। ५६

मागधी। ११६, १६७, २२०,

२२३, २२४, २२५, २२६,

२२७, २३६

मागधी (हिन्दी)। २१६

माँझा। २६४

माँझी। २४५, २५४, २६४, २६७

मातृचेट। २५०

मानसरोवर। २८८

मानव-तत्त्व। २३४

मान्धाता। ६६

मायाजालतंत्र। १४१

मायामारीचिकल्प। १४३

मारीच्युद्भव। १४३

मार्गफलान्वितावादक। १७६

मार्च। १५८

मार्शल (सर्जान्)। ६३, ६४, ६६,

७८, १०६

मालतीमाधव। १४०, १४१

मालवदेश। १६६, १६१

मालवा। १४१, १६६

मालवी। १६१

मालाबार। २२८, २३४, २३५

मिगदाय। ५७

मिगार (सेठ)। ४३, १००-१०२

मिगारमाता। ६७, ६८, ९९, १००,

१०२

मित्र। १५६

मित्रयोगी। १५७, १५८, १६१

मिथिला। २०६, २०७

मिनान्दर। २०६

मिर्जापुर। १२, २०६, २४१, २५३,

२६२, २६३

मिलिन्दप्रश्न। १२२, २०८, २०९

मिश्र। १३५, १३६

मीननाथ। १४७, १६४

मीनपा। १४८, १५०, १०६, १६४,

१८५, १८७

मीरगंज। २४१, २५६, २६१

मीरासैयद। ४६

मुंगेर। ३४, १००, २७४

मुजफ्फरपुर। १२, १३, १०६,

११५, १२०, २४१, २५३,

२५४, २५८

मुरली (पहाड़ी)। २७३

मुरलीमनोहरप्रसाद। २६५

मुरादाबाद। २२७

मुरू। १८२

मुसलमान । ३३, ११०, १४७,	मौद्गलि-पुत्र तिष्य । ११०
२२८, २२९, २४१, २५६,	मौद्गल्यायन । १५६
२६१, २६२	मौर्य । ८, १३, ४१, ३४, ५९,
मुसलमानी । १०७, २४१, २५६, २६४	१२३, ११९, २५४
मूलप्रकृतिस्थभावना । २०४	मौर्यकाल । १०, ११, २७७
मृच्छकटिक । १४१	म्यु-रु । २९०
मेकोपा । १५१	यमसभ । २२२
मेखला । १८८	यमारि । २१८
मेगस्थनीज । ३१	यमारितन्त्र । १७९
मेघदूत । २१३	यमुना । २५३
मेंडक । १००	यवन । १३९
मोदिनीपा । २०३	यशोधर । १०५
मेघियवग्ग । ८२	यक्षवत्स । २०
मेंहदार । २६४	यज्ञवाट । ४८
मैत्रीपा । १५६	याज्ञवल्क्य । २०६
मैत्रिपाद । १७१, १२७२	युक्त-प्रान्त । १५, २७, १५८,
मैत्रेय । २८३, ३००	१९२, १६१
मैथिल । २०७, २२६	युन्-च्वेङ्ग । ८, १३, २१, ३३,
मैथिली । १६७, २२६, २२८,	३९, ४१, ४२, ४४, ४७,
२३०, २३१, २३२, २३७,	६०, ६१, ६६, ६९, ८५,
२५४	१२६, २१६, २४१, २१७
मैरवाँ । २६२, २६४	युक्तपदेश । २००
मैहर । १५०	यूरेशियन । २२७
मोरिशस । २६०	यूरोप । १, २३५
मोहनजोदड़ो । ९, १०	येरू-वा । २९८
मोगलान । ५८, ७०, ९६, ९७	ये-शेसू-डोद् । २८६

योगगीता । २०३	राजकल्प । १४३
योगाचार । २४६, २५०	राजकाराम । ३६, ४०, ४१, ४४,
योगाचार्याभूमि । २४६	४७, ४८, ५५, ५७, ५६,
योगाचार-माध्यमिक । २५०	६०, ६१, ६३
योगिनीप्रसरगीतिका । १६६	राजगढ़ । २८, ३६
योगि-स्वचित्त-ग्रंथकोपदेश । १५८,	राजगिरिक । १२४, १२६, १२७,
२०१	१२६
रजतार । ११५	राजगुरु (पं० हेमराजशर्मा) । २४६
रक्ख । १६७	राजगृह । १, २३, २५, २६, ३१,
रंगून । २६०	४०, ५१, ५२, ७२, ८५,
रद्विक । १२२	८६, ९०, ९१, ९२, ९३
रत्ती । १२, १०८, १०६	राजपुर । १५०
रत्नकूट । १३१, १३२, १४५	राजपुरी । १५३
रत्नकीर्ति । २१८, २४६	राजपूताना । २४३
रत्नभद्र । २८६	राजमहल । २७४
रत्-पा-चन् । १५७	राजवल्लभ । २६५
रत्नमाला । २०४	राजमनमहतो । ११८
रत्नाकर । १६३	राजशाही । १८७
रत्नाकरजोपमकथा । १६३, १६४,	राजस्थानी । २३७
२०३	राजेन्द्रप्रसाद । २६६
रत्नाकरशान्ति । १४६, २७२, २७३	राठौर । २५५, २५७
रमपुरवा (चम्पारन) । ७, १०, ११६	राढ़ । २२६
र-मो-छे । २८४, २८५	राणा हमीरसिंह । १६५
रविगुप्त । २१८	राधास्वामी । १६१
रत्-प-चन् । २८६, २८८	राधिकाप्रसाद । २६६
राखालदास बन्धोपाध्याय । १४	राप्ती । २५३

रामकृष्ण। २८१	रुहेलखण्ड। २०६
रामतीर्थ। २८१	रूसी। २३६
रामगङ्गा। २२३	रे-डिङ्ग। २८६
रामगढ़। २८	रोड। २६६
रामानन्द। १६१, १६४	रोड-ब्रग्-म। २८८
रामायण। २१	लखनऊ म्युजियम। १५
रामावतार शर्मा। २६५	लंका। १४५
रामेश्वर। १५१, १६६	लङ्कापुर। १५१
रावण-मन्दोदरी-संवाद। २६४	लक्ष्मी। १८, १२३
रावलपिंडी। २५	लक्ष्मीकरा। १५४
राष्ट्रकूट। २५५	ल-मो-दकुन्। २६०
राष्ट्रपालगर्जित। १२८	ललितवज्र। २०३
राष्ट्रपालपरिपृच्छा। १२८	लाकठ। २५५, २५६
राष्ट्रपालनाटक। २०६	लाखपुय। १५२
राहुल। ६८, ६२	लामा तारानाथ। १५७, १८१, २०३
राहुलकुमार। ६१	लाहोरी या लाखोरी। २
राहुलपा। १५२	लिच्छवि। १२, १०७, १०८,
राहुलभद्र। १६७, २०३	१०६, ११३, ११४, २५४
रिड-बुम्। २६६	लिच्छवि-गणतन्त्र। १३, २०
रिन्-छेन्-वज्र-पो। २८६, २८७	लिच्छवि जयरिया। १३
रिन्-पो-छेइ-ज्युङ्ग। ६३	लिच्छविजाति। १३
रिविलगंज। २६७	लिच्छविवंश। १०८
रीसडेविड्स। ५३	लीलापा। १४८, १५२, १८६
रुद्रदामा। ५७	लीलावज्र। २०३
रुद्रसिंह। १६	लीलावती। ५५, ५६
रुद्रसेन। १६	लुचिकपा। १५२

लुइपा । १४८, १५०, १५१, १५५
 १७१, १७४, १७५, १८०,
 १८१, १९०
 लु-ज्वम् । २९०
 लूइपाद । *१७४
 लूइपाद-नीतिका । १७४
 लेखमन महतो । ११८
 लेनिनग्राद् । २४६
 लेवी (सेल्वेन्) । ४, ५
 लोरेन । २३६
 लौरिया । ११८
 लौहप्रासाद । ९४, ९५
 लौहित्य-नदी । १६४, १८७, २८४,
 २८६-९०, २९६, २९८, २९९
 ल्ह-लुङ्ग । २८८
 ल्हासा । १८२, २७७, २७३
 ल्हो-ख । २८७
 वंकुपंडित । २१८
 वंगराज । २२६
 वंगीय-साहित्य-परिपद । १६९
 वज्जी । १२, १३, ११४, १६९,
 २६४
 वज्जी-गणतन्त्र । २५४, १२
 वज्जी देश । १०९, ११० १२
 वज्जगान्धारकल्प । १४३
 वज्जगीताववाद । २०४

वज्जगीति । १८८, १९५, १९९
 वज्जगीतिका । १८९, १९९, २०१
 वज्जघंटापाद । १४६, १५५, १८०,
 १८१, १८२
 वज्जडाकतन्त्र । १९८
 वज्जडाकिनी-गीति । २०२
 वज्जपद । २०३, २०४
 वज्जपर्वतनिकाय । १४३
 वज्जपाणि । १७३, २०३, २८८
 वज्जयान । १२९, १३०, १३९,
 १४१, १४३, १४६, १४७,
 १५६, १५९, १६०, १६८,
 १८३, २०१
 वज्जयानीय । १६८
 वज्जामृत । १४२
 वज्जासन । २७१, २७२
 वज्जासनवज्जगीति । २०१
 वत्स । १२, २१
 वनारस । २०६
 वरहगाँवाँ । ११८
 वर्त्तत्रयमुखागम । २००
 वर्धमान (महावीर) । १२, १०८
 वर्मी । ११७
 वरौली । २६२
 वस्ती । १२०
 वसन्ततिलक । १८८

वसाढ़। (बनिया वसाढ़) १२, १०७, ११७	वायुतत्त्व दोहा। १६२ वायुतत्त्वभावनोपदेश। २००
वसुबन्धु। २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१७, २५०	वायुस्थानरोग। १६६ वाराणसी। २२, ३१, ६१, २०६
वशिष्ठ। २०५	वारेन्द्र। १५२, १७४
वंशीसिंह। २६७	वासुदेव। १२२
वह्राइच। १२०	विक्रमपुरी। २७०, २७१३
वंशवृक्ष। १२१	विकल्पपरिहार-गीति। २०३
वागीश्वरकीर्ति। २७३	विक्रम। २७, २७४
वांकीदर्वाजा। ४४	विक्रमशिला। १४८, १५१, १५५
वाचस्पति मिश्र। २०७, २११, २१२, २४६	१५८, १६७, १७४, १६४ १६५, १६६, २०३, २१८
वाचस्पत्य। ५६	२४६, २५१, २७२, २७३
वाज्जार-दर्वाजा। ४१	२७८, २८७
वाजी। ११७	विक्रमपुर। २६६, २७३
वाणभट्ट। ११०, १०७, १४१	विक्रमपुरी। २७०-७३
वात्सीपुत्रीय। १२४, १२५	विग्रहपाल। २७१
वात्स्यायन। २०६, २०७, २१०, २४८	विग्रहव्यावर्तिनी। २१०, २४८
वात्स्यायनभाष्य। २१०	विघसुर। १४९
वादन्याय। २०७, २०६, २१०, २१२, २४७	विजयपा। १४६, १९४, २२६
वादविधान। २१०, २११	विज्ञप्तिमात्रता। १२६
वादविधि। २१०, २११	विदिशा। १३४, १२१
वादरहस्य। २४६	विदेह। २०६
वाममार्ग। १५६	विद्यापति। २२६, २२७, २३०
	विद्याभूषण। २६६
	विनीतदेव। २१८

विनय । २२, ८५, ८६, ६२, १०६, १७६	विष्णु । १५, २५६
विनयग्रन्थ । ४४	विष्णुनगर । १६३, १६५
विनयतोष भूट्टाचार्य (डा०) । १५५, १७४, १७६, २६९	विष्णुपुर । १५०
विनयपिटक । ५१, ५२, ८०, ८४, ६६	विष्णुमूर्ति । २५७
विनयसूत्र । ६३	विसाखा । ३२
विन्ध्य-हिमालय । २२३	विसेन (राजपूत) । २५७
विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री । २६५	विहार । १५, ६६, १०७, १५८
विभूतिचन्द्र । २१८	विहार (भागलपुर) । २१८
विमानवल्थु । ३३	विहारशरीफ । २७२, २८५
विमुक्तमञ्जरी । १६३	वीणापा । १४६, १८१
विमुक्तमंजरी-गीत । १८४	वीरवैरोचनगीतिका । २०३
विरमानन्द । १७६	वीरांकुर । १४५
विरूपा । १४८, १७८, १८१	बुलन्दीवाग । ३१
विरूपगीतिका । १७६	बुद्धोदय । १७४
विरूपपदचतुरशीति । १७६	बु-स्तोन । १५७
विरूपवज्रगीतिका । १७६	वृजी । २१
विलोचिस्तान । २३५	बेतिया-राजवंश । १३, १०७
विशाखा । ३६, ४२, ४३, ४४, ४६, ६४, ७१, ६५, ६६, ६६, १००, १०१, १०२	बेतुल्ल-पिटक । १३२
विशाल । १४	बेतुल्लवाद । १३०, १३१
विशुद्धदर्शनचर्योपदेश । २०४	बेतुल्लवादी । १३२
विश्वनाथसहाय । २६५	वेद । २०५, २१६, २२३, २३८
विश्वामित्र । २०५	वेदान्त । २४६
	वेरंजा । ८६
	वेल्लस । २३५
	वेसाली । १५, १६
	वैतारा-द्वर्वाजा । ३८, ४१, ४८

वैपुल्य (वेतुल्ल) । १२४ १२७, १३१, १३२	शरीरनाडिका-विन्दुसमता । २०२
वैपुल्यवाद । १३०	शर्माजी । १०७
वैपुल्यवादी । १२६ १३०, १३७,	शर्-री । १२८
वैरोचनरक्षित । २८५	श-लु । २८६
वैरोचनवज्र । २०३	शाकटायन । २२२
वैशाली । १३, १४, २०, ११३, १२१, १६८, २०१, २५४	शाक्यमति । २१८
वैश्रवण । ६६	शाक्यपुत्री । ६६, ८३
वैष्णव । २६३	शाक्यश्रीभद्र । २०३, २८७
व्याघ्रपद । १११, १५७	शातकर्णी शातवाहन (शालि- वाहन) । १२३
व्याप्तिनिर्णय । २४६	शातवाहन । १२२, १२३, १३३
व्यास-नदी । २२२	शातवाहनवंशीय । १६
व्रजमंडली । २३१	शान्तरक्षित । १५५, १५६, १७५ २०७, २०९, २१०, २११, २२६, २६८, २७८, २८५
शक । १२२	शान्तिगुप्त । १६३, २०३
शंकर । २४६, २५०	शान्तिदेव । १७६, १८८
शंकर-शिखर । २२५,	शान्तिपा । १९, १४६, १५१, १६८, १८५
शंकरानंद । २१८	शांतिपाद । २७८
शाफ़ी दाअूदी । १३	शास्ता (बुद्ध) । २३, २४, ५८, ६६- ६८, ७८, ६१, ६२, ६५, ६६
शबर । १५५	शाह । २५६
शबरपा । १४६, १४८, १५१, १५६	शाहजीकी ढेरी । २५
शबरपाद । १७१, १७४	शाहजहाँ । २२८, २६४
शबरी । १५४	शालि । १३१
शम्पेन्वा । २३६	
शरच्चन्द्रदास । २६६	

शिवनारायण । २६३	श्रावस्ती-मण्डल । २५५
शिवशरण । २६५	श्रीधरसाही । २६४
शिशुक्रन्द । २२२	श्रीधान्यकटक । १४
शिशुक्रन्दीम्ब । २२२	श्रीपर्वत । १२७, १३३, १३४,
शीतलपुर । २५३, २५६	१४०, १४१, १४२, १४३,
शीलभद्र । २१६	१६३, १७१, १७८, २१०
शुंग । १२२, १२८, २२१	श्रीशैल । १४२
शुंगकाल । २२१, २५४	श्रीहर्ष । १४५ १४६
शुद्धसमुच्चयकल्प । १४३	श्रीज्ञान । १५६ (दीपंकर)
शुद्धोदन । ६१	श्रीदास । १६
शृगालपाद । २०४	षडङ्गयोग । १७१
शेक्सपियर । २२६	षडङ्गयोगोपदेश । २००
शैव । २६३	षष्ठिदत्त । १७
शोभनाथ दर्वाजा । ४८	सकलसिद्धि-वज्रगीति । २०२
श्चेर्वात्सकी । २४६	सक्खर । ७२
श्रावस्ती । १७, २२, २४, २५,	संकाश्य । २५
२६, २७, २८, २९, ३१,	सखावत । २६४
३२, ३४, ३५, ३६, ३७,	सखी-समाज । २८१
३८, ४१, ४३, ४७, ४८,	सतपुरी । १५३
५१, ५२, ५३, ५७, ६०,	सतीशचन्द्र । २६६
७०, ७६, ८३, ८६, ८७,	सत्यनाथ । १६२
८९, ९०, ९१, ९२, ९३,	सन्तोषनाथ । १६२
९४, ९६, ९९, १००, १०३,	सन्ध्याभाषा । १६०
१०४, १०५, १०६, १२३,	सन्धोनगर । १५४
१५०, १६२	सप्तमसिद्धान्त । १८०
श्रावस्ती-भुक्ति । १७	सप्तसिन्धु (पंजाब) । २०५, २०६

सप्तमातृका । १५	१६३, १६८, १६९, १७०,
सबोर । १५६, २७३, २७४	१७१
सब्बासवसुत्त । २२	सरह-गीतिका । १६९
सभौर । २७३	सरह-ग्रन्थावली । २५१
समणमंडिकापुत्त । १०३	सरहपा । १४८, १६७, २५१
समाजतंत्र । १४२	सरहपाद । १४६, १६०, १६०,
समयप्पवादक-परिब्बाजकाराम ।	१६७, १७१, १७३
४९, १०२, १०३	सरस्वती । २२३
समुच्चय । १४३	सरस्वती-भवन । १६२
समुदपा । १५४	सरोजवज्र (सरह) । १६९
समुदय । २०७	सर्वदेवतानिष्पन्न । २००
समुद्र । २०४	सर्वभक्षपा । १५४, २०४
समुद्रगुप्त । १३, १०९, २१३, २७७	सर्वज्ञसिद्धि । २४९
समंनपासादिका । ५६	सर्वार (गोरखपुर वस्ती जिला) ।
सम्भलनगर । १५४	१५४
सम्भलपुर (विहार) । १५४	सर्वास्तिवाद । ७, १२४, २२०
सम्-यस् । २८५	सर्वास्तिवादी । ७, १२५
सरकार सारन । २५६	स-स्वय । २८७
सरगुजा (राज्य) । २२४	सललघर । ७४, ७६
सर जान मार्शल । ६३, ६४, ६९,	सललागारक । ६०
७८, १०६	संस्कृत । २१, १०९, २१०, २१७,
सरयू । २५३, २६१, १६७	२१९, २२०, २२२, २२३,
सरयूपारी । २५५	२२५, २२९, २३४, २३८,
सरवरिया । ११०, २५५	२४५, २४६, २४७, (ग्रंथ),
सरह । १४६, १४७, १४८, १४९,	२४८
१५०, १५२, १५४, १५५,	सहजगीति । १७६

सहजयोगिनी । १८०	सान्ति । १६७
सहजसंवरस्वाधिष्ठान । १७१	साम्ब । १७
सहजाती । ६	सांभर । २६६
सहजानन्तस्वभाव । २००	साम्मितीय (निकाय) । ८, ४७,
सहजानंद । १७६	१२४, १२५, १२६, १२७,
सहजयोगिनी चिन्ता । २०४	१४६
सहजोपदेशस्वाधिष्ठान । १७१	सारन । २५३, २५४, २५५, २५६,
सहरा । १६०	२५८, २५९, २६६, २६७,
सहेट । ३०, ३३, ५७, ६१	२६८
सहेटमहेट (गोंडा) । ११, २७,	सारन-केनाल । २६१
१६२	सारनाथ । ७, ८, १०, ११, २७७
सहोर । १५५, २६६, २७१, २७३,	सारिपुत्त । ५८, ६१, ६६, ७०,
स-स्वय पण्-छेन । २१८	६१, १०४, १५६,
स-स्वय । २५१, २५२	सारिपुत्रप्रकरण । २०६
स-स्वय-ञ्कं-बुम् । १४६, १५५,	सारियोगभावनोपदेश । १८५
१५७, १६६, १७४, १७६,	सालिपुत्र । १५०, १५१, १५२,
१८७, १८८, १६४	१५३
सस्वय-विहार । १६०, १५७,	सावत्थी । २२, २६, ३१, ३३,
१९८, २०३	४५, ५१, ५२, ६७, ७४,
साकेत (अयोध्या) । २५, २६,	८३, १०४
२७, ३०, ३१, ३७, १००,	सावर्ण-नोत्री भट्ट पद्मसर । २५५
२०६	साहनी (दयाराम) । ५५
सागरपा । १५४, २०४	साहित्यदर्पण । २७६
सागल । २०६	सिँगिया नाला । २६
सांख्य । २०६	सिंगापुर । २६०
साधनमाला । १८६	सिद्धकाल । १६१

सिद्धचर्या । १६१, १६४	सुगतदृष्टिगीतिका । २०१
सिद्ध सरहपा । २५१	सुचितसिंह । २६६
सिद्धार्थ । २५७	सुज्ज । १५७
सिद्धार्थक । १२७, १२६	सुतनु-तीर । १०४, १०५
सिद्धार्थिक । १२४, १२६	सुत्तनिपात । २८, ६६, ७०
सिधवलिया । २५६	सुदत्त सेठ । १००
सिन्धी । २३१	सुधम्मत्येर । २४
सिन्धु । २२३, २२४	सुधर्म । २४
सिरिपब्बद । १४०	सुनिष्प्रपञ्चतत्त्वोपदेश । १७६
सिहनाद-सूत्र । २०८	सुन्दरी । ८२, ८३, ८५,
सिंहल । १००, १३१, १३२, १४५,	सुप्पारक (सोपारा, जि० ठाणा) ।
१६६, २२०, २२४, २२६,	२२६
२८३	सुभद्रा । २५
सिंहाली । २६, ६८, १२८	सुभूतिक । १५६
सिलौढी । २६४	सुमतिसागर । २७०, २८८
सिसवन । २६४	सुमनादेवी । १००
सीवान । २४१, २५४, २५६,	सुम्-दा । २८६
२६१, २६२, २६७, २६८	सुर्-खड्ग । २८८
सीतवन । ५१, ६२	सुल्तानगंज । २७३, २७४
सीवान । २४१	सुवर्णसामजातक । ४५
सीलोन । २२६	सुवर्णक्षीपुत्र (अश्वघोष) । २०६
सीवद्वार । ५२	सूक्ष्मयोग । २०४
सुखदुःखद्वय परित्याग० । १६६	सूत्रपिटक । २०८
सुखवज्र । २०४	सूर । २२६
सुखावतीव्यूह । १३२	सूरत । २५
सुगत । ५६	सूर्यकुण्ड । ४६

सेंट मार्टिन । १४	संयुक्तनिकाय । ५१, ५७, ६०,
सेंठा । ११५	६२, ८८, ८९, ९०, ९४
सेनासनकखन्धक । २४, ५२, ७३,	संवरभद्र । २०४
७९, ९६	स्कन्-जुर । १२८, १२९, १३१
सेन्-गदोङ्ग । २८७	स्कन्दगुप्त । २१३, २१४
सेमरिया । २६४	स्काच् । २३५
से-र० । २८४, २८७	स्टाइन । २८३
सैथवार । १११, २५७	स्थविरवाद । १२१, १२४
साधोनगर । १४९	स्थिरसिद्धिदूषण । २४९
सोदामिनि । १४०	स्पूनर (डाक्टर) । १४, १५
सोनपुर । १२, २४१, २५३,	स्नानकोट्टक । ७७, ७८
२५४, २६३,	स्याम । २८३
सोनभदरिया । १०७	स्यालकोट । २०९
सोपानफलक । ६१	स्रोङ्-बूच्न्-सूगम्-पो । २८, २८४,
सोमपुरी । १४९, १९६	२८८
सोमसूर्यबन्धनोपाय । २००	स्ववृत्ति-टीका । २४८
सौदामिनी । १४१	स्वरोदय । १५९
सौन्दरानन्द । २०९	हङ्ग्या । ९, १०
सौरसेनीमहाराष्ट्री । २२४	हथुआ । २५७, २६८
संकस्सनगर । २४	हनुमनवाँ । ३६, ९५, १०२, ११२
संकस्सनगरद्वार । ५७	हम्मीरसिंह, राणा । १६५, १६६
संकाश्य । २४, २७	हयग्रीव । ३००
संकिसा । २६	हर-गौरी । १५
संघश्री । २१८	हरदिया । २५४, २६१
संजयवेलट्ठपुत्त । ९०	हरप्रसाद शास्त्री । १७७, १९८
संधोनगर । १५०	हरि । १९

- हरिभद्र । १५५
 हरिश्चन्द्र । १६६, २५६
 हरिहर-क्षेत्र । २६३
 हरिहरनाथ । २५३, २६३
 हर्ष । १७, १४१, २८४
 हर्षवर्द्धन । १७, १३६, २५५
 हर्ष-चरित । १३३, १४१
 हाजीपुर । १२
 हालिपाद । १५२, १८६
 हालेंड । ५
 हिन्दी । १, १६७, १७३, १७४,
 १७६, १७८, १७९, १८१,
 १८५, १९८, २२५, २२७,
 २२९, २३१, २३२, २३६,
 २३८, २५१,
 हिन्दी-भाषा । १५६, २२६, २४०
 हिन्दी-भाषाभाषी । ६, १९८
 हिन्दी (स्थानीय) । २४०
 हिन्दुस्तान । २२६, २३१, २६३
 हिन्दू । १६५, २२८, २६१, २६२
 हिन्दूकुश । २७७
 हिमवान् । ३०
 हिमालय । १८, ४०, ११५, १२६,
 २३१, २८३
 हीनयान । १९६
 हीनयानी । ४७
 हुंकारचित्तविन्दु । २०१
 हुमायूं । २०३
 हुंकार-चित्त-विन्दु-भावनाक्रम । १८४
 हूसेपुर । २५६, २५७
 हेतुवाद । १२४, १२६
 हेतुविन्द । २१५, २४९
 हेमराज शर्मा (राजगुरु) । २४६
 हेरम्बकल्प । १४३
 हेवज्र । १८१
 हेवावितारण । २२
 ह्वेन्-चाङ्ग । २८४
 The Annual Bibliography of Indian Archaeology ५
 Archaeological Survey of India, 1910-11 ६३
 A. S. I. Report 1910-11 ६१
 Bazar-Darwaza ४६
 Bhattacharya (Dr. B.)
 Beal ४४
 Bengal १७४, १६९
 Bengali १६७, १७४
 Buddha ६६, ८५
 Catalogue du fonds
 Tibetain troisieme

partie १६३, १६८	terly, March, ६४
Chancha ६९	Kachhikuti ४६
Commentary Vol. i. p.	Kokali ६९
१४७, ६७	Kushana, ७८
Cordier १४८, १६३, १६८,	Kushan Period, 64
१९८	Nanjio १२८, १२९
Devadatta ६९	Naushara ३५
Epigraphica Indica १२३	Pag-sam-jon-zan १७६९
Gandhakuti ६४	Santideva १७९
Hirien ८५	Saurashtra १७६
Indian Historical Quar-	Tsang, p. ९३; ८५



शब्द-अनुक्रमणिका (३)

अचिन्त्य-परिभावना । २०३	आयुपरीक्षा । २००
अट्टकथा । २२, २७, २८, २९, ३२, ३३, ३४, ३८, ३९, ४१, ४४, ४७, ४९, ५०, ५३, ५७, ६२, ६८, ७४, ७५, ७७, ८४, ८७, ९१, ९३, ९४, ९७, ९८, ९९, १०३, १२१, १२३, १२६, १२८, १३१	आषाढी । ४६ ईश्वरवाद । १२१ उक्कुटिक । १०४ उच्छेदवादी । २०८ उदाहरण । २०८ ऋक् । २०५ करुणाभावनाधिष्ठान । १९४ कर्मकाण्डी । २०५ कलाल । २४३ कल्प । २२२ कल्पनाजालमुक्त । ६, ७ कसेरा । २४३ कुम्हार । २४४ कोइरी । २४३, २५५, २६२ कोकिल । २२६ कोष । १६९ गणक्षत्रिय । ११४, १२१ गंडेरिया । २४३ गीतिका । १९२, १९८, २०१ गीत । १७२ गुह्याभिषेक । १७८
अद्वयनाडिका-भावनाक्रम । २०२	
अंग्रेजी । १०, २२७, २२८, २५६, २५७	
अनीश्वरवादी । २०८	
अनुत्तर-सर्व-शुद्धिक्रम । २०२	
अन्तर्बाह्यविषय-निवृत्तिभावनाक्रम । १९४	
अपोहसिद्धि । २४९	
अवयवी । २०९, २४९	
असम्बन्ध-दृष्टि । १८३, १८८	
अक्षरद्विकोपदेश । १८१	
आत्मवाद । १२१	
आदियोगभावना । २०२	

- गूढ़विनय । १४१
 ग्रामोफोन । २४२
 ग्वाला । २४३
 अक्षरमण-शाला । ८५
 चण्डालिका । १७६
 चतुरक्षरोपदेश । २०१
 चतुर्भूत । २००
 चतुर्मुद्रोपदेश । १६६
 चतुर्योगभावना । १६१
 चमार । २४३, २६२
 चिड़ीमार । २४३
 चिन्ता । १८०
 जटिल । १००
 जड़वाद । १२१
 जड़वादी । २०८
 जन्ताघर । ७८
 जलमंडल । २०३
 जातिवाद । १२१
 जालधारक । १५१
 जुलाहा । २४३
 तन्तुवाय । १६१
 तपन । १०४
 तम्बोली । २४४
 तर्कशास्त्र । २१२
 तल । ३४
 तीरभुक्ति । १८
 तेली । २४३, २६२,
 बेशीय । २२५
 द्वादशचक्र । १४२
 द्वादशोपदेश-गाथा । १६६
 द्वारकोट्ठक । ६६, ७१, ७२, ६४
 द्वितीय पाराजिक । ३१
 नव्य न्याय । २०७
 नाला । ८६
 निगमसभा । १६
 निपात । २३६
 निर्गुण । १६०, १६४
 निर्णय । १८८
 निर्वाण । १६३, २०७
 निर्विकल्प । १७३
 निषीदन-शाला । ७५
 नुनिया । २४४
 न्यायशास्त्र । २०६
 पंचातप । १०४
 पचावयव । २०८
 पथक । १७
 परदर्शन । १८७
 परिवार । ५१, ५२
 पाचित्ति । २८, ५१
 पाराजिक । ३१, ३४, ५१
 पालित्रिपिटक । २१, २२४
 पाली-ग्रन्थ । १४

पासी । २४४	बोधि-सत्व । १५, २५६
पुस्तकवाद । १२१	बौद्ध । २१, १६२, २०५, २१०, २१६, २४७, २४९
पूर्वी । ११७	बौद्ध-जैन-ग्रन्थ । ११०
प्रतिज्ञा । २०८	बौद्ध-दर्शन । २०९
प्रथमकुलिक । १९	बौद्ध-धर्म । २०, ५०, ९४, १११, १२२, १२३, १२९, १३०, १३९, १५६, २०७, २०९, २६८
प्रमाण । २०९	बौद्ध-नैयायिक । २०८, २१०, २४६, २४८
प्रज्ञापारमिता । १५६	बौद्धन्याय । २०८, २१०
प्रहर (पहर) । १५३	बौद्ध-विहार । २५६
प्राचीन । २२५, २२६	बौद्ध-मूर्तियाँ । १५९
प्राचीन मुद्रा । १	बौद्ध-ब्राह्म । २५०
वज्र । १५२, १८२	बौद्ध-सम्प्रदाय । ७, १३७
वज्रडाकिनीनिष्पन्न । १७८	ब्राह्मण । २१, २०५, २०७, २२२, २२३, २३५, २३८, २४९
बढ़ई । २४३	ब्राह्मणकुल । १८५, १९६
बनिया । १४	ब्राह्मण-ग्रन्थ । २०५
वंशवृक्ष । १८०	ब्राह्मण-न्याय । २०७
बाबा । २५७	ब्राह्मण-वंश । १९३
विनय । ६४, ८७	भगवान् । ६२
विषय । १७	भड़भूजा । २४४
बिष्णु-मन्दिर । २५६	भारत-तत्त्वज्ञ । २४६
बुद्धकालीन । ३४, १०६	भारतमें मानव-विकास । ११३
बुद्ध-निर्वाण । १३८	
बुद्धप्रमुख । १०२	
बुद्ध-शासन । १०२	
बुद्धासन । ६३, ६५, ७१, ७७	
बोधि । ५७	
बोधि-प्राप्ति । ९०	

भावनाक्रम । १९९	रट्टिक । १२२
भाषा । २०६	रत्ती । १२, १०८, १०९
भाषा-विज्ञान । २४२	राजकुमार । १५३
भुक्ति । १७	राजपूत । १११, २६२, २६३
भूतावेशन । १५९	राजस्थानी । २३७
भोटिया-अनुवाद । २०२	रावण-मन्दोदरी-संवाद । २६४
भोटिया-कंजूर । १९८	रासधारी । ११७
भोटिया-ग्रन्थ । १६३	रिसर्च-सोसाइटी । २४७, २४८
भोटिया-भाषा । १५८, १६२, २०१	रेस्ता । २२९
भोटिया-साहित्य । १५६	लाल । २२६
मछुआ । २४३	लालबुझक्कड़ । १०८
मण्डल । १७	लोकोत्तर । ७१
मध्य । २७८	लोचवा । २०३
मन्त्र । २२२	लोहार । २४३
मलंग । ११७	लौरिया । ११८
मल्लाह । २४३	बढ़ई । २६२
महामारी । ११८	वत्स । १२
महाराष्ट्रीय । १६३	वाग । २१३
महावैयाकरण । २१४	वादविधान । २१०, २११
महाशून्यतावादी । १३०, १३२	वादविधि । २१०, २११
मिश्रित । २२९	वासनाक्रम । २००
मुसलमानी । २२९	विनिर्गत । १८०
मेखला । १८८	विशाल । १४
मेमन । २२७	विषनिर्वहण । १९९
मेहतर । २४३	वैश्नों । १६४
	शान्ति । १९

शास्ता । २३, २४, ६६, ५८, ६७, ६८, ७८, ६१, ६२, ६५, ६६	सूत्रपिटक । २०८ सोतापत्ति-संयुक्त । ७ सोदामिनी । १४० सोनार । २४३ सोसाइटी । १५५ संघाराम । ८०, २२१, १६६ संस्कृत । २१, १०६, २३४, २०६, २४८, २२३, २३८, २२५, २१०, २४६, २२०, २२६, १२६, २४५, १४७, २१७, २१६, २४६, २२२
शाह । २५६	संस्कृत-ग्रंथ । २४७
शिष्य । १४६, १८८	संस्कृतटीका । १८८
शून्यताकरुणदृष्टि । २०१	संहिताभाग । २०५
शून्यतादृष्टि । १७१	स्तम्भ । २१३
शून्यवाद । १३०, १६३	स्नान-कोष्ठक । ७७, ७८
शोकदृष्टि । २०२	स्थानमार्गफलमहामुद्रा । २०२
सनातन । २००	स्ववृत्ति । २४८
समाजतंत्र । १४२	स्वसिद्ध्युपदेश । २०२
समुच्चय । १४३	स्वार्थानुमान । २४८
समुद्र । २०४	हजाम । २४३, २५५
सर्वगुह्य । १४३	हलवाई । २४३
सर्वबुद्ध । १४३	हलवाहा । २४३
सर्वारदेश । १५४	हेतु । २०८
सहस्रक । ५७	हंजा । ११८
सागर । २०४	त्राटक । १५६
साधनमाला । १८६	
सान्ति । १६७	
सापेक्षतावाद । २१०	
सामान्य । २०६	
सामान्य-निराकरण २४८	
सुख-दुखद्वयपरित्यागदृष्टि १६६	
सूर्योदय । २६५	
सूक्ष्मयोग । २०४	

PRINTED BY M. N. PANDEY AT THE A. L. J. PRESS, ALLAHABAD.
PUBLISHED BY K. MITRA AT THE INDIAN PRESS LTD., ALLD.
